।। PEAMBLE – Chapter Two –" Contents of the Geeta Summerised " " Sankhay Yog"।।

In this chapter, Arjun reiterates to Shree Krishna that he is unable to cope with his current situation, where he has to kill his elders and teachers. He refuses to take part in such a battle and requests Shree Krishna to be his spiritual teacher and guide him on the proper path of action.

Then the Supreme Lord starts imparting divine knowledge to Arjun. He begins with the immortal-nature of the soul, which is eternal and imperishable. Death only destroys the physical body, but the soul continues its journey. Just as a person discards his old clothes and adorns new ones, the soul keeps changing bodies from one lifetime to another.

The first stage is discovery of the problem of Samsara. That I have the Samsara-disease consisting of ragaḥ, sokah and mohaḥ - and this has to be experienced and recognised. And even after recognising the problem, a person tries to solve the problem by himself or herself and generally what we do is: we do not understand the problem is with us and therefore we tend to blame the external factors for our problem And since we consider the external world is the cause of our problem, we try to adjust or change the external condition. A poor man thinks, that it is the poverty which is the cause. An unmarried person thinks that it is the 'unmarried'ness that is the making him unhappy. A married person thinks that it is the childless state that is the cause of the problem. Thus each one places the problem outside and goes on tampering and adjusting and after long struggle some rare intelligent ones discover the problem to be within themselves, not outside. From wrong decision coming to a doubt, is a great progress. Doubt is better or wrong decision is better, if you ask, I would say that doubt is better than wrong decision because, when a person has a doubt at least he will try to take the help of someone. Always our progress is like this; from wrong decision, to doubt, to knowledge, wrong decision to doubt to right decision.

The Lord then reminds Arjun that his social responsibility as a warrior is to fight for upholding righteousness. He explains that performing one's social duty is a virtuous act that can take him to the celestial abodes, while dereliction only leads to infamy and humiliation.

At first, Shree Krishna tries to motivate Arjun at a mundane level. Then he moves deeper and starts explaining to Arjun the Science of Work. He asks Arjun to perform his deeds without any attachment to their fruits. This science of working without desire for rewards is called the yog of the intellect or buddhi-yog. He further advises that the intellect should be used to control the desire for rewards from work. By working with such intent, the bondage-creating karmas get transformed into bondage-breaking karmas and a state beyond sorrows can be attained.

Arjun is curious to know more about those who are situated in divine consciousness. Shree Krishna, therefore, describes how persons who have attained transcendence are free from attachment, fear, and anger. They are undisturbed and equipoised in every situation. With their senses subdued, they keep their minds always absorbed in God. He also explains the progression of afflictions of the mind—such as greed, anger, lust, etc. and advises how these can be overcome.

(Preamble – Courtesy – "The songs of GOD – Swami Mukundanandan")

॥ प्रस्तावना – अध्याय- द्वितीय " सांख्य योग" ॥

दूसरे अध्याय का नाम सांख्ययोग है। इस मे शोकयुक्त शरणागत अर्जुन द्वारा अपने शोक की निवृत्ति का एकांतिक उपाय पूछे जाने पर आत्म तत्व का वर्णन किया है। इस में जीवन की दो प्राचीन संमानित परंपराओं का तर्कों द्वारा वर्णन आया है। अर्जुन को उस कृपण स्थिति में रोते देखकर कृष्ण ने उस का ध्यान दिलाया है कि इस प्रकार का क्लैव्य और हृदय की क्षुद्र दुर्बलता अर्जुन जैसे वीर के लिए उचित नहीं। व्यक्ति को अपने कर्तव्य धर्म का पालन करना चाहिये। इस के लिये निष्काम कर्मयोग की व्याख्या सांख्य योग के साथ की गई है।

वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन (छः दर्शन) अधिक प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। ये सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से विदित है। इस की स्थापना करने वाले मूल व्यक्ति कपिल कहे जाते हैं। 'सांख्य' का शाब्दिक अर्थ है - 'संख्या सम्बंधी' या विश्लेषण। इस की सबसे प्रमुख धारणा सृष्टि के प्रकृति-पुरुष से बनी होने की है, यहाँ प्रकृति (यानि पंचमहाभूतों से बनी) जड़ है और पुरुष (यानि जीवात्मा) चेतन। योग शास्त्रों के ऊर्जा स्रोत (ईडा-पिंगला), शाक्तों के शिव-शक्ति के सिद्धांत इसके समानान्तर दीखते हैं। सांख्य योग को निष्काम कर्म योग के साथ सामंजस्य करते हुए भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को उस के कर्तव्य धर्म का पालन क्यों करना चाहिए, बताते है।

कृष्ण ने अर्जुन की अब तक दी हुई सब युक्तियों को प्रज्ञावाद का झूठा रूप कहा। उन की युक्ति यह है कि प्रज्ञा दर्शन काल, कर्म और स्वभाव से होने वाले संसार की सब घटनाओं और स्थितियों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है। जीना और मरना, जन्म लेना और बढ़ना, विषयों का आना और जाना। सुख और दुख का अनुभव, ये तो संसार में होते ही हैं, इसी को प्राचीन आचार्य पर्यायवाद का नाम भी देते थे। काल की चक्रगति इन सब स्थितियों को लाती है और ले जाती है। जीवन के इस स्वभाव को जान लेने पर फिर शोक नहीं होता। यही भगवान का व्यंग्य है कि प्रज्ञा के दृष्टिकोण को मानते हुए भी अर्जुन इस प्रकार के मोह में क्यों पड़ गया है।

ग्याहरवें श्लोक से भगवान श्री कृष्ण का उपदेश मुस्करा कर शुरू करते है, ऊपर के दृष्टिकोण का एक आवश्यक अंग जीवन की नित्यता और शरीर की अनित्यता था। नित्य जीव के लिए शोक करना उतना ही व्यर्थ है जितना अनित्य शरीर को बचाने की चिंता। ये दोनों अपरिहार्य हैं। जन्म और मृत्यु बारी बारी से होते ही हैं, ऐसा समझकर शोक करना उचित नहीं है।

फिर एक दूसरा दृष्टिकोण स्वधर्म का है। जन्म से ही प्रकृति ने सबके लिए एक धर्म नियत कर दिया है। उसमें जीवन का मार्ग, इच्छाओं की परिधि, कर्म की शक्ति सभी कुछ आ जाता है। इससे निकल कर नहीं भागा जा सकता। कोई भागे भी तो प्रकृत्ति उसे फिर खींच लाती है।

इस प्रकार काल का परिवर्तन या परिमाण, जीव की नित्यता और अपना स्वधर्म या स्वभाव जिन युक्तियों से भगवान्, ने अर्जुन को समझाया है उसे उन्होंने सांख्य की बुद्धि कहा है। इस से आगे अर्जुन के प्रश्न न करने पर भी उन्होंने योगमार्ग की बुद्धि का भी वर्णन किया। यह बुद्धि कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के आग्रह की बुद्धि है इस में कर्म करते हुए कर्म के फल की आसक्ति से अपने को बचाना आवश्यक है। कर्मयोगी के लिए सब से बड़ा डर यही है कि वह फल की इच्छा के दल दल में फँस जाता है; उस से उसे बचना चाहिए। अर्जुन को समभाव का फल अनामय पद की प्राप्ति बतलाते हुए, उसे समबुद्धि युक्त कर्मयोगी होने को कहा है।

अर्जुन को संदेह हुआ कि क्या इस प्रकार की बुद्धि प्राप्त करना संभव है। व्यक्ति कर्म करे और फल न चाहे तो उस की क्या स्थिति होगी, यह एक व्यावहारिक शंका थी। उसने पूछा कि इस प्रकार का दृढ़ प्रज्ञावाला व्यक्ति जीवन का व्यवहार कैसे करता है? आना, जाना, खाना, पीना, कर्म करना, उनमें लिप्त होकर भी निर्लेप कैसे रहा जा सकता है? कृष्ण ने कितने ही प्रकार के बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा मन के संयम की व्याख्या की है। काम, क्रोध, भय, राग, द्वेष के द्वारा मन का सौम्यभाव बिगड़ जाता है और इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं। इंद्रियजय ही सबसे बड़ी आत्मजय है। बाहर से कोई विषयों को छोड़ भी दे तो भी भीतर का मन नहीं मानता। विषयों का स्वाद जब मन से जाता है, तभी मन प्रफुल्लित, शांत और सुखी होता है। समुद्र में नदियाँ आकर मिलती हैं पर वह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। ऐसे ही संसार में रहते हुए, उसके व्यवहारों को स्वीकारते हुए, अनेक कामनाओं का प्रवेश मन में होता रहता है। किंतु उन से जिस का मन अपनी मर्यादा नहीं खोता उसे ही शांति मिलती हैं। इसे प्राचीन अध्यात्म परिभाषा में गीता में ब्राह्मीस्थिति कहा है। यह जड़ प्रश्न कि जब तक फल की इच्छा न हो, व्यक्ति कर्म क्यों और किस लिये करे, गीता में विस्तृत रूप से बताया है, जिस का प्रथम उपदेश अध्याय दो से शुरू होता है।

हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि गीता में युद्ध भूमि महाभारत के विभिन्न पात्रों में गीता केवल अर्जुन ने सुनी, संजय ने सुन कर धृतराष्ट्र को सुनाई और बबरीक ने सुनी। इन सब के अतिरिक्त सभी अभिज्ञ दर्शक मात्र थे। समय, स्थान एवम विभिन्न पात्रों में यह ही पात्र गीता को क्यों जान सके, इस का विश्लेषण भी हम आगे पढ़ते है।

यह अध्याय वस्तुतः गीता है समस्त अध्यायों का सार भी है, जिस के प्रत्येक वचन और शब्दों को अर्जुन की शंका के माध्यम से आगे विस्तार से समझाया गया है।

गीता को त्रयषष्ठी अर्थात गीता के 18 अध्यायों को छह - छह अध्याय के तीन भागों में बांटा गया है जिस का आधार "तत् त्वम् असि" है। इस को विस्तार में आगे हम पढ़ेंगे। प्रथम छह अध्याय "त्वम" अर्थात जीव को भ्रम से मुक्त हो कर स्वयं को जानने के है। गीता वेदांत के सिद्धांतो का प्रतिपालन करते हुए, सांख्य के नियम को वेदांत के विरुद्ध नही है, स्वीकार करती है एवम वेदांत को भी परिकृषत करती है।

अतः अब आगे अध्ययन शुरू करते है।

।। हरि ॐ तत सत - प्रस्तावना।। अध्याय 2 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.1॥

संजय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

sañjaya uvāca,
taṁ tathā kṛpayāviṣṭam,
aśru-pūrṇākulekṣaṇam..I
viṣīdantam idaṁ vākyam,
uvāca madhusūdanaḥ..II

भावार्थ :

संजय ने कहा - इस प्रकार करुणा से अभिभूत, आँसुओं से भरे हुए व्याकुल नेत्रों वाले, शोकग्रस्त अर्जुन को देखकर मधुसूदन श्रीकृष्ण ने यह शब्द कहे॥ २॥

Meaning:

To him who was possessed with grief and pity, and having tear-filled, confused eyes, Madhusoodana spoke these words.

Explanation:

Sanjaya opens this chapter painting a vivid portrait of Arjuna's state: the world's mightiest warrior struck by grief and actually crying. The poetic phrase "confused eyes" probably alludes to Arjuna not being able to see right from wrong i.e. his viveka was suppressed. He tries his attachment by shastra and totally in grip of Rag, moh, fear and ego. We must know that compassion is a positive virtue of a jñāni, and attachment is a negative weakness of an ajñāni. And here Arjuna is an ajñāni and his weakness is expressed here and therefore the word Kṛpa should not be translated as compassion

but should be taken as attachment; weakness. By that weakness aviṣṭam, Arjuna was overpowered. If it is compassion it is something that I entertain. I am master, whereas attachment is something which I do not entertain but it overpowers me.

Moreover, this state has affected Arjuna's entire personality - physically because he had tears, emotionally because he was struck with grief and pity, and intellectually because he was confused about what to do and what not to do.

Shri Krishna is referred again here as Madhusoodana. This name can be interpreted a couple of ways. In the Puraanas, Lord Vishnu assumed the form of Hayagriva to kill the demon Madhu, hence he is known as Madhusoodana. This means that Sanjaya, through his divine vision, knew that Shri Krishna was connected to Lord Vishnu. Another interpretation of the name Madhusoodana is one who slays honey. Honey is a metaphor for the ego, which can be extremely sweet for someone who does not know all the nefarious things that it is capable of.

No one knows where compassion should be applied. Compassion for the dress of a drowning man is senseless. A man fallen in the ocean of nescience cannot be saved simply by rescuing his outward dress - the gross material body. One who does not know this and laments for the outward dress is called a sudra, or one who laments unnecessarily. Arjuna was a kshatriya, and this conduct was not expected from him. Lord Krishna, however, can dissipate the lamentation of the ignorant man, and for this purpose the Bhagavad-gita was sung by Him. This chapter instructs us in self-realization by an analytical study of the material body and the spirit soul, as explained by the supreme authority, Lord Sri Krishna. This realization is possible when one works without attachment to fruitive results and is situated in the fixed conception of the real self

।। हिंदी समीक्षा ।।

द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ संजय के कथन से होता है जिसमें वह चुने हुये शब्दों से अर्जुन की विषादमयी मानसिक स्थिति का स्पष्ट चित्रण करता है। अर्जुन का मन करुणा और विषाद से भर गया है। इस युक्ति से स्पष्ट होता है कि अर्जुन परिस्थितियों का स्वामी न होकर स्वयं उन का शिकार हो गया था। इस प्रकार एक दुर्बल व्यक्ति ही परिस्थितियों का शिकार बन कर जीवन संघर्ष के प्रत्येक अवसर पर असफल होता है। अर्जुन अपनी नैराश्यपूर्ण अवस्था में इस समय ऐसी ही बाह्य परिस्थितियों का शिकार हो गया था। अर्जुन की विषादावस्था का वर्णन करने के साथ ही संजय हमें यह भी संकेत करता है कि उस का आन्तरिक व्यक्तित्व भग्न हो गया था और उस के चरित्र में गहरी दरार पड़ गयी थी। अर्जुन में धर्म का बाना पहन कर जो कर्तव्य त्याग रूप बुराई आ गयी थी उस पर यह भगवद्वाणी सीधा आघात पहुँचाने वाली है।

अर्जुन का युद्ध से उपराम होने का जो निर्णय था उस में खलबली मचा देनेवाली है। अर्जुन को अपने दोष का ज्ञान करा कर अपने कल्याण की जिज्ञासा जाग्रत् करा देनेवाली है। इस गम्भीर अर्थवाली वाणी के प्रभाव से ही अर्जुन भगवान् का शिष्यत्व ग्रहण कर के उन के शरण हो जाते हैं ।

इस प्रकार करुणा और शोक से अभिभूत एवं अश्रुरहित रोदन करते हुये अर्जुन से मधुसूदन (मधु नामक असुर का वध करने वाले) भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित वाक्य कहा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अश्रुरहित रोदन को आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक उद्विग्नता की चरम स्थिति मानता है।

अर्जुन की इस स्थिति का वर्णन उस मुमुक्षा के पूर्व का वर्णन है जिस स्थिति में व्यक्ति अपने ज्ञान, कौशल, धैर्य एवम ऊर्जा में अपना अहम को आघात का अनुभव करता है और उस व्यक्ति से मार्गदर्शन की उम्मीद रखता है, जिसे वह अपना सर्वशः मानता है। जब तक यह पीड़ा का अनुभव न हो, गीता का ज्ञान एक आध्यात्मिक या किताबी ज्ञान ही होता है, जिस को पढ़ कर व्यक्ति अपने को और भी श्रेष्ठ मानने लगे जाता है।

व्यक्तिगत जीवन मे जब भी कोई व्यक्ति विषम परिस्थिति में अपने आप में नियंत्रण खो देने के बाद, सलाह लेने की चाहत रखता है तो उस से पहले वो अपने विचारों से अपने को असमर्थ मान कर नतीजे पर पहुच चुका होता है अतः कम - ज्यादा तो उस को ही सही बताने वाला व्यक्ति ही पसंद आता है और सही राह दिखाने वाला नही। यहां कृष्ण द्वारा सही राह दिखाना भी किसी चुनोती से कम नही।

किसी भी जीव की भ्रमित और हताश की यह अवस्था, गीता जैसे अध्यात्म के ज्ञान वास्तविक अवस्था है। कोई भी सुख, वैभव, सांसारिक भोग - विलास या सांसारिक व्यस्त दिनचर्या में गीता जैसे ग्रंथ को पढ़ने या सुनने को या तो तैयार नहीं होता और यदि पढ़ता भी है तो राग - द्वेष से युक्त हो कर, उस से सांसारिक लाभ लेने के लिए। किंतु जो ज्ञान को शुरू में ही आत्मसात करते हुए प्राप्त करते है, वह अर्जुन के समान अज्ञानी हो कर हताश भी नही होते।

द्वितीय अध्याय में सांख्य योग के श्रवण, मनन और निदिध्यासन को लक्ष्य करते हुये आत्मतत्व का वर्णन किया है। इस मे आत्म तत्व को अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, और अशोष्य तथा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य एवम निर्विकार बतलाकर शोक करने के अनुचित बतलाया गया है। आत्मतत्व का विस्तार से वर्णन होने के कारण इस को सांख्य योग के नाम से जाना जाता है।

।। हरि ॐ तत सत।। 2.01 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.2॥

श्रीभगवानुवाच,
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

śrī-bhagavān uvāca,
"kutas tvā kaśmalam idaṁ,
viṣame samupasthitam..I
anārya-juṣṭam asvargyam,
akīrti-karam arjuna"..II

भावार्थ :

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! इस विपरीत स्थिति पर तेरे मन में यह अज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ? न तो इसका जीवन के मूल्यों को जानने वाले मनुष्यों द्वारा आचरण किया गया है, और न ही इससे स्वर्ग की और न ही यश की प्राप्ति होती है॥ २॥

Meaning:

Shri Bhagavaan said:

From where has this weakness arisen, at this inconvenient time? It is not noble, nor will it get you to heaven, not will it earn you valour, O Arjuna.

Explanation:

So finally we get to hear Shri Krishna speak in the Gita. But what he said was not what Arjuna expected at all.

Here Krishna is not talking about physical impurity, but he is talking about mental impurity in the form of depression, dejection, extreme frustration. From where did such a dejection come to you. Because you never have been entertaining such thought. You are known for your courage, you are known for your warfare you would never be afraid of any one. During Virātaparva, when Uttarakumarā was so much terrified, not only you encouraged Uttarakumarā but also fought all the great warriors like Bhīṣma and others single handedly and won the war. Therefore you are not afraid of this Kaurava people, because you already have fought them. Even Karṇa you have defeated before and long before you fought even with Parameśvara, Lord Śiva himself and Śiva had congratulated and gave you even special asthram. Such a courageous person you are, now how you are crying?

Let's look at the kind of words Shri Krishna used. They were not words of kindness. They were not words of sympathy or support. They were tough, provocative words meant to shake Arjuna out of his deluded state of mind. They were intended to inform Arjuna that his assessment of this situation, and his plan of exiting from the situation, were totally incorrect and invalid.

Moreover, rule number one in communication skills training is "tailor the message to the audience". We see that here. Arjuna is a tough warrior, and tough talk is the only language he understands. An analogy would be a coach providing directions to a player in the middle of a football game. He would use tough talk, not sympathetic talk.

Shri Krishna also highlights another point here, that the timing of Arjuna's fall into sorrow is not appropriate. If he did want to express any emotion towards his kinsmen, he had a lot of time to do so prior to the battle. Once in battle, this behaviour was unwarranted.

Footnotes

1. In the rest of the Gita, Shri Krishna is addressed as "Bhagavaan". Bhagavaan means the one who is endowed with "bhagas" or divine attributes: wealth, virtue, glory, might, knowledge and dispassion.

Krishna and the Supreme Personality of Godhead are identical. Therefore Lord Krishna is referred to as Bhagavan throughout the Gita. Bhagavan is the ultimate in the Absolute Truth. Absolute Truth is realized in three phases of understanding, namely Brahman, or the impersonal all-pervasive spirit; Paramatma, or the localized aspect of the Supreme within the heart of all living entities; and Bhagavan, or the Supreme Personality of Godhead, Lord Krishna.

The Absolute Truth is realized in three phases of understanding by the knower of the Absolute Truth, and all of them are identical. Such phases of the Absolute Truth are expressed as Brahman, Paramatma, and Bhagavan.

2. The second verse is one long word composed of several shorter words. In Sanskrit, words are joined together using a system of rules called "sandhi". It is not necessary to learn the sandhi rules since most commentaries dissect long words into their components. We are fortunate to leverage their efforts here.

3. The verse Arya is used which means a person what is not to be done, he does not do. However tempting it is.However attractive it is. However, likeable it is. He does not bother, what is not to be done, should not to be done. Therefore, the one who does what is

proper and one who is not based on likes and dislikes. A cultured person and one who lives the life of discipline. Such a cultured and disciplined person is called Arya.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान् आश्चर्य प्रकट करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि ऐसे युद्ध के मौके पर तो तुम्हारे में शूरवीरता उत्साह आना चाहिये था पर इस बेमौके पर तुम्हारे में यह कायरता कहाँ से आ गयी।

आश्चर्य दो तरह से होता है अपने न जानने के कारण और दूसरे को चेताने के लिए। भगवान् का यहाँ जो आश्चर्यपूर्वक बोलना है वह केवल अर्जुन को चेताने के लिये ही है जिस से अर्जुन का ध्यान अपने कर्तव्य पर चला जाय।

भगवान् ने यहाँ अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् और अकीर्तिकरम् ऐसा क्रम देकर तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं

(1) जो विचारशील मनुष्य होते हैं वे केवल अपना कल्याण ही चाहते हैं। उनका ध्येय उद्देश्य केवल कल्याणका ही होता है।

(2) जो पुण्यात्मा मनुष्य होते हैं वे शुभकर्मों के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं। वे स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानकर उस की प्राप्ति का ही उद्देश्य रखते हैं।

(3) जो साधारण मनुष्य होते हैं वे संसार को ही आदर देते हैं। इसलिये वे संसार में अपनी कीर्ति चाहते हैं और उस कीर्ति को ही अपना ध्येय मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों पद देकर भगवान् अर्जुन को सावधान करते हैं कि तुम्हारा जो यह युद्ध न करने का निश्चय है यह विचारशील और पुण्यात्मा मनुष्यों के ध्येय कल्याण और स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला भी नहीं है तथा साधारण मनुष्योंके ध्येय कीर्ति को प्राप्त करानेवाला भी नहीं है। अतः मोह के कारण तुम्हारा युद्ध न करने का निश्चय बहुत ही तुच्छ है जो कि तुम्हारा पतन करनेवाला तुम्हें नरकोंमें ले जानेवाला और तुम्हारी अपकीर्ति करनेवाला होगा। भगवान द्वारा अर्जुन के मोह और अवसाद को समाप्त करने के लिए हम इसे प्राथमिक शॉक थेरेपी भी कह सकते है, जिस में अर्जुन जिसे अपने अवसाद और ज्ञान द्वारा अपने मोह और निर्णय को सही ठहराने का मिथ्या आत्मविश्वास हो रहा है और वह युद्ध नही करने का निर्णय ले रहा है, उस में उस को भगवान श्री कृष्ण के समर्थन की आशा है, को एक झटका लगता है।

कृष्ण को यहां से भगवान के नाम से संबोधित किया गया है जो सब जानता है वो ही ईश्वर है। जीवन मे जिस किसी भी व्यक्ति के बारे में अपने को उस की पूर्ण क्षमता पर विस्वास हो वो यदि समय और स्थान के हिसाब से विपरीत आचरण करे तो हमे आश्चर्य होता ही है। कृष्ण को यहां अर्जुन का व्यवहार युद्ध भूमि में धर्म एवम मोह, भय के युक्त तर्कों द्वारा निढाल हो युद्ध न करना आश्चर्य युक्त लगा और उन्होंने उस की अवस्था हो बिना ध्यान दिए उस के मूल चरित्र को सीधा ध्यान दिलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया। उस के मोह से उत्पन्न अज्ञान को आर्य के स्वभाव के विपरीत बताया। आर्य कोई जाति विशेष न हो कर उच्च मूल्य पर जीवन व्यापन करने वाले लोगो के लिए संबोधन था। जब तक व्यक्ति का स्वाभिमान जाग्रत न हो तो निराशाजनक अवस्था मे वो मूल ज्ञान या सलाह को भी नही समझने को तैयार होता है। जैसे पूर्ण रूप से विषाद या दुख नही होने से व्यक्ति सलाह लेने को या अन्य को सुनने को तैयार नही होता वैसे ही सलाह सुनने या मानने के लिए उस के स्वाभिमान या मूल चरित्र को जाग्रत होने जरूरी है। इसलिए कृष्ण भगवान ने बिना सहानुभूति दिखाए आश्चर्य प्रकट किए।

संवाद कब और कैसे करना चाहिए यह कला का ज्ञान भी इस गीता द्वारा बहुत सुंदर रूप में वर्णन किया गया है।

कृष्ण को भगवान कर के संबोधित किया है, भगवान का अर्थ है जो हेय गुणों से रहित समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐशवर्य, वीर्य, तेज से युक्त हो। अर्जुन का अर्थ भी सफेद अर्थात सात्विक गुणवाला है।

पूर्व अध्याय में अर्जुन को महान योद्धा की भांति युद्ध भूमि के निरीक्षण से शुरुवात करते हुए, पहले अपने स्वजनों को देख कर मोह की उत्पत्ति, फिर हारने के भय, फिर असमंजस की स्थिति बताते हुए, भावनात्मक रूप में अर्जुन को बोलते हुए बताया गया। इस के बात वह अपनी बात को ज्ञान से सही सिद्ध करने लगा। इस से यही कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान, व्यक्तित्व एवम भावनाएं विवेक से जाग्रत न हो तो व्यक्ति के मूल संस्कार उस के निर्णय को प्रभावित करते है। अतः यह

व्यक्ति जब तक पूर्णरूप से शरणागत न हो या अनिर्णय की स्थिति में न हो, इस को कोई भी बात समझना, तर्कसंगत नही होगा।

कृष्ण भगवान भी अपनी वार्ता इसी को परखने के लिये उस के व्यक्तित्व को कुदेर कर देख रहे है।

।। हरि ॐ तत सत।। 2.02।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.3॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

"klaibyaṁ mā sma gamaḥ pārtha,
naitat tvayy upapadyate..I
kṣudraṁ hṛdaya-daurbalyaṁ,
tyaktvottiṣṭha parantapa"..II

भावार्थ :

इसलिए हे अर्जुन! तू नपुंसकता को प्राप्त मत हो, यह तुझे शोभा नहीं देता है, हे शत्रुओं के दमनकर्ता! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो॥ ३॥

Meaning:

Don't yield to this effeminate behaviour, O Paartha, it is not worthy of you. Cast off this petty weakness of heart and arise, O scorcher of foes!

Explanation:

Here you find that even though Krishna addresses Arjuna, Krishna does not teach Gita wisdom. There is no Gita wisdom involved here. Neither karma yogah nor jnanam, nor nothing of that sort. Just some strong words to whip up Arjuna. Why Krishna does not teach Gita here? The reason is two-fold. First thing is Arjuna has not surrendered to Krishna and is also not prepared to listen. Only when the other person is ready to receive knowledge, I can give; because any transaction requires one receiver and one giver. I may be ready to give, but if the other person is not ready to receive, it is foolishness to teach or give advice.

You should give suggestions or advice only to a person who values your advice And preferably only to a person who asks for advice. Once you know that the other person does not ask and once you know that the other person does not have value for your words, kindly never give advice. If you give the advice. It is like crying in wilderness. It is a very important lesson we learn from Krishna, because he knows a lot, He can easily advice or teach Arjuna but still Krishna does not do that because unless Arjuna is ready to receive, He should not give.

Shri Krishna, an expert motivational speaker, used a "carrot and stick" approach towards Arjuna here. Let's first look at the stick or negative aspect, followed by the carrot or positive aspect.

Successfully treading the path of enlightenment requires high spirits and morale. One needs to be optimistic, enthusiastic, and energetic to overcome the negativities of the material mind, such as sloth, the rut of habit, ignorance, and attachment. Shree Krishna is a skillful teacher, and thus having reprimanded Arjun, He now enhances Arjun's internal strength to tackle the situation by encouraging him.

One of the worst things you can call a warrior is effeminate. Even young boys playing sports will get upset when someone says 'Hey! You throw the ball like a girl!". So imagine how Arjuna felt when Shri Krishna called him effeminate. Moreover, using the adjective weak- hearted to describe Arjuna was another jolt to the usually courageous and lion-hearted warrior.

But Shri Krishna also appealed to Arjuna's better qualities. By addressing him as "Paartha", he reminded Arjuna of his esteemed and respected mother Prithaa (Kunti), who happened to be the sister of Krishna's father Vasudeva. Therefore Arjuna had a blood relationship with Krishna. how she would feel if Arjuna shirked away from war. Shri Krishna also reminded Arjuna of his battle prowess, that he was called a "scorcher of foes".

Shree Krishna goes on to explain that the way he is feeling is neither moral duty nor true compassion; rather, it is lamentation and delusion. It has its roots in weakness of mind. If his behavior was truly based on wisdom and mercy, then he would experience neither confusion nor grief.

The final point in this shloka is the powerful Sanskrit word "utthishta", meaning arise, which evokes Swami Vivekananda's famous statement "Arise! Awake! and stop not till the goal is reached!'. Arjuna is instructed not just to arise physically, but also to lift his mind from the depths of delusion to a higher plane of intelligence.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान् श्रीकृष्ण जो अब तक मौन खड़े थे अब प्रभावशाली शब्दों द्वारा शोकाकुल अर्जुन की कटु र्भत्सना करते हैं।

माता पृथा(कुन्ती) के सन्देश की याद दिला कर अर्जुन के अन्तःकरण में क्षत्रियोचित वीरता का भाव जाग्रत् करने के लिये भगवान् अर्जुन को पार्थ नाम से सम्बोधित करते हैं। कुंती कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन होने से कृष्ण का अर्जुन से रिस्तेदारी भी है।

अर्जुन कायरता के कारण युद्ध करने में अधर्म और युद्ध न करने में धर्म मान रहे थे। अतः अर्जुन को चेताने के लिये भगवान् कहते हैं कि युद्ध न करना धर्म की बात नहीं है यह तो नपुंसकता (हिजड़ापन) है। इसलिये तुम इस नपुंसकता को छोड़ दो।

उन के प्रत्येक शब्द का आघात कृपाण के समान तीक्ष्ण है जो किसी भी व्यक्ति को परास्त करने के लिये पर्याप्त है। क्लैब्य का अर्थ है नपुंसकता। यहाँ इस शब्द से तात्पर्य मन की उस स्थिति से है जिस में व्यक्ति न तो एक पुरुष के समान परिस्थिति का सामना करने का साहस अपने में कर पाता है और न ही एक कोमल भावों वाली लज्जालु स्त्री के समान निराश होकर बैठा रह सकता है। आजकल की भाषा में किसी व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार में उस के मित्र आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह आदमी स्त्री है या पुरुष अर्जुन की भी स्थित राजदरबार के उन नपुंसक व्यक्तियों के समान हो रही थी जो देखने में पुरुष जैसे होकर स्त्री वेष धारण करते थे। पुरुष के समान बोलते लेकिन मन में स्त्री जैसे भावुक होते शरीर से समर्थ किन्तु मन से दुर्बल रहते थे।

अब तक श्रीकृष्ण मौन थे उनका गम्भीर मौन अर्थपूर्ण था। अर्जुन मोहावस्था में युद्ध न करने का निर्णय लेकर अपने पक्ष में अनेक तर्क भी प्रस्तुत कर रहा था। श्रीकृष्ण जानते थे कि पहले ऐसी स्थिति में अर्जुन का विरोध करना व्यर्थ था। परन्तु अब उसके नेत्रों में अश्रु देखकर वे समझ गये कि उसका संभ्रम अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है।

भक्ति परम्परा में यह सही ही विश्वास किया जाता है कि जब तक हम अपने को बुद्धिमान समझकर तर्क करते रहते हैं तब तक भगवान् पूर्णतया मौन धारण किये हुए अनसुना करते रहते हैं किन्तु ज्ञान के अहंकार को त्यागकर और भक्ति भाव से विह्वल होकर अश्रुपूरित नेत्रों से उनकी शरण में चले जाने पर करुणासागर भगवान् अपने भक्त को अज्ञान के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर मार्गदर्शन करने के लिये उसके पास बिना बुलाये तुरन्त पहुँचते हैं। इस भावनापूर्ण स्थिति में जीव को ईश्वर के मार्गदर्शन और सहायता की आवश्यकता होती है।

ईश्वर की कृपा को प्राप्त कर भक्त का अन्तकरण निर्मल होकर आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है जो स्वप्रकाशस्वरूप चैतन्य के साक्षात् अनुभव के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस स्वीकृत तथ्य के अनुसार तथा जो भक्तों का भी अनुभव है गीता में हम देखते हैं कि जैसे ही भगवान ने बोलना प्रारम्भ किया वैसे ही विद्युत के समान उनके प्रज्ज्वलित शब्द अर्जुन के मन पर पड़े जिससे वह अपनी गलत धारणाओं के कारण अत्यन्त लज्जित हुआ।

सहानुभूति के कोमल शब्द अर्जुन के निराश मन को उत्साहित नहीं कर सकते थे। अत व्यंग्य के अम्ल में डुबोये हुये तीक्ष्ण बाण के समान वचनों से अर्जुन को उत्तेजित करते हुये अंत में भगवान् कहते हैं उठो और कर्म करो।

उतिष्ठा शब्द का प्रयोग स्वामी विवेकानंद जी ने भी युवा शक्ति को जाग्रत करने के लिए था, " उठो और जागो"।

हे युवाओ उठो जागो और अपने लक्ष्य को प्राप्ति तक रुको नहीं" - स्वामी विवेकानन्द।

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।"

(कठोपनिषद्, अध्याय १, वल्ली ३, मंत्र १४) जिसका अर्थ कुछ यूं हैः उठो, जागो, और जानकार श्रेष्ठ पुरुषों के सान्निध्य में ज्ञान प्राप्त करो । विद्वान् मनीषी जनों का कहना है कि ज्ञान प्राप्ति का मार्ग उसी प्रकार दुर्गम है जिस प्रकार छुरे के पैना किये गये धार पर चलना ।

अपनी अस्मिता को खोए हुए नवयुवकों और सनातन धर्म की प्रतिष्ठा और गौरव पूर्ण इतिहास विस्मरण किए, सनातन धर्म के पुनरुत्थान के लिए विवेकानंद से पूर्व भी अनेक धर्म गुरुओं ने इसी मंत्र को प्रयोग किया था और आज भी इसी का प्रयोग कर के असंगठित और भ्रमित हिंदू को अनेक संस्थाएं संगठित करने का प्रयास कर रही है।

भगवान श्री कृष्ण सर्वगुण संपन्न प्रवक्ता और ज्ञानी है, उन्हे ज्ञात है किसे, कब, क्या और कहा बोलना है। इसलिए उन्हें अपने वचन का मूल्य भी मालूम है, गीता का ज्ञान युद्ध के जुटी लाखो को नही दे कर, सिर्फ शरणागत गए अर्जुन को दिया। अर्जुन साहसी, निपुण और ज्ञानी योद्धा है, उस का युद्ध भूमि में अवसाद अपने विरुद्ध स्वजनों को देख कर मोह और भय से हुआ और उसे वह अपने ज्ञान से यह सिद्ध करना चाहता है कि स्वजनों से युद्ध करना, शास्त्रों के विरुद्ध है। उसे भगवान श्री कृष्ण का समर्थन चाहिए, कोई ज्ञान नही क्योंकि युद्ध नही करने का निर्णय भी वह ले चुका है। इसलिए यदि इस स्थिति में उसे गीता या ज्ञान दिया जाए तो यह ठीक वैसा है जैसे कोई किसी से मना करने पर भी व्यवहार कर ले और फिर उस के कारण हुई अपनी तकलीफ बताए तो कोई उसे ज्ञान देगा तो उस ज्ञान को वह सर झुका कर सुन कर नकार देगा। जब तक कोई व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से शरणागत हो कर अपने से अधिक ज्ञानी की शरण में न जाए, उस को दिया ज्ञान, व्यर्थ का आलाप ही है। इसलिए निराश व्यक्ति को उस प्रथम उस की अस्मिता और सामर्थ्य जगा देने से ही उस के अवसाद का निराकरण किया जा सकता है। हर स्थान पर ज्ञान की बजाए, उत्साह के लिए प्रबंधन और प्रेरणा देने और भी तरीके प्रयोग किए जा सकते है।

व्यवहारिक जीवन मे किसी भी निराश व्यक्ति को ज्ञान देने से पहले उस के स्वाभिमान को जाग्रत करना पहले यह कह कर की यह तुन्हें शोभा नही देता फिर यह भी कहना कि ऐसा करना कितना निम्न स्तरीय है, उस के रिस्तेदारी को संबोधित करना, संवाद की सर्वोत्तम कला है। वास्तव में अपनी बात किस परिस्थिति में कब और कैसे रखना चाहिए कि सामने वाला उसे सम्मान पूर्वक सुने। भगवान श्री कृष्ण कुशल मार्गदर्शक एवम प्रवक्ता है, अर्जुन को निराश देख कर एक दम से प्रवचन

नही दे कर वह उस की निराशा की गहराई नाप रहे थे। अक्सर हम जब भी निराश होते है, तो यह भावना का क्षणिक प्रभाव होता है, जो समय, स्थान एवम प्रेम, अनुराग, मोह या भय से उत्पन्न होता है, इस का प्रभाव भी किसी द्वारा संबोधन से समाप्त भी हो जाता है। शादी में लड़की विदा होते समय रोती है किंतु गाड़ी में बैठ कर जाते ही चुप हो जाती है, विदा करने वाले भी विदा करते ही अपने काम मे लग जाते है। अतः किसी प्रवक्ता द्वारा किसी को ज्ञान देने से पूर्व श्रोता की वास्तविक मन स्थिति का ज्ञान होना भी जरूरी है। यह भी हम इस अध्ययन से जानेगे।

।। हरि ॐ तत सत ।।02.03।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.4॥

अर्जुन उवाच,
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

arjuna uvāca,
"kathaṁ bhīṣmam ahaṁ sańkhye,
droṇaṁ ca madhusūdana..I
iṣubhiḥ pratiyotsyāmi,
pūjārhāv ari-sūdana"..II

भावार्थ :

अर्जुन ने कहा - हे मधुसूदन! हे शत्रुहन्ता! मैं युद्धभूमि में किस प्रकार भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे पूज्यनीय व्यक्तियों पर बाण कैसे चलाऊँगा? ॥ ४॥

Meaning:

How can I, O Madhusoodana, fight against Bheeshma and Drona with arrows? Both of them are worthy of worship, O Arisoodhana!

Explanation:

Shri Krishna's words jolted Arjuna out of his panic attack and brought him to a state where he was ready to have a conversation.

Now seemed abominable to the noble-minded Arjun. If even arguing with these venerable elders was improper, then how could he ever think of attacking them with weapons? His statement thus implies, “O Krishna, please do not doubt my courage. I am prepared to fight. But from the perspective of moral duty, my duty is to respect my teachers and to show compassion to the sons of Dhritarashtra.”

Since Arjuna's arguments from the previous chapter remained unanswered, hence he continued to insist on relinquishing the war.

Respectable superiors like Bhishma the grandfather and Dronacarya the teacher are always worshipable. Even if they attack, they should not be counterattacked. It is general etiquette that

superiors are not to be offered even a verbal fight. Even if they are sometimes harsh in behavior, they should not be harshly treated. Then, how is it possible for Arjuna to counterattack them? Would Krishna ever attack His own grandfather, Ugrasena, or His teacher, Sandipani Muni? These were some of the arguments offered by Arjuna to Krishna.

Arjuna uses the words "slayer of the demon Madhu" and "slayer of foes" to address Shri Krishna, hinting that it is easy to slay evil individuals but difficult to slay one's kinsmen. The fundamental problem still remained unsolved, which is that Arjuna was still holding on to the familial and teacher-student relationships in the context of a battlefield. But on the Kaurava side, Bheeshma and Drona viewed Arjuna as an enemy and not as a student or a family member. They were not under any delusion like Arjuna was.

Can we relate this to an example from our lives? Think of a father and mother who have brought up their children, and like any responsible parents, guided them as to what was right and what was wrong. When the children grow into adults, they now possess the ability to think for themselves, and on occasion will consult their parents on decisions that they need help with.

But, similar to Arjuna's attachment to his elders, if the parents still hold on to the relationship that existed when their children were young, the children would not consider that to be appropriate behaviour and then this could impact the relationship with their parents.

।। हिंदी समीक्षा।।

अर्जुन पर भगवान श्री कृष्ण द्वारा उस की अस्मिता और शुरवीरता को चुनौती पूर्ण शब्दो द्वारा प्रहार करना सफल रहा और निराश हो कर बैठे अर्जुन ने अपने कृत्य की सफाई में बोलना शुरू किया। उस में भगवान मधुसूदन और अरिसुदन कहा। मधुसूदन और अरिसूदन ये दो सम्बोधन देने का तात्पर्य है कि आप दैत्यों को और शत्रुओं को मारनेवाले हैं अर्थात् जो दुष्ट स्वभाववाले अधर्ममय आचरण करनेवाले और दुनिया को कष्ट देनेवाले मधुकैटभ आदि दैत्य हैं उन को भी आप ने मारा है और जो बिना कारण द्वेष रखते हैं अनिष्ट करते हैं ऐसे शत्रुओं को भी आपने मारा है। परन्तु मेरे सामने तो पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण खड़े हैं जो आचरणों में सर्वथा श्रेष्ठ हैं मेरे पर अत्यधिक स्नेह रखनेवाले हैं और प्यारपूर्वक मेरे को शिक्षा देनेवाले हैं। ऐसे मेरे परम हितैषी दादाजी और विद्यागुरु को मैं कैसे मारूँ?

मैं कायरता के कारण युद्ध से विमुख नहीं हो रहा हूँ प्रत्युत धर्म को देखकर युद्ध से विमुख हो रहा हूँ परन्तु आप कह रहे हैं कि यह कायरता - यह नपुंसकता तुम्हारे में कहाँ से आ गयी? आप जरा सोचें कि मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँ? महाराज यह मेरी कायरता नहीं है। कायरता तो तब कही जाय जब मैं मरने से डरूँ। मैं मरने से नहीं डर रहा हूँ। प्रत्युत मारने से डर रहा हूँ।

संसार में दो ही तरह के सम्बन्ध मुख्य हैं जन्मसम्बन्ध और विद्यासम्बन्ध। जन्म के सम्बन्ध से तो पितामह भीष्म हमारे पूजनीय हैं। बचपन से ही मैं उन की गोद में पला हूँ। बचपन में जब मैं उन को पिताजी पिताजी कहता तब वे प्यार से कहते कि मैं तो तेरे पिता का भी पिता हूँ इस तरह वे मेरे पर बड़ा ही प्यार स्नेह रखते आये हैं। विद्या के सम्बन्ध से आचार्य द्रोण हमारे पूजनीय हैं। वे मेरे विद्यागुरु हैं। उन का मेरे पर इतना स्नेह है कि उन्होंने खास अपने पुत्र अश्वत्थामा को भी मेरे समान नहीं पढ़ाया। उन्होंने ब्रह्मास्त्र को चलाना तो दोनों को सिखाया पर ब्रह्मास्त्र का उपसंहार करना मेरे को ही सिखाया अपने पुत्र को नहीं। उन्होंने मेरे को यह वरदान भी दिया है कि मेरे शिष्यों में अस्त्रशस्त्र कला में तुम्हारे से बढ़ कर दूसरा कोई नहीं होगा। ऐसे पूजनीय पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तो वाणी से "रे तू" ऐसा कहना भी उन की हत्या करने के समान पाप है फिर मारने की इच्छा से उन के साथ बाणोंसे युद्ध करना कितने भारी पाप की बात है।

अर्जुन का लक्ष्य भ्रष्ट करने वाला कायरतापूर्ण तर्क किसी अविवेकी को ही उचित प्रतीत हो सकता है। अर्जुन के ये तर्क उस व्यक्ति के लिये अर्थशून्य हैं जो मन के संयम को न खोकर परिस्थिति को ठीक प्रकार से समझता है। उस के लिये ऐसी परिस्थितियाँ कोई समस्या नहीं उत्पन्न करतीं। वास्तव में देखा जाय तो यह युद्ध दो व्यक्तियों के मध्य वैयत्तिक वैमनस्य के

कारण नहीं हो रहा है। इस समय पाण्डव सैन्य से पृथक् अर्जुन का कोई अस्तित्व नहीं है और न ही भीष्म और द्रोण पृथक् अस्तित्व रखते हैं। वे कौरवों की सेना के ही अंग हैं। किन्हीं सिद्धान्तों के कारण ही ये दोनों सेनायें परस्पर युद्ध के लिये खड़ी हुई हैं। कौरव अधर्म की नीति को अपनाकर युद्ध के लिये तत्पर हैं तो दूसरी ओर पाण्डव हिन्दूशास्त्रों में प्रतिपादित धर्म नीति के लिये युद्धेक्षु हैं।

धर्म के श्रेष्ठ पक्ष होने तथा दोनों सेनाओं द्वारा लोकमत की अभिव्यक्ति के कारण अर्जुन को व्यक्तिगत आदर या अनादर अनुभव करने का कोई अधिकार नहीं था और न ही उसे यह अधिकार था कि अधर्म के पक्षधरों में से किसी व्यक्ति विशेष को सम्मान या असम्मान देने के लिये वह आग्रह करे। इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण परिस्थिति को न देखकर अर्जुन स्वयं को एक प्रथक् व्यक्ति समझता है और उसी अहंकारपूर्ण दृष्टिकोण से सम्पूर्ण परिस्थिति को देखता है। अर्जुन अपने आप को द्रोण के शिष्य और भीष्म के पौत्र के रूप में देखता है जबकि गुरु द्रोण और पितामह भीष्म भी अर्जुन को देख रहे थे परन्तु उन के मन में इस प्रकार का कोई भाव नहीं आता है क्याेंकि उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भूलकर अपना सम्पूर्ण तादात्म्य कौरव पक्ष के साथ स्थापित कर लिया था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्जुन का अहंकार और मिथ्या ज्ञान ही उस की मिथ्या धारणाओं और संभ्रम का कारण था।

आज भी यह यक्ष प्रश्न की भांति खड़ा है कि जिन्होंने हमे पाला एवम दीक्षा दी, जिन की क्षत्र छाया में हम बड़े हुए, उन के विरुद्ध हम कैसे लड़ सकते है, किन्तु यदि हम देखे कि वयस्क होने के बाद भी क्या हम बचपन जैसा व्यवहार की अपेक्षा अपने से बड़ो से रखते है। वयस्क व्यक्ति यदि नैतिक व्यवहार एवम आदर्श का पालन करता है तो उसे अपने से बड़ो के गलत आचरण पर विरोध करना ही होता है, उन के प्रति कोई दुर्भावना नही होते हुए भी वैचारिक लड़ाई तो लड़ी ही जाती है। यहां मत भेद रहता ही है।

गीता के इस भाग पर देश के कई प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ विचार विमर्श किया और यह पाया कि उन में कुछ, अर्जुन के तर्क को उचित और न्यायपूर्ण मानते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है जिस का निर्णय होना परम आवश्यक है और यह प्रश्न हर परिस्थिति में पृथक पृथक ही विचारणीय है। संभवत व्यास जी ने यह विचार किया हो कि भावी पीढ़ियों के दिशा निर्देश के लिये इस गुत्थी को हिन्दू तत्त्वज्ञान के द्वारा सुलझाया जाये। जितना ही अधिक होगा तादात्म्य, छोटे से "मैं" परिच्छिन्न अहंकार के साथ हमारी उतनी ही अधिक समस्यायें और संभ्रम हमारे जीवन में आयेंगे। जब यह अहं व्यापक होकर किसी सेना आदर्श राष्ट्र अथवा युग के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तो नैतिक दुर्बलता आदि का क्षय होने लगता है। पूर्ण नैतिक जीवन केवल वही व्यक्ति जी सकता है जिसने अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान लिया है जो एकमेव अद्वितीय सर्वव्यापी एवं समस्त नाम रूपों में व्याप्त है। आगे हम देखेंगे कि भगवान् श्रीकृष्ण इस सत्य का उपदेश अर्जुन के मानसिक रोग के निवारणार्थ उपचार के रूप में करते हैं।

हमे यह नहीं भूलना चाहिए, सेवा धर्म के चंद सिक्को की खातिर हमारे ही अपने लोग अपने कर्म को स्वार्थ में कर्तव्य धर्म बताते हुए, मुगल और अंग्रेजो के साथ अपने ही देशवासियों के विरुद्ध लड़े, उन की हत्याएं की (जलियांवाला बाग)। उन के विरुद्ध क्या देश भक्तों ने, बहादुर वीरांगनाओं में युद्ध या त्याग नही दिया। क्या भगत सिंह को फांसी देने वाला जल्लाद स्वजन नही था? महाराणा प्रताप ने भी अपने स्वजन मानसिंह के विरुद्ध युद्ध लड़ा ही है। पति यदि गलत रास्ते पर है तो पत्नी क्या उस को स्वीकार करती है? भ्रष्ट लोगो के साथ कितना भी बड़ा साधु - संत खड़ा हो, वह भी उस के लिए उतना ही दोषी है, जितना भ्रष्ट व्यक्ति। क्या राम - रहीम, रामपाल, आसाराम आदि महान हस्तियों के विरुद्ध जो लोग खड़े हुए, वे उन के पहले भक्त नहीं थे? क्या आज भी कोई सच्चा देशभक्त चीन - पाकिस्तान के साथ मिल कर आतंकवाद फैलाने वाले अपने घर के लोगो को स्वीकार कर सकता है? कर्तव्य धर्म और स्वार्थ, मोह और ममता, इस विषय पर आगे गीता में हम चर्चा अवश्य करेंगे, क्योंकि अर्जुन को कृष्ण मिले है तो समाधान भी मिलेगा ही।

।। हरि ॐ तत सत।। 2.04 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.5॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

"gurūn ahatvā hi mahānubhāvān,
śreyo bhoktuṁ bhaikṣyam apīha loke..I
hatvārtha-kāmāṁs tu gurūn ihaiva,
bhuñjīya bhogān rudhira-pradigdhān"..II

भावार्थ :

ऐसे महापुरुषों को जो कि मेरे गुरु हैं, इन्हे मार कर जीने की अपेक्षा मैं इस संसार में भिक्षा माँग कर खाना श्रेयस्कर समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों को मार कर भी तो इस संसार में खून से सने हुए सुख रूप भोग ही तो भोगने को मिलेंगे॥ ५॥

Meaning:

How can I, O I will not kill my revered teachers, because in this world, I would prefer to partake of food received through alms, rather than enjoy the blood-stained worldly pleasures derived from killing my teachers.

Explanation:

According to scriptural codes, a teacher who engages in an abominable action and has lost his sense of discrimination is fit to be abandoned. Bhishma and Drona were obliged to take the side of Duryodhana because of his financial assistance, although they should not have accepted such a position simply on financial considerations. Under the circumstances, they have lost the respectability of teachers. But Arjuna thinks that nevertheless they remain his superiors, and therefore to enjoy material profits after killing them would mean to enjoy spoils tainted with blood.

This verse and the next few verses may seem similar to the ones we saw in the last chapter, but upon closer inspection, there are subtle differences. Arjuna's panic attack has ended, and his emotional state has become somewhat normal. The change in Arjuna's attitude is also indicated by the change in meter - we notice that this shloka, and some of the forthcoming shlokas, have a longer meter.

What remains, though, is a tinge of the victim attitude, indicated in the statement that he would prefer begging to hurting his teachers. But what is positive here is that Arjuna is slowly opening up to logical reasoning, since he is no longer under the influence of the panic attack, and his agitations have subsided.

The lesson here is that we cannot have a sane conversation with someone in a charged emotional state, their mind has to calm down somewhat in order to create room for logic.

In this shloka, Arjuna is still holding on to the position that he will definitely not kill his kinsmen. But as his emotional state calms down, we shall see him begin to question that position.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे तीसरे श्लोकों में भगवान् के कहे हुए वचन अब अर्जुन के भीतर असर कर रहे हैं। इस से अर्जुन के मन में यह विचार आ रहा है कि भीष्म द्रोण आदि गुरुजनों को मारना धर्मयुक्त नहीं है ऐसा जानते हुए

भी भगवान् मुझे बिना किसी सन्देह के युद्ध के लिये आज्ञा दे रहे हैं तो कहीं न कहीं मेरी समझ में ही गलती है इसलिये अर्जुन अब पूर्वश्लोक की तरह उत्तेजित होकर नहीं बोलते प्रत्युत कुछ ढिलाई से बोलते हैं।

अब अर्जुन संस्कारो एवम शास्त्र ज्ञान के अनिश्चय की स्थिति में पहले अपने पक्ष को सामने रखते हुए कहते हैं कि अगर मैं भीष्म द्रोण आदि पूज्यजनों के साथ युद्ध नहीं करूँगा तो दुर्योधन भी अकेला मेरे साथ युद्ध नहीं करेगा। इस तरह युद्ध न होने से मेरे को राज्य नहीं मिलेगा जिस से मेरे को दुःख पाना पड़ेगा। मेरा जीवन निर्वाह भी कठिनता से होगा। यहाँ तक कि क्षत्रिय के लिये निषिद्ध जो भिक्षावृत्ति है उस को ही जीवन निर्वाह के लिये ग्रहण करना पड़ सकता है। परन्तु गुरुजनों एवम परिवार के श्रेष्ठ एवम आदरणीय जनों को मारने की अपेक्षा मैं उस कष्टदायक भिक्षावृत्तिको भी ग्रहण करना श्रेष्ठ मानता हूँ।

शास्त्रो में गुरु, माता-पिता को ईश्वर का ही स्वरूप माना गया है, अतः उन पर वार करना, किसी भी व्यक्ति है लिये, असम्भव सा है। अर्जुन की दुविधा का कारण भी यही है कि भगवान श्री कृष्ण इस तथ्य को जानते है, तो भी उसे युद्ध नही करने के लताड़ रहे है, इस का क्या कारण है।

अत्यन्त उच्च प्रतीत होने वाले परन्तु वास्तव में अर्थशून्य तर्क अर्जुन पुन प्रस्तुत करता है क्योंकि स्वयं को न समझने के कारण वह अपनी समस्या को भी नहीं समझ पाया है।

एक बार यदि हम परिस्थिति का त्रुटिपूर्ण आकलन कर लेते हैं तो भावनाओं के कारण हमारी बुद्धि पर आवरण पड़ जाता है और तब हम भी जीवन में अर्जुन के समान व्यवहार करने लगते हैं। इसका स्पष्ट संकेत व्यास जी द्वारा इस घटना में किये गये विस्तृत वर्णन में देखने को मिलता है।

भीष्म एवम द्रोण यद्यपि पूजनीय है, किन्तु आज वो दुर्योधन के पक्ष में अन्याय को समझते हुए भी खड़े है। यह लोग अपनी अपनी विवशता से बंधे है, इन के विरुद्ध अर्जुन का भावनात्मक होने से ज्यादा व्यवहारिक होना ज्यादा आवश्यक है। इसे भी हम गीता में आगे समझेंगे।

कृष्ण अर्जुन के यह संवाद अभी कुछ श्लोक में और चलेंगे किन्तु अब अर्जुन भावना से दूर कृष्ण के युद्ध करने की आज्ञा के प्रत्युत्तर के तौर पर दे रहा है उस की मानसिक स्थिति पहले से ज्यादा मजबूत हो कर तर्क युक्त हो रही है, भावना में किसी भी व्यक्ति को समझाने की अपेक्षा स्थिर मानसिकता में समझाना सही होता है, कृष्ण एक कुशल सलाहकार होने के नाते इस बात को बखूबी से जानते है।

अर्जुन का तर्क हम अपने जीवन मे भी उपयोग करते है। मनुष्य का ज्ञान दिये के प्रकाश की भांति होता है, उसे दिये के प्रकाश के बाहर अंधेरा दिखता है और वो अपने को दिये के प्रकाश में ज्ञानी एवम सुरक्षित समझता है। हमारी अपनी अवधारणा, संस्कार, पढ़ाई, धर्म एवम अनुभव दिये के प्रकाश की भांति हम को सीमित कर देती है एवम हम सूर्य के प्रकाश को कभी नही जान पाते। दिये तले अंधेरा की भांति हम अज्ञान की इस रोशनी में सुरक्षित रह कर अर्जुन की भांति तर्क करते रहते है। " तम सो मा ज्योतिर्गमय" का पालन नही करते। याद रखने की बात यही है ज्ञान की परिधि नही है किंतु हमारे अपने ज्ञान की परिधि होने से हम अपने अज्ञान में ज्ञान से वंचित रह जाते है।

कृष्ण द्वारा आगे अर्जुन को उसी ज्ञान रूपी अज्ञान से बाहर निकाल कर ज्ञान के लिए तैयार करना, एक सही गुरु का कार्य है इस लिए कृष्ण की " कृष्णम वन्दे जगतगुरु" भी कहा जाता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.05 ।।

।। अर्जुन का मोह और आज का पारिवारिक परिवेश ॥ विशेष 2.05।।

अर्जुन का यह ज्वलंत प्रश्न है कि जिन लोगों के साथ अपना बचपन गुजरा हो, जिन्होंने हमारा लालन पालन किया हो, जिन से हमारी शिक्षा दीक्षा हुई हो एवम जिन की क्षत्र छाया में हम पले बढ़े हो। जो आज भी हमारी निगाहों में सम्मानीय हो, क्या उन के विरुद्ध युद्ध करना या झगड़ा लड़ना सम्भव है?

यहाँ युद्ध दुर्योधन की जिद्द, लालसा एवम शत्रुता के विरुद्ध है, जिस में पूरा सहयोग दुर्योधन के पिता धृष्टराष्ट्र का है, जो स्वयं में दोषी है। दुर्योधन ने पांडवो की हत्या के कई विफल प्रयास भी किये थे एवम उन की पत्नी के सम्मान को नीचता की हद्द तक तार तार करने का प्रयास किया था। इस के बावजूद पांडव समझौते को तैयार थे एवम अपने बनवास एवम अज्ञातवास के बदले सिर्फ पांच गांव तक लेने को तैयार थे।

परिवार में जब कोई सदस्य किसी के बहकावे में आ कर नीच हरकत करने लग जाये जो परिवार की मान मर्यादा के लिये भी भविष्य में सही नही हो, तो मात्र परिवार के अन्य सदस्यों के प्रेम एवम आदर को ध्यान में रखते हुए, कदम पीछे ले लेने से भी, परिवार की संस्कृति, शिक्षा दीक्षा एवम संस्कार ले लिए उत्तम नही है। अपरोक्ष रूप में हम भी अन्याय के साथ खड़े हो जाते है, जिस में हमारे ही परिवार के लोग अन्याय करने वाले के साथ है, जो न केवल हमें, बल्कि हमारी आने वाली पीढ़ी के लिये हानिप्रद है।

अर्जुन की व्यथा दुर्योधन के प्रति नही थी, यह व्यथा दुर्योधन को साथ दे रहे, पितामह भीष्म एवम ब्राह्मण गुरु द्रोणाचार्य के प्रति थी। परिवार में जब भाई भाई में विवाद हो, तो सलट भी ले, किन्तु जब माँ, बाप या घर का बुजुर्ग किसी के पक्ष में आ जाये तो क्या करे? यह व्यथा आज भी उतनी प्रासंगिक है, जितना युद्ध के समय अर्जुन को था। क्योंकि अर्जुन राजसी गुणों से युक्त सामाजिक व्यक्ति ही था।

परिवार में विरोध गलत सिंद्धान्तों एवम आचरण पर यदि है तो व्यक्ति की भावनाएं भी व्यवहारिक एवम न्यायपूर्ण होनी चाहिये। यदि हम सिर्फ भावनाओ के साथ कर्म करते है और विवेकपूर्ण नही चलते तो हमारे कदम कभी भी गलत रास्ते मे मुड़ जाएंगे। आप की लड़की किसी गलत व्यक्ति के साथ भावनाओ में बहक गई, आप के मां - बाप लड़की को समर्थन दे रहे है तो आप विवेक से काम करेंगे या उन की भावनाओ में? किंतु यह भी विचारणीय है मां - बाप, पत्नी/पति - बच्चे, भाई जेड बहन से परिवार बनता है,इन के व्यक्ति जीवन पर्यंत कर्म करता है, इन के विरुद्ध लड़ कर कैसे वह सुखी रह सकता है?

आज अनेक लोग राजनीतिक पार्टियों से अपने अपने स्वार्थ से जुड़ जाते है, इसलिये वह अपने नेता के गलत आचरण का विरोध स्वार्थ हित में नही करते। उन का समर्थन ही उन के नेताओ को गलत काम मे अधिक से अधिक जाने के लिये प्रेरित करता है। दुर्योधन के आचरण में गलत सलाहकारों को जानते हुए भी भीष्म द्वारा सख्त कदम नही उठाना, क्या इस का सबूत नही है कि प्रतिज्ञाबद्ध भीष्म अपने को अपनी प्रतिज्ञा के कारण कमजोर मान कर अधर्म का साथ देने को मजबूर है।

जब युद्ध सिंद्धान्तों के विरुद्ध हो, न कि किसी व्यक्ति विशेष के विरूद्ध। जिंदगी में जिस सत्य एवम न्याय का पाठ हम पढ़ते आये है, क्या हम उस व्यक्ति विशेष के लिये त्याग देंगे, जिस के साथ मोह, कर्तव्य एवम विवशता से हमारे सगे साथ दे रहे है। धर्म, सत्य एवम न्याय में यदि हमारे अंदर भी मोह, लोभ एवम कामना कुछ पाने की है तो अवश्य हम अपने अधिकार के लिये लड़ रहे, और हम में उस व्यक्ति में बहुत अंतर नही है, किन्तु यदि अपना अहम, कामना, आसक्ति, त्याग कर हम अन्यायी के विरुद्ध खड़े है तो फिर हमारे सामने खड़े सभी व्यक्ति में अपना-पराया, मोह, ममता आसक्ति आदि कुछ भी नही होना चाहिए।

घर घर मे सम्पति विवाद को गीता के उपदेश के समानार्थक, तब तक नही समझ सकते, जब तक हमे परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान न हो, अर्थात हमारा विवेक पूर्ण रूप से जागृत न हो। किन्तु जब घर का बच्चा गलत रास्ते मे हो तो क्या उसे सही रास्ते मे लाने के हम तटस्थ रह सकते है? अनजाने में या जानबूझ कर भी यदि बड़े बुजुर्ग, सम्मानित घर के लोग अपनी विवशता में यदि गलत व्यक्ति को साथ दे रहे है, तो भी हमे धर्म एवम सत्य का मार्ग ही अपनाना चाहिये।

अर्जुन ने यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के उपरांत विजय मिल भी जाए तो राज्य को भोगने की उस की अभिलाषा नही है। फिर युद्ध किसलिए? घर, समाज, देश में विरोध करने वालो का वास्तविक कारण उन का अपना छुपा हुआ स्वार्थ है। इसलिए पारिवारिक या समाज झगड़ो में जब भाई या समाज के लोग अपने अपने स्वार्थ के लिए लड़ते है और अपने तो ज्ञानी या त्यागी या निस्वार्थ बताते है, तो वे अपनी तामसी वृति का ही परिचय देते है।

अन्याय का विरोध करना, हमारी शिक्षा, संस्कार एवम कर्तव्य धर्म है, जिसे हमे निष्काम हो कर कर्मयोगी की भांति कैसे पूर्ण करना चाहिए, भगवान श्री कृष्ण द्वारा गीता के ज्ञान से समझेंगे। अतः अध्याय एक से अब तक पृष्ठभूमि तैयार हो गई है।

इंतजार अर्जुन के शरणागत होने का है, क्योंकि जब तक कोई सुनने, समझने और सुनाने वाले के प्रति सम्मान नही रखता, उसे कोई ज्ञान भी नही दे सकता। गीता भी पढ़ने के लिए जिज्ञासा या इच्छा होनी ही चाहिए। अर्जुन भी अवसाद से निकल कर सत्य - असत्य को जानने के लिए अब शरणागत होने को अगले कुछ श्लोकों में तैयार है। इसलिए अब आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.05 ।।

।। Bheeshma - abnormal personalty ।। Geeta 2.5 ।।

Special mention needs to be made of Bheeshma. According to the Śhrīmad Bhāgavatam (verse 9.22.19), he was a great devotee of Shree Krishna. He was a master of his senses, and an icon of chivalry and generosity. He was a knower of the Absolute Truth, and had vowed to always speak the truth in his life. Even death could only come to him when he chose to accept it. For various reasons, he is enumerated amongst the twelve great personalities, or Mahājans, mentioned in the Bhāgavatam:

swayambhūr nāradaḥ śhambhuḥ kumāraḥ kapilo manuḥ

prahlādo janako bhīṣhmo balir vaiyāsakir vayam (6.3.20) [v1]

“These are the twelve great knowers of religious principles—the first-born Brahma, Sage Narad, Lord Shiv, the four Kumars, Bhagavan Kapil (son of Devahuti), Svayambhuva Manu, Prahlad Maharaj, Janak Maharaj, Grandfather Bheeshma, Bali Maharaj, Shukadev Muni, and Ved Vyas.”

Hence, Bheeshma was an enlightened soul, whose actions could never be against the principles of dharma. However, his profound character was beyond mundane reasoning. Even though he fought on the side of the Kauravas, he said to Yudhishthir (the eldest of the Pandava brothers) before the war, “I am obliged to combat on the side of unrighteousness, but I give you the boon that you will be victorious.” Bheeshma knew that the righteous Pandavas, who had the Supreme Lord Shree Krishna on their side, could never lose. By taking the side of adharma (unrighteousness), he showed that even the biggest forces on heaven and earth could not make unholiness win in this holy war. He thus offered the biggest sacrifice of laying down his life, to assist the divine pastimes of Lord Krishna.

Shree Krishna was well aware of Bheeshma’s deep devotion toward him, despite his fighting from the side of the Kauravas. That is why he upheld Bheeshma’s vow by breaking his own. Bheeshma resolved on a particular day during the war, that before sunset on the next day, he would either kill Arjun, the foremost Pandava warrior, or else to save him, Shree Krishna would have to break his own vow of not lifting weapons in the battle of Mahabharat. Poets describe the vow that Bheeshma made:

āju jo harihiṅ na śhastra gahāūñ,

tau lājahuñ gaṅgā jananī ko śhāntanu suta na kahāūñ

(Saint Tulsidas) [v2]

“If I do not make the Supreme Lord Shree Krishna lift weapons, then I will shame my mother Ganga, and I am not the son of King Shantanu.” Bheeshma fought so valiantly that Arjun’s chariot was

shattered, and he was stranded on the ground. At that stage, Shree Krishna lifted the chariot wheel and came forward to prevent Bheeshma from killing Arjun. Bheeshma saw the Lord with the chariot wheel in his hand as a weapon, and broke into a big smile. He understood that Bhaktavatsala Bhagavān (God who gives pleasure to his devotees) had broken his own vow to honor the vow of his devotee.

In fact, Bheeshma's devotion to Lord Krishna had a very rasik (full of sweetness) flavor to it. He used to meditate on Shree Krishna's pastimes in Vrindavan. There, in the evening when the Lord would return to the village after grazing the cows in the forest, the dust raised from the hooves of the cows would deck his charming face, increasing its beauty and sweetness. During the battle of Mahabharat, the dust raised from the hooves of the horses too added to Shree Krishna's beauty, and he loved having darśhan (divine vision) of his Lord there.

In the last stage of his life, as he lay for six months on the bed of arrows, he meditated on that very vision of God, offering the following prayer to Him:

yudhi turaga-rajo-vidhūmra-viṣhvak-kacha-lulita-śhramavāry-alaṅkṛitāsye

mama niśhita-śharair vibhidyamāna-tvachi vilasat-kavache 'stu kṛiṣhṇa ātmā

(Bhāgavatam 1.9.34) [v3]

"On the battlefield, Lord Krishna's flowing hair was covered with white dust raised by the hooves of the horses, and his face was covered with sweat beads because of his physical effort in driving the chariot. These were like ornaments enhancing the beauty of my Lord; and the wounds dealt by my sharp arrows further intensified the decorations. Let my mind meditate unto that Shree Krishna."

Lord Krishna reciprocated his loving devotion by himself coming to meet Bheeshma on his deathbed of arrows, and with the darśhan of God in front of him, Bheeshma, the great mahājan, left his body, of his own volition.

II Hari om tat sat II Geeta 2.5 II

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.6॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

"na caitad vidmaḥ kataran no garīyo,
yad vā jayema yadi vā no jayeyuḥ..I
yān eva hatvā na jijīviṣāmas,
te 'vasthitāḥ pramukhe dhārtarāṣṭrāḥ"..II

भावार्थ :

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना श्रेष्ठ है या युद्ध न करना, और यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या वे ही जीतेंगे, धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करके हम जीना भी नहीं चाहते, फ़िर भी वे हमारे सामने युद्ध-भूमि में खड़े हैं॥ ६॥

Meaning:

To conquer them, or to be conquered by them, I do not know which is the better of the two. Dhritraashtra's kinsmen, after killing whom we certainly don't wish to live, stand here before us.

Explanation:

Here we see Arjuna move away from the all-or-nothing position of "I will not fight". His hardline position morphed into a dilemma. And the dilemma was as follows: "Should I or should I not fight? I do not know which is correct." This question is the fundamental question that provoked the message of the Gita that we shall see very shortly.

And not only that, even if we are sure that it is a Dharma Yuddham and we take to fighting, the problem is , we are not even sure whether we will defeat them or they will defeat us. So to avoid that suppose give up this battle and go to the forest, then what will be the problem? Again I will have conflict. (This shore is better than that shore, and vice versa). If I go to the forest, I may think that I have shirked my duty and therefore I think I am not objective enough to analyse the situation. I am so much involved in the situation that my mind has lost all the objectivity and therefore I think I need the help of you. Therefore, the first line he says, न चैतद्वद na caitadvidmaḥ. Krishna was waiting anxiously for this word. na caitadvidmaḥ, I do not know what to do. Na vidmaḥ, (there also some ego is there ~ he is using 'we' do not know ~ he should have used the singular 'I'. ~ it is arrogance.) In the ignorance also the ego is sticking. "We do not know". What we do not know? Which one of the course of these two actions is better for us.

We face questions like this all the time - this was alluded to in an earlier post. A boss may like an employee, but the business will tank if he does not fire the employee. Should he fire him or not? Questions like this arise all the time. Life is nothing but a series of actions driven by the day-to-day decisions we take.

Here's another important point. Arjuna's teachers and elders were revered and respected by him, they gave him pleasure, but here they were in front of him, ready to kill him. Similarly, behind every pleasure-filled person, experience or object we encounter in life lies its negative aspect. This is an interesting insight about life. It is rare to find people, experiences or objects that give us pleasure all of the time. Here's an example that resonates with us: a new house that was a source of joy in the beginning, will cause grief when one has to pay for its maintenance.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ इन दोनों बातों का निर्णय मैं नहीं कर पा रहा हूँ। कारण कि आप की दृष्टि में तो युद्ध करना ही श्रेष्ठ है पर मेरी दृष्टि में गुरुजनों को मारना पाप होने के कारण युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। इन दोनों पक्षों को सामने रखने पर मेरे लिये कौन सा पक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ है यह मैं नहीं जान पा रहा हूँ। इस प्रकार उपर्युक्त पदों में अर्जुन के भीतर भगवान् का पक्ष और अपना पक्ष दोनों समकक्ष हो गये हैं।

इस के पूर्व के दो श्लोक निसन्देह अर्जुन के मन की व्याकुलता और भ्रमित स्थिति का संकेत करते हैं। इस श्लोक में बताया जा रहा है कि अर्जुन के मन के संभ्रम का प्रभाव उस की विवेक बुद्धि पर भी पड़ा है। शत्रुओं की सेना को देखकर उसके

मन में एक समस्या उत्पन्न हुई जिसके समाधान के लिये उसे बौद्धिक विवेक शक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता थी परन्तु अहंकार और युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में अत्यधिक चिन्तातुर होने के कारण उसका मन बुद्धि से वियुक्त हो चुका था। इस कारण ही अर्जुन के मन और बुद्धि के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो गयी थी।

किसी कार्यालय के कुशल लिपिक की भांति हमारा मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भिन्नभिन्न विषयों को ग्रहण कर उन को एक व्यवस्थित रूप में बुद्धि के समक्ष निर्णय के लिये प्रस्तुत करता है। बुद्धि अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर निर्णय देती है जिसे मन कमेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत में व्यक्त करता है। हमारी जाग्रत अवस्था के प्रत्येक क्षण यह समस्त कार्यकलाप होता रहता है।

जहाँ पर इन उपाधियों का कार्य सुचारु रूप से एक संगठित दल अथवा व्यक्तियों की भाँति नहीं होता वहाँ वह व्यक्ति अन्दर से अस्तव्यस्त हो जाता है और जीवन में आने वाली परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने में सक्षम नहीं हो पाता। जब ज्ञान के द्वारा पुन मन और बुद्धि में संयोजन आ जाता है तब वही व्यक्ति कुशलतापूर्वक अपना कार्य करने में समर्थ हो जाता है।

अर्जुन की निर्णयात्मिका शक्ति पर बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव नहीं था बल्कि अपनी मानसिक विह्वलता के कारण वह अपने आप को कोई निर्णय देने में असमर्थ पा रहा था। वह यह नहीं निश्चय कर पा रहा था कि युद्ध में उसे विजयी होना चाहिये अथवा कौरवों को जिताना चाहिये। व्यास जी यहाँ दर्शाते हैं कि इस मोह का प्रभाव न केवल अर्जुन के मन पर बल्कि उसकी बुद्धि पर भी पड़ा था।

अर्जुन की युद्ध भूमि में बदलते विचारों को यदि अध्ययन करें तो पहले भावनाओ वश बुद्धि द्वारा स्थापित तर्कों के माध्यम से जो व्यक्ति निढाल हो रथ पर युद्ध नही करूँगा कह कर बैठ गया था वो पुनः अपने निर्णय पर विचार करने को तैयार हो गया किन्तु अभी भी वो निर्णय करने की क्षमता में नही आया। युद्ध करने या न करने की दुविधा यह बतलाती है, कि अर्जुन अब किसी निर्णय पर पहुंचना चाहता है। व्यक्ति जब तक सुनने को तैयार नही, कोई भी ज्ञान उस को नही दिया जा सकता। अर्जुन का निर्णय भावनाओ पर आधारित था, उस को विवेकपूर्ण बनाने की आवश्यकता थी। विवेक ज्ञान, भावना और अनुभव के मंथन से लिया समय के अनुकूल निर्णय होता है।

निर्णय नही कर पाने की स्थिति कई बार हम भी अनुभव करते है और इस को कैसे करे, भगवान द्वारा अर्जुन को दिये उपदेश में आगे हम भी जानेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।।2.06॥

।। अर्जुन की दुविधा का कारण और धर्मशास्त्र ॥ विशेष - 2.6 (1) ।।

गीता में अर्जुन की स्थिति परस्पर विरुद्ध दो धर्मो के नीति शास्त्र में फस जाने से हो गई। कमजोर एवम असहाय व्यक्ति ऐसी स्थिति में पलायन कर लेते है किन्तु जो व्यक्ति समाज मे उच्च स्थान रखते है एवम समाज की रक्षा एवम दायित्व संभालने में समर्थ है, उन्हें ऐसे समय मे सांसारिक कर्तव्यों का पालन नीति एवम धर्म के अनुकूल करना पड़ता है।

मनु ने नीति धर्म के पांच नियम बताए है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काया, वाचा और मन की शुद्धता एवम इन्द्रिय निग्रह। अहिंसा के नियम में अहिंसा परमो धर्म कहते हुए भी मनु कहते है कि ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को मार ही डालना चाहिये जो चाहे गुरु, वृद्ध, बालक या विद्वान ब्राह्मण ही क्यों न हो। अहिंसा में क्षमा, दया, शांति आदि के गुण हमेशा नही चल सकते।

इसी प्रकार ही सत्य के सिवा और कोई धर्म नही है; सत्य ही ब्रह्म है। किंतु चोर, उच्चको, या गलत नियम पर चलने वालों के साथ सत्य बोल कर किसी को हानि पहुचाना भी अधर्म है। सत्य वही सही है जिस में जन कल्याण हो। किसी की रक्षा के क्या हम थोड़ा से झूठ नही बोल सकते।

व्यापार में या वकालत में यदि सत्य ही बोला जाए तो क्या यह अधर्म होगा। वर्ण व्यवस्था के अनुसार कर्म करना कर्तव्य धर्म है, क्योंकि क्षत्रिय होने से युध्द करना अर्जुन का धर्म है। सेना के जवान युद्ध मे शत्रु पक्ष के लोगो को मारते है, वह हत्या या पाप नही हो सकता।

सत्य में वचन एवम प्रतिज्ञा भी शामिल है, भीष्म की प्रतिज्ञा से कौन वाकिफ नही है। कर्ण द्वारा चेतावनी देने के बाद भी अपने वचन एवम कीर्ति के कवच-कुंडल के दान देने की कथा को कौन भुला सकता है। किंतु ऐसी प्रतिज्ञा जब किसी दुष्ट व्यक्ति का हथियार बन जाये तो इसे धर्म नही कह सकते।

अपनी धर्म के प्रति प्रतिबद्धता के कारण भीष्म, द्रोण एवम कर्ण को अधर्म अर्थात दुर्योधन के साथ देना पड़ा। किंतु यह तीनों में प्रत्येक योद्धा जो पूरा युद्ध जीतने की क्षमता रखते थे, लोकसंग्रह हेतु अपनी मृत्यु को स्वीकार करते है और अपनी शक्तियों को क्षय करते है। भीष्म ने अपनी मृत्यु का उपाय बता कर, कर्ण ने कवच कुंडल का त्याग और पांडवों को जीवन दान दे कर और द्रोण ने युद्धिष्ठर के झूठ पर हथियार छोड़ कर अपनी मृत्यु को स्वीकार किया। ज्ञानी पुरुष प्रतिबद्धता के नियम को भी अपनी विशेषता बना कर प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। अब जो इन की आलोचना करते है, क्या इन से श्रेष्ठ चरित्र का परिचय अपने में दे सकते है ?

अगला धर्म अस्तेय का है अर्थात ऐसा कार्य न करना जिस से जीवन को कलंक लग जाये। कीर्ति की रक्षा के शूरवीर प्राण भी दे सकते है किंतु जब भूख से जीवन नष्ट हो रहा हो, तो जीवन की रक्षा करना भी धर्म है।

अंतिम नियम मन की शुद्धि है। मनु कहते है कि धर्म का पालन करो तो धर्म आप को उन्नति के मार्ग पर ले जाएगा किन्तु धर्म का पालन नही करने से धर्म आप का नाश भी कर देगा। काम, क्रोध एवम लोभ यह नरक के द्वार हैं जिन्हें त्याग देना चाहिए किन्तु जब आप को अन्याय पर क्रोध नही आता तो आप पुरुष कहलाने के लायक भी नही।

"क्षमा वीरस्य भूषणम" किंतु यही क्षमा दुष्ट प्रवृति के मोहम्मद गौरी को पृथ्वीराज चौहान द्वारा बार बार क्षमा करने से भारी सिद्ध हुई।

युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न भिन्न है। ऐसा कोई आचरण नही जो हमेशा सब लोगो के लिये समान हित कारी हो। जब आचारों में भिन्नता हो, भीष्म पितामह के तारतम्य अथवा सार-असार की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

इसलिये नीति, कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म के विवेचन को नीतिशास्त्र में अत्यंत गहन अर्थो में विचार कर के धर्म या व्यवहारिक नीति के धर्म को स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि धर्म को अत्यंत सूक्ष्म माना गया है।

अर्जुन सांसारिक कर्म एवम वैराग्य के मध्य अनिश्चितता की स्थिति में आ गया है। वैराग्य अर्थात सांख्य योग जिस में सभी कर्मो का त्याग कर के वन में प्रस्थान किया जाए या युद्ध भूमि में अपने प्राकृतिक गुण क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए, कर्म किया जाए। मनुष्य होना, अच्छे कर्मों का फल है क्योंकि परमात्मा का ज्ञान, ध्यान एवम अनुभव परमात्मा के इस श्रेष्ठ स्वरूप में ही सम्भव है। इसलिये धर्म, सत्य एवम नीतिशास्त्र का सूक्ष्म अन्वेषण चिंतन एवम मनन इसी स्वरुप में कर सकते है।

धर्म के सूक्ष्म अर्थ को हम नीति शास्त्र, सत्य, धर्म के अंतर्गत कर्मयोग को हम भगवान श्री कृष्ण से गीता में विस्तृत रूप में पढ़ेंगे।किन्तु विशेष की इस कड़ी को आगे बढ़ाते हुए, कर्म का एक विश्लेषण गीता के ज्ञान शुरू करने से पूर्व हम लोग जान ले तो गीता को समझने में आसानी रहेगी।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.06 (1)।।

।। कर्म – योग – धर्म विश्लेषण और अर्जुन की दुविधा ॥ विशेष 2.6 (2) ।।

किसी को ज्ञान प्राप्ति के लिये लग्न एवम जिज्ञासा न हो तो उसे ज्ञान नही दे सकते, वह अपने आप मे संतुष्ट प्राणी होता है। अर्जुन की समस्या यही थी कि क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करना उस का धर्म है किंतु धर्म शास्त्र के अनुसार पितृ वध, गुरु वध या बंधुओ का वध करना अनुचित एवम पाप था। इस समय भगवान श्री कृष्ण द्वारा उसे युद्ध के लिए कहना कुछ तो अर्थ रखता ही होगा।

क्या करना चाहिये एवम क्या नही करना चाहिये यह किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति लगभग हर व्यक्ति के जीवन मे आती है, जिस में वह कर्म एवम अकर्म के चक्कर मे पड़ कर निष्क्रिय हो जाता है।

विचारवान पुरुषो को ऐसे समय ऐसी युक्ति अर्थात योग का उपयोग करना चाहिये जिस से सामाजिक कर्म भी हो जाये और कर्माचरण करने वाला किसी पाप के बंधन में भी नही फसे। इसी योग युक्त कर्म को कर्मयोग शास्त्र कहा गया है।

कर्म कृ धातु से बना है जिस का अर्थ है करना, व्यापार या हलचल। सभी धर्मों में ईश्वर की प्राप्ति के कुछ कुछ कर्म करना ही पड़ता है। यज्ञ याग के जो कुछ भी कर्म करे उस का फल उस के यज्ञ में छुपा है, इसलिये यज्ञ के धन धन्य के संग्रह या अर्थ उपार्जन का पृथक कोई फल नही होता। किंतु किसी भी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिये किया कर्म पुरुषार्थ कहलाता है। यज्ञार्थ कर्म ब्रह्म ज्ञान को जानने वाले के अतिरिक्त फल के बंधन से बांधते है। मनु में चतुर्वर्ण आश्रम के अनुसार जो भी कर्म बताये गए है वह भी गुण धर्म के कर्म है, जो बन्धन में बांधते है। इन्हें स्मार्त कर्म या स्मार्त यज्ञ है।इस के अतिरिक्त पुराणों में भी कुछ कर्मो का उल्लेख है जिन्हें पुराणिक कर्म कहते है।

कर्मो का विभाजन नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेद किये गए है। नित्य कर्म शरीर की आवश्यकता जैसे स्नान, संध्या आदि है। नैमित्तिक कर्म किसी कर्म किसी कारण करना पड़े जैसे प्रायश्चित एवम काम्य कर्म जिसे कामनाओ की पूर्ति के लिये किया जाए। इस के अतिरिक्त निषिद्ध कर्म है जैसे हत्या, चोरी आदि।

शास्त्रो में जिन कर्मो की आज्ञा है उसे विहित कर्म कहते है और जिस की आज्ञा नही है उसे निषिद्ध कर्म कहते है।

शास्त्रो के अनुसार यज्ञ याग के कर्म करने चाहिये किन्तु चतुर्वर्ण व्यवस्था में अपने अपने कर्म करने से कोई परहेज नही होना चाहिये।

प्रत्येक प्रकार के कर्मो एवम उन्हें करने की आज्ञा शास्त्रो में दी गई है, इस हिसाब से अर्जुन को क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना चाहिये, किन्तु क्षत्रिय सिर्फ युद्ध ही करे, ऐसा नही कहा गया है। विभिन्न धर्म शास्त्रों के परस्पर विरोधी कर्म बताने से मनुष्य दुविधा में फस ही जाता है।

इसी प्रकार योग का सामान्य अर्थ हम प्रणायामदिक साधनों से चित्त वृतियों या इन्द्रियों का निरोध करना ही अर्थ लेते है। योग 'युज' धातु से बना है, जिस का अर्थ होता है जोड़ना, मिलाप, एकता, अव्यवस्थित को एकत्र करना आदि। इस के अतिरिक्त उपाय, साधन, युक्ति या कर्म को भी योग कहते है। गीता में योग का अर्थ पतंजलि योग के अतिरिक्त अर्थो में भी आया है। जैसे द्रव्य उपार्जन अर्थात धन कमाने की विभिन्न युक्तियां में मेहनत, भीख मांगना, जालसाजी, चोरी, ऋण लेना आदि मिल कर द्रव्य उपार्जन योग बनता है।

भगवान श्री कृष्ण ने योग की स्वतंत्र व्याख्या "कर्म कौशलम" अर्थात कर्म करने की विशेष युक्ति को योग कहा। जब धर्म शास्त्र एवम कर्म शास्त्र में दुविधा हो तो विहित कर्म बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर या शांत रख कर आसक्ति को छोड़ दे, परंतु कर्मो को छोड़ देने के आग्रह में न पड़ते हुए योगस्थ हो कर कर्मो का आचरण करे। इसी प्रकार समत्वबुद्धि से ज्ञानी लोगो को कैसे रहना चाहिये, बताया गया।

श्री शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के कर्मो का त्याग करना चाहिये, वहां गीता हमे सिखाती है कि कर्मो को बिना त्यागे किस प्रकार ज्ञान मार्ग को प्राप्त कर सके। सांख्य योग से कर्म के योग की युक्ति ही कर्मयोग है।

योग का एक अर्थ युक्ति अर्थात किसी कार्य को पूर्ण करने का मार्ग खोजना। भगवान श्री कृष्ण ने योग से अर्जुन को अपने कर्तव्य धर्म का पालन करना सिखाया। इसलिए गीता को योग शास्त्र कहा गया।

इसी प्रकार धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिस का अर्थ है धारण करना है। जिस कर्म को प्रजा धारण करती है, जो सब के हित मे है एवम जिस से सभी एक सूत्र में बंधे है वही धर्म है। अतः कोई भी कार्य जो समाज की संरचना न खराब करें, वही धर्म है।

अतः जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी आध्यत्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है, वही शुभ कर्म है। यहां से हो कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म एवम कार्य- अकार्य का प्रादुर्भाव हुआ।

अर्जुन की समस्या पर कर्म के करने या न करने अर्थात आज के जीवन मे कर्म को त्याग न कर के किस प्रकार करना चाहिये, इस का विस्तृत स्वरूप गीता में हम पढ़ेंगे।

इस कड़ी में हमे अब यही विचार करना है कि कर्म करने वाले कुछ न कुछ उद्देश्य सामने रख कर ही कर्म करता है, इस पर विचार की प्राथमिक रूप रेखा स्पष्ट कर देने से जब गीता के ज्ञान पर भगवान श्री कृष्ण को पढ़ेंगे, तो अपने प्रश्न का उत्तर भी मिल जाएगा।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.06 (2) ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.7॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

"kārpaṇya-doṣopahata-svabhāvaḥ,
pṛcchāmi tvāṁ dharma-sammūḍha-cetāḥ..I
yac chreyaḥ syān niścitaṁ brūhi tan me,
śiṣyas te 'haṁ śādhi māṁ tvāṁ prapannam"..II

भावार्थ :

कृपण और दुर्बल स्वभाव के कारण अपने कर्तव्य के विषय में मोहित हुआ, मैं आपसे पूछता हूँ कि वह साधन जो मेरे लिये श्रेयस्कर हो, उसे निश्चित करके कहिए, अब मैं आपका शिष्य हूँ, और आपके शरणागत हूँ, कृपया मुझे उपदेश दीजिये॥ ७॥

Meaning:

This error of cowardice has damaged my personality, and my deluded intellect cannot decide what is right or wrong. Tell me what is definitely appropriate. Guide me, I am your disciple and take refuge in you.

Explanation:

This verse is a milestone in the Gita, because it reflects a change in Arjuna's thinking.

By nature's own way the complete system of material activities is a source of perplexity for everyone. In every step there is perplexity, and therefore it behooves one to approach a bona fide spiritual master who can give one proper guidance for executing the purpose of life. All Vedic literatures advise us to approach a bona fide spiritual master to get free from the perplexities of life, which happen without our desire. They are like a forest fire that somehow blazes without being set

by anyone. Similarly, the world situation is such' that perplexities of life automatically appear, without our wanting such confusion. No one wants fire, and yet it takes place, and we become perplexed. The Vedic wisdom therefore advises that in order to solve the perplexities of life and to understand the science of the solution, one must approach a spiritual master who is in the disciplic succession. A person with a bona fide spiritual master is supposed to know everything. One should not, therefore, remain in material perplexities but should approach a spiritual master. This is the purport of this verse.

Arjuna finally gained enough of his reasoning capacity back to realize that his mind had been thrown off balance by cowardice, which he rightly labelled as an error. In the first chapter, he could never have come to this conclusion because he was experiencing an extremely negative emotional state. He was able to put a degree of objectivity towards his thinking, some space between his thoughts and himself. And in doing so, he realized that his intellect was totally deluded.

In addition, he also realized that because of this cowardice, he was in no position to make a decision about whether to fight or not. This was a high-stakes decision, a decision that could impact the course of history. He quickly needed to find some other way of coming to a decision. The only way he could do so is to give up any pretense of knowing what was the correct thing to do, and give that decision to a trusted friend and guide, Shri Krishna.

For many of us, especially in youth, we never feel the need to look beyond the material world. All our goals and aspirations are material, and once we achieve a certain goal, we strive for a higher goal. And as long as everything goes our way, we are fine. But sooner or later, something happens in our lives that shakes things up and makes us think whether we are missing something. We all have to pass through a earth-shattering stage in life that makes us question things, and makes us revisit our assumptions and beliefs. That stage was indicated in chapter 1 of the Gita, when Arjuna saw his entire world and belief system collapse.

When this shattering happens, we have two choices. We can continue operating in the material world in the same way as we did before. We can also use this collapse to search for something higher. The choice made by a seeker is indicated by the words "Tell me what is definitely appropriate. Guide me, I am your disciple and take refuge in you" uttered by Arjuna.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कुटुम्बियोंको देखते हुए युद्ध नहीं करना चाहिये और क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध करना चाहिये इन दो बातों को लेकर अर्जुन धर्मसंकट में पड़ गये। उन की बुद्धि धर्म का निर्णय करने में कुण्ठित हो गयी। ऐसा होने पर अभी इस समय मेरे लिये खास कर्तव्य क्या है मेरा धर्म क्या है इसका निर्णय कराने के लिये वे भगवान् से पूछते हैं।

अर्जुन के हृदय में हलचल (विषाद) होने से और अब यहाँ अपने कल्याण की बात पूछने से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जिस स्थिति में स्थित है उसी स्थिति में वह संतोष करता रहता है तो उसके भीतर अपने असली उद्देश्य की जागृति नहीं होती। वास्तविक उद्देश्य कल्याण की जागृति तभी होती है जब मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हो जाय उस स्थिति में रह न सके।

इस श्लोक में अर्जुनने चार बातें कहीं हैं (1) कार्पण्यदोषो ॥. धर्मसम्मूढचेताः (2) यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (3) शिष्यस्तेऽहम् (4) शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। इन में से पहली बात में अर्जुन धर्म के विषय में पूछते हैं दूसरी बात में अपने कल्याण के लिये प्रार्थना करते हैं तीसरी बात में शिष्य बन जाते हैं और चौथी बात में शरणागत हो जाते हैं। अब इन चारों बातों पर विचार किया जाय तो पहली बात में मनुष्य जिस से पूछता है वह कहने में अथवा न कहने में स्वतन्त्र होता है। दूसरी

में जिस से प्रार्थना करता है उस के लिये कहना कर्तव्य हो जाता है। तीसरी में जिन का शिष्य बन जाता है उन गुरु पर शिष्य को कल्याण का मार्ग बताने का विशेष दायित्व आ जाता है। चौथी में जिस के शरणागत हो जाता है उस शरण्य को शरणागत का उद्धार करना ही पड़ता है अर्थात् उस के उद्धार का उद्योग स्वयं शरण्य को करना पड़ता है।

हम पहले ही धर्म शब्द का अर्थ देख चुके हैं। किसी वस्तु का वह गुण जिसके कारण उस वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है उस वस्तु का धर्म कहलाता है। हिन्दू दर्शन मानव धर्म पर बल देता है जिसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुद्ध दैवी स्वरूप के अनुरूप रहना चाहिये और उसका यह प्रयत्न होना चाहिये कि वह स्वस्वरूप की महत्ता बनाये रखे और पशुवत जीवन व्यतीत न करे।

यहाँ अर्जुन शिष्यभाव से भगवान् की शरण में जाता है जो यह संकेत करता है कि अब वह उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गया है और वह भगवान् के उपदेश का पालन करेगा। एक और बात का भी संकेत मिलता है कि यदि अज्ञानवश अर्जुन अनेक बार अपनी शंका प्रस्तुत करते हुए प्रश्न पूछता है तो उसका समाधान भगवान् को सहानुभूति और धैर्यपूर्वक करना होगा। सम्पूर्ण गीता में हम अनेक स्थानों पर अर्जुन को कृष्णोपदेश के मध्य शंकायें प्रकट करते हुये देखते हैं परन्तु कहीं पर भी श्रीकृष्ण को धैर्य खोते नहीं देखते। इतना ही नहीं अर्जुन द्वारा प्रत्येक प्रश्न पूछे जाने पर वे और अधिक उत्साहित होकर युद्धभूमि में उसका उत्तर देते हैं।

अर्जुन की यह स्थिति गीता का उपदेश के लिए मील का पत्थर है क्योंकि अब अर्जुन को क्या करना चाहिए हम भगवान के मुख से सुनेंगे, एवम अर्जुन को भी अच्छे शिष्य की भांति अपनी पूरी शंका का समाधान के लिए प्रश्न करते हुए भी जानेंगे। कोई कार्य करे या न करे इस का निर्णय लेना सब से कठिन होता है। पारिवारिक, सामाजिक एवम व्यावसायिक जीवन मे हमारा समय अक्सर इन उलझन में ज्यादा रहता है क्योंकि कोई बात एक दृष्टिकोण से सही हो तो विपरीत दृष्टिकोण से गलत भी लगती है। क्या कभी सोचा है कि सुबह उठ कर पहले व्यायाम करें कि whatsapp, दोनों में क्या जरूरी है। आज बच्चे के स्कूल जाना है या फिर आफिस की महत्वपूर्ण फ़ाइल को कम्पलीट करना है।

पूर्वश्लोक में अर्जुन भगवान् के शरणागत तो हो जाते हैं पर उन के मन में आता है कि भगवान् का तो युद्ध कराने का ही भाव है पर मैं युद्ध करना अपने लिये धर्मयुक्त नहीं मानता हूँ। उन्होंने जैसे पहले उत्तिष्ठ कहकर युद्ध के लिये आज्ञा दी ऐसे ही वे अब भी युद्ध करने की आज्ञा दे देंगे। दूसरी बात शायद मैं अपने हृदय के भावों को भगवान् के सामने पूरी तरह नहीं रख पाया हूँ। इन बातों को लेकर अर्जुन आगे के श्लोक में युद्ध न करने के पक्ष में अपने हृदय की अवस्था का स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 07 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.8॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्रमृद्धं-राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

"na hi prapaśyāmi mamāpanudyād,
yac chokam ucchoṣaṇam indriyāṇām..I
avāpya bhūmāv asapatnam ṛddhaṁ,
rājyaṁ surāṇām api cādhipatyam"..II

भावार्थ :

मुझे ऎसा कोई साधन नही दिखता जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके, स्वर्ग में धनधान्य-सम्पन्न देवताओं के सर्वोच्च इन्द्र-पद और पृथ्वी पर निष्कंटक राज्य को प्राप्त करके भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ॥ ८॥

Meaning:

Even if I should obtain prosperity and unrivalled kingship on earth, or even supremacy over the gods, I do not see that it will drive away this sorrow that withers my senses.

Explanation:

Arjuna realized that the sorrow caused as a result of his attachment to his kinsmen was not ordinary. It burrowed deep into his personality and lodged itself in it. This deep rooted sorrow had the effect of totally throwing his senses off track. He was not able to see or hear clearly. This sorrow was not going to be easy to remove.

When we are swamped in misery, the intellect keeps analyzing the cause of misery, and when it is able to think no further, then dejection sets in. Since Arjun's problems are looming bigger than his feeble intellectual abilities, his material knowledge is insufficient in saving him from the ocean of grief that he finds himself in. Having accepted Shree Krishna as his Guru, Arjun now pours out his heart to him, to reveal his pitiable state.

In this verse, Arjuna also came to the conclusion that what he was looking for could not be found in the material world. If this were the case, he would have been happy with wealth, riches and thrones. But here we see that even supremacy over the gods was something that would not satisfy him.

Arjuna reached a point where the only thing that mattered for him was the ultimate cure for sorrow, a cure that was permanent, and not some material thing like wealth that would diminish sorrow temporarily. And this ultimate cure that he was seeking was a higher level of discrimination or viveka that would lead him to liberation.

The problems of material existence birth, old age, disease and death - cannot be counteracted by accumulation of wealth and economic development. In many parts of the world there are states which are replete with all facilities of life, which are full of wealth and economically developed, yet the problems of material existence are still present. They are seeking peace in different ways, but they can achieve real happiness only if they consult Krishna, or the Bhagavad-gita and Srimad-Bhagavatam - which constitute the science of Krishna - through the bona fide representative of Krishna, the man in Krishna consciousness.

If economic development and material comforts could drive away one's lamentations for family, social, national or international inebrieties, then Arjuna would not have said that even an unrivaled kingdom on earth or supremacy like that of the demigods in the heavenly planets would be unable to drive away his lamentations. He sought, therefore, refuge in Krishna consciousness, and that is the right path for peace and harmony. Economic development or supremacy over the world can be finished at any moment by the cataclysms of material nature. Even elevation into a higher planetary situation, as men are now seeking on the moon planet, can also be finished at one stroke. The Bhagavad-gita confirms this: kshine punye martya-lokam visanti. "When the results of pious activities are finished, one falls down again from the peak of happiness to the lowest status of life." Many politicians of the world have fallen down in that way. Such downfalls only constitute more causes for lamentation.

Therefore, if we want to curb lamentation for good, then we have to take shelter of Krishna, as Arjuna is seeking to do. So Arjuna asked Krishna to solve his problem definitely, and that is the way of Krishna consciousness.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन सोचते हैं कि भगवान् ऐसा समझते होंगे कि अर्जुन युद्ध करेगा तो उस की विजय होगी और विजय होने पर उस को राज्य मिल जायगा जिस से उस के चिन्ताशोक मिट जायँगे और संतोष हो जायगा। परन्तु शोक के कारण मेरी ऐसी दशा हो गयी है कि विजय होने पर भी मेरा शोक दूर हो जाय ऐसी बात मैं नहीं देखता।

भौतिकवाद में सुख की एक सीमा होती है, संसार की संपदा और सांसारिक ज्ञान से सुख तो मिल सकता है किंतु स्थायी नही होता। ऐसे ही जिस का मन और आत्मा बैचेन हो तो शारीरिक सुख उस की पूर्ति नहीं कर सकता। अर्जुन की बौद्धिक क्षमता उस के कष्ट का निवारण एवम उस के लिए निर्णय लेने के अपूर्ण हो रही थी, इसलिए उस ने भगवान श्री कृष्ण की शरण को स्वीकार किया। इसलिए वह अपनी व्यथा को भी स्पष्ट अपने निर्णय के साथ करना चाहता है।

यहाँ अर्जुन संकेत करता है कि उसे तत्काल ही मार्गदर्शन की आवश्यकता है जिसके अभाव में उसे आन्तरिक पीड़ा को सहन करना पड़ रहा है। वह पीड़ा के कारण को व्यक्त करने में असमर्थ अनुभव कर रहा है। यह शोक उसकी ज्ञानेन्द्रियों पर भी प्रभाव डाल रहा है। वह न ठीक से देख सकता है और न सुन सकता है।

किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिये यह स्वाभाविक है कि किसी समस्या के आने पर उस को हल करने के लिये अधीर हो उठेे। वह समस्या को शीघ्र हल करके शांति प्राप्त करना चाहता है। बेचारे अर्जुन ने अपनी बुद्धि द्वारा समस्या हल करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह सफल नहीं हो सका। जैसा कि उसके शब्दों से स्पष्ट है कि अब उसका दुख भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये नहीं है क्योंकि वह स्वयं कहता है कि समस्त पृथ्वी अथवा स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने से भी उसका दुख निवृत्त नहीं हो सकता है।

अब अर्जुन की स्थिति एक तीव्र मुमुक्षु के समान है जो मर्त्य जीवन की समस्त सीमाओं और बन्धनों से मुक्त हो जाने के लिये अधीर हो उठा है। अब आवश्यकता है केवल एक प्रामाणिक विचार की जो स्वयं भगवान हृषीकेश उसे गीता के दिव्य काव्य में देते हैं।

गीता के दूसरे अध्याय के 11वे श्लोक से हम भगवान श्री कृष्ण को सुनेंगे जो सांख्य योग पर आधारित है। इस में मुख्य बाते भी अलग से ग्रुप में 11 श्लोक से पूर्व देंगे जिस से गीता को अच्छे से समझ सके। अर्जुन का मोह कृष्ण की शरण मे शिष्यत्व लेने से भंग नही हुआ वो युद्ध करने की आज्ञा नही चाहता, वो चाहता है कि जिस कारण से युद्ध मे उस का मुख सूखने लगा और वो गांडीव छोड़ कर निढाल हो कर रथ पर बैठ गया उस का निदान हो।

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, उस की आसक्ति एवम अहम इसी की खोज में रहते है। उस के ज्ञान की तो सीमा है, किन्तु अज्ञान की नही। अतः वह सभी निर्णय अपने ही सीमित ज्ञान से ले चुकने के बाद यदि किसी की शरण मे जाए तो ज्ञानी पुरुष को सब से पहले उस के ज्ञान के भ्रम पर वार करते हुए, किसी ज्ञान की शुरुवात करनी चाहिये। अर्जुन युद्ध से पलायन चाहता है किंतु इस के लिये उसे भगवान श्री कृष्ण के समर्थन की आवश्यकता है क्योंकि वह अपने निर्णय पर अमल भी नही कर पा रहा।

घर मे बच्चों द्वारा पिकनिक जाने की सलाह मांगना एवम प्रोग्राम बनाने के लिए माता पिता की आज्ञा मांगना ऐसा ही है वो हां कह कर समर्थन करे यदि नही तो बच्चों को उन की सलाह पसंद नही आती। ऐसे में माता - पिता की समस्या उन को उन की इच्छा के विरुद्ध आज्ञा देना दुष्कर है।

हम अर्जुन की जगह अपने को रखे तो शायद आज भी हम इसी स्थिति में अपने तो पाएंगे।

अक्सर सलाह मांगने वाला सलाह लेने से पूर्व ही अपने विचारों से उत्तर प्राप्त कर चुका होता है वो उस मे संशोधन या उस का समर्थन चाहता है। गीता पढने से पूर्व ही हम लोग भी इसी किसी भावना के छुपे रूप से ग्रसित होते है और हर श्लोक या ज्ञान को अपने मोह, माया, लोभ, ममता एवम अहम से तुलना करते है यदि उस के अनुकूल है तो गीता के मार्गदर्शन को

स्वीकार् करते है अन्यथा जीवन शैली में अव्यवहारिक बता कर मना कर देते है। गीता को सात्विक ज्ञान के रूप में ग्रहण करने के लिए हमे भी अर्जुन की भांति समर्पित हो कर अपनी जिज्ञासा को शांत करते रहना होगा।

अब सब से यही कहा जा सकता है कि अर्जुन की भांति सब अपने मोह, ममता, माया, लोभ एवम अहम को छोड़ कर कृष्ण की शरण मे जा कर शरण ले। अर्जुन का मोह भी गीता सुनने के बाद ही समाप्त हुआ था और उस ने अपना मोह कृष्ण के सामने रख भी दिया था। यह हम सब का भी हो, ऐसा विस्वास रखते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.08 ।।

।। कर्म, निर्णय और उस का प्रभाव ।। विशेष 2.08।।

अर्जुन की मन स्थिति सामान्य कर्म योद्धा की स्थिति है जब उस के सामने कर्तव्य, धर्म, न्याय एवम आचरण एक साथ खड़े हो जाये तो यह तय करना अत्यंत मुश्किल है कि क्या किया जाए, इसी को गीता में अत्यंत सूक्ष्म रूप में बताया गया है।

एक ही कर्म करने के जब अनेक मार्ग सामने हो तो उस मे उत्तम का चयन कैसे करे। कौन सा शुद्ध मार्ग है। उस के अपवाद क्या क्या है। वह मार्ग ही क्यों उत्तम है?, इसी को जानना ही योगशास्त्र है। गीता का अध्ययन योग शास्त्र का अध्ययन है। अच्छे -बुरे के समानार्थक शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, कर्तव्य- अकर्तव्य, पाप-पुण्य, धर्म- अधर्म भी है। शास्त्रो में कर्मयोग शास्त्र के निरूपण सदाहरणतयः तीन प्रकार से की गई है।

1) अतिभौतिकवाद - बाह्य जगत में जो इन्द्रियों से गोचर है, वही सत्य है। किसी भी कर्म के बाह्य फल को देख कर नीति या अनीति के निर्णय करने वाले पक्ष को अतिभौतिक वाद अर्थात अति भौतिक सुखवाद कहा गया। परलोक या आत्मविद्या के प्रति इस वाद को मानने वाले उदासीन रहे। पश्चिम देशों की सभ्यता का विकास इसी वाद पर हुआ। इस के तीन स्वरूप 1) स्वार्थ सुखवादी 2) परार्थ सुखवादी और सर्व सुख वादी।

संसार के सारे सुख मेरे हो, मैं ही इस संसार मे राज करू यही स्वार्थ सुखवाद है, किन्तु जब अपने ही सुख से काम न चले तो अपने स्वार्थ में दूसरे का स्वार्थ देखना परार्थ सुखवाद है एवम जिस काम से अधिक लोगो को लाभ हो, वह सर्व सुखवादी है। किन्तु सभी के लिये सुख की बात कल्पना ही है, भौतिक साधन से सुख की उपलब्धि है तो दुख भी उस के साथ ही है। जो किसी का लाभ का कारण होगी तो अन्य के लिये हानि का। भौतिक सुखवाद परिवर्तनशील एवम अस्थायी होता है।

भौतिक सुख साधनों, चिकित्सा एवम मानव जाति के विकास के विज्ञान ने जो उन्नति की है, वह सर्व सुख वाद है। किंतु इसी विज्ञान से मानव ने पर्यावरण को भी इतनी क्षति पहुंचा दी, जिस से जीवन सरल नहीं रहा। युद्ध का भय क्या विज्ञान की देन नही है?

अर्जुन की समस्या युद्ध के होने वाली हानि की भी है। इतने सैनिकों का बलिदान एवम अपने जनों का बलिदान सिर्फ राज्य के लिये करना उचित है।

अतिभौतिकवाद सिर्फ सांसारिक सुखों को ध्यान में रख कर निर्णय लेने का नीतिशास्त्र है। आजादी की लड़ाई लड़ने वालों में, नए नए अविष्कार, जन सेवा, व्यापार, सुख ऐशवर्य के लिये मेहनत करने वाले अपने निर्णय इसी नीति शास्त्र में खोजते है।

2) अतिदैविकवाद - इस नीतिशास्त्र में यह मान्यता है कि हर वस्तु, घटना या कर्म बिना की शक्ति के नही होती। उस को संचालित करने वाली देवी शक्ति ही तय करती है। इसी प्रकार 33 करोड़ दैवी देवताओ की स्थापना हुई। इस वाद को मानने वाले सांसारिक सुखों के विभिन्न देवी - देवताओं की आराधना करते हुए, उन से अपने सांसारिक, लौकिक और परालौकिक सुखों के चमत्कार की आशा रखते है। आज के युग में मंदिरों की पूजा, यज्ञ - हवन, भगवद कथाएं जो सांसारिक या स्वर्ग सुखों की प्राप्ति के लिए की जाती है, इसी श्रेणी में आती है। अतिदैविकवाद भी जब अंधभक्ति और अंधविश्वास की ओर बढ़ने लगता है तो अतिभौतिक वाद की भांति मानव कल्याण में हानि ही पहुंचाता है।

3) अध्यात्म वाद - सम्पूर्ण जगत का रचना परब्रह्म के संकल्प के कारण है, इसलिये जीव का कर्तव्य है कि वह अपने कर्म इस प्रकार करे कि वह उस के बंधन में न फसे एवम मोक्ष को प्राप्त हो। इस मे सत-चित-आनन्द में परमानंद का स्थायी आनंद की प्राप्ति को अधिक बल दिया गया है।

जीवन के लक्ष्य को धर्म, अर्थ, काम एवम मोक्ष चार भागों के विभाजित किया गया है। अतः स्पष्ट है, धर्म मोक्ष नही है, अर्थ से यह जीवन चलता है और कामना से प्रेरणा मिलती है किंतु अंत मे बिना मोक्ष के गति नही। प्रत्येक जीव के निर्णय का आधार यही चारो स्तंभ होना चाहिये। किस एकवाद पर निर्णय अन्य वाद में गलत हो सकता है। निर्णय कोई स्थायी नही है, यह समय, स्थान, परिस्थिति एवम व्यक्तिगत वर्ण व्यवस्था एवम क्षमता से तय होता है। इसमें धर्मशास्त्रों से मार्गदर्शन लिया जाता है एवम अपने से श्रेष्ठ जनों के कार्यो एवम आदेशो को समझ कर तय किया जाता है। अंत सिर्फ मोक्ष है, अतः निर्णय का अंतिम लक्ष्य भी मोक्ष ही होना चाहिये।

कर्म के विवेचन में निर्णय का आधार किस वाद (सिंद्धांत) पर है, प्रभावित करता है। जो निर्णय भौतिक दृष्टिकोण से सही हो सकती है, वह अध्यात्म में गलत हो। भौतिक में भी जो सुखवाद में सही हो वो सर्वजन हिताय भाव मे गलत हो। जो निर्णय त्रेता काल मे सही था, कल युग मे न भी हो। सही और गलत को पहचानना ही योग शास्त्र है, जिस में अंधानुकरण की बजाए विवेक की आवश्यकता एवम योग साधना की जरूरत है। यही गीता में अर्जुन की परिस्थिति को सामने रख कर दिया हुआ ज्ञान है। अब जो ज्ञान साधना से भी परहेज करें वो दुर्योधन की श्रेणी में या कौरव एवम पांडव के महान योद्धाओ की श्रेणी में आते है, जिन्होंने स्वयं को अपने की ज्ञान से बांध दिया है।

जीवन अद्भुत एवम आश्चर्यजनक है। सांसारिक सुखों को एवम शरीर की क्षमताओं और सीमाओं को कोई नकार नही सकता एवम परब्रह्म के अस्तित्व को अस्वीकार भी नही कर सकता। गीता ने इसलिये अर्जुन के माध्यम से प्रथम अध्याय से द्वितीय अध्याय के श्लोक 10 तक इन्ही प्रश्नों को अर्जुन के माध्यम से द्वंद रूप में युद्ध भूमि के अंतर्गत बताया है।

धार्मिक, सामाजिक एवम पारिवारिक वातावरण में जब धार्मिक क्रियाएं में सुविधा, धन, काम और सुखवाद का प्रभाव अधिक हो तो आने वाली पीढ़ी में संस्कार और रीति रिवाज के पालन का अभाव ही होगा। अर्जुन ने भी युद्ध के बाद जिस स्थिति की कल्पना की थी, वही स्थिति ही अतिसुखवाद या अतिदैविकवाद का व्यवसायिक करण होने से भी हो सकती है।

गीता सम्पूर्ण योग शास्त्र है, इसलिये सांख्य, भक्ति एवम बुद्धियोग को कर्मयोग से जोड़ते हुए, मानव जीवन के सम्पूर्ण लक्ष्य को एक एक कर के प्रत्येक अध्याय में स्थापित किया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्मो के त्याग की आवश्यकता नही है, आवश्यकता आसक्ति एवम अहम के त्याग की है। गीता शास्त्र में सभी योग शास्त्र को अत्यंत सुंदर तरीके से भगवान की वाणी द्वारा प्रस्तुत किया गया, क्योंकि इस के ऊपर कोई ज्ञान या योग नही हो सकता, जिसे हम पढ़ना शुरू करेंगे। बस आप जुड़े रहे और नित्य पढ़ते रहे। कुछ शंका हो तो आप प्रश्न भी व्हाट्सएप्प में पूछ सकते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.08 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.9॥

संजय उवाच
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इतिगोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

sañjaya uvāca,
"evam uktvā hṛṣīkeśaṁ,
guḍākeśaḥ parantapaḥ..।
na yotsya iti govindam,
uktvā tūṣṇīṁ babhūva ha"..II

भावार्थ :

संजय ने कहा - हे राजन्! निद्रा को जीतने वाला अर्जुन ने इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण से कहा "हे गोविंद मैं युद्ध नहीं करूँगा" और चुप हो गया॥ ९॥

Meaning:

Sanjaya said:

Having spoken this to Hrisheekesha, Gudaakesha, the scorcher of foes, said to Govinda : "I will not fight", and became silent.

Explanation:

In the last verse,Arjuna had surrendered his decision-making to Shri Krishna, and had asked him for guidance. Arjuna knew that he was in no shape to make that decision himself, let alone fight. So he eventually proclaimed that he would not fight, and became silent.

We should note that it was not just Arjuna's voice that became silent. His mind, though not totally silent, became calmer than what it was in the last verse. Otherwise, it could not have assimilated the teaching that was about to follow.

Also note that the narration has shifted back to Sanjaya in this verse, and the meter has changed back to normal. He refers to Arjuna as Gudaakesha or "conqueror of sleep" means one who controls quantum and timing of sleep, and Shri Krishna as Hrisheekesha or "conqueror of the senses".

The verse return back to Sanjay, who expecting positive reaction of king Dhirtrastra, but he didn't reacted.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कथा अब संजय की ओर मुड़ गई। संजय आगे वर्णन करते हुये कहता है कि भगवान् की शरण में जाकर गुडाकेश, निद्राजित एवं शत्रु प्रपीड़क अर्जुन ने यह कहा कि वह युद्ध नहीं करेगा और फिर वह मौन हो गया।

कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, न्याय- अन्याय के बीच मे मोह, भय एवम लालसा की दीवार खड़ी है। युद्ध जीतना भी हारने के ही समान है, क्योंकि जीत कर भी अर्जुन वो सब हारने की बात कर रहे है, जिस के लिए वह जीतना चाहते है। किसी एक व्यक्ति की जिद्द, ईर्ष्या, लोभ इतने लोगो की मृत्यु का कारण होगी, यही सोच सोच कर अर्जुन परेशान है और निर्णय कर चुका है कि वह युद्ध तो नही करेगा। उसे अब युद्ध छोड़कर क्या करना चाहिए, इसी का उत्तर चाहिये। उस ने शरण तो स्वीकार की है किंतु अंधानुकरण नही। यही कारण है कि गीता में जब भगवान श्री कृष्ण उसे समझाते है तो वह अपनी प्रत्येक शंका का निवारण करना चाहता है और एक प्रबल एवम धैर्यवान प्रवक्ता के रूप में भगवान श्री कृष्ण उसी सभी शंकाओ का निवारण भी करते है। ज्ञान किस प्रकार दिया जाए और किस प्रकार ग्रहण किया जाए, इस का इस से बढ़कर कोई उदाहरण हो ही नही सकता।

केवल मात्र एक अंधे धृतराष्ट्र को छोड़कर, किसी भी अन्य व्यक्ति को यह अधिकार या सार्मथ्य नहीं था कि वह युद्ध को इन क्षणों में भी रोक सके। अवश्यंभावी और अपरिहार्य युद्ध को धृतराष्ट्र द्वारा रोकने की क्षीण आशा संजय के हृदय में थी। शत्रुपीड़क अर्जुन अब तीनों जगत् को जीतने वाले (गोविन्द) भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में पहुँच गया था इसलिये उस की विजय अब निश्चित थी परन्तु जन्मान्ध धृतराष्ट्र ने किसी की भी श्रेष्ठ सलाह को अत्यधिक पुत्र प्रेम और राज्य की लालसा के कारण नहीं सुना।

गीता का यह श्लोक संजय द्वारा बताया गया है क्योंकि यह ध्यान रहे कि गीता का उपदेश 5 लोगो ने सुना था जिस में एक हनुमान जी, जो ध्वजा में विराजमान है एवम बबरीक जी, जो आज खाटू श्याम जी के नाम से प्रख्यात है। यह दोनो समभाव के निष्पक्ष लोग थे। अन्य में अर्जुन एवम धृष्टराष्ट्र सुनने वाले, कृष्ण सुनाने वाले और संजय भी आंखों देखा हाल, देख या सुनकर सुनाने वाले। अर्जुन का मोह सात्विक था वो पारिवारिक प्रेम एवम अपने सात्विक ज्ञान के कारण युद्ध नही चाहता था किंतु धृष्ट राष्ट्र का मोह तामसिक पुत्र प्रेम था एवम राज्य करने की एक आंतरिक अभिलाषा थी। इसलिये उस पर गीता के उपदेश का कोई असर नही होता।

हम अक्सर स्वयं के मोह, स्वार्थ, लोभ और अपूर्ण ज्ञान की चार दिवारी के अंदर अपने को सुरक्षित कर लेते है। कोई भी बात हमारी अपनी ही परिधि से छन्न कर आती है और हम उस का मूल्यांकन उसी रूप में लाभ या हानि के माध्यम से करते है। अर्जुन को इस लिए पहले अपने सारथी, सखा एवम रिस्ते में भाई जैसे कृष्ण का शिष्य बनना पड़ा तांकि वो अपनी शंकाओं के साथ इन की बात को समझे, न कि किसी भी आज्ञा को आंख बंद कर के पालन करे। गीता के उपदेश के बाद भी कृष्ण युद्ध की आज्ञा न दे कर उस को बोलते है कि तुम्हें जो उचित लगे करो।

आज के समय गीता का अध्ययन करते हुए हमें भी अर्जुन की भांति भगवान कृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करते हुए गीता का अध्ययन करना होगा एवम शंका का निवारण ढूढ़ना होगा। यदि किसी भी अल्प ज्ञान के कारण हम इस धारणा से गीता का अध्ययन करते है कि यह आज के समय से हिसाब से गीता व्यवहारिक नही है तो हम धृष्टराष्ट्र की कुर्सी पर है, हमारा राग - द्वेष हमारे साथ है। मेरे जैसे व्यक्ति जो गीता पर मीमांसा लिख रहे है, अभिभूत है परंत तत्वदर्शी या ज्ञानी नही, वो संजय जैसे है, ज्ञानी पुरुष हनुमान जी और बबरीक है, जो सुनते भी है और समझते भी है। अर्जुन कौन होगा, यह आप पर निर्भर है। शेष समस्त संसार अपने में प्रकृति के साथ व्यस्त है। गीता के प्रथम अध्याय का महत्व अपना चयन है, जिस से संसार की भीड़ में गीता को पढ़ना, सुनना और समझना शुरू किया, वही अर्जुन है।

कभी आप के सामने आप का बच्चा किसी कार्य करने के लिए आप की सलाह मांगता है जिस का निर्णय वो ले चुका है और आप वह कार्य नहीं करने के समझाते भी है और मना करते है, तो भी वो आप के ज्ञान को पुराने विचार कह कर टाल देगा और वो काम करेगा चाहे बाद में परिणाम वो ही आये जिस की आप ने चेतावनी दी थी। क्योंकि आप के सलाह के पूर्व उस ने निर्णय ले रखा था और आप से सलाह करते वक्त आप को गुरु समझ कर अपनी शंका का निवारण न करते हुए आप की सलाह को प्रैक्टिकल न मानते हुए नकार रहा था। हम भी उसी बालक के समान गीता का अध्ययन ज्ञान प्राप्ति के लिए कर रहे किंतु जो हमारी सुविधा या तात्कालिक सुख के विरुद्ध हो, तो हम अपनी आदत की बजाय गीता को ही नकार देते है। इसलिए गीता ज्ञान का ग्रंथ नहीं है, यह अर्जुन की भांति जो हम कर रहे है, इसी अज्ञान को मिटाने का ग्रंथ है। प्रकाशवान ब्रह्म स्वरूप भ्रमित जीव है जो गीता द्वारा अध्यास के अभ्यास से अपने स्वरूप को जो भूल चुका है, उस को समझने की चेष्टा करता है। अंतर यही है कि अर्जुन कहता है कि मैं युद्ध नही करूंगा क्योंकि मेरा राग - द्वेष मेरे साथ है और हम कहते है कि मै मेरा यह संसार, कर्म और परिवार नही छोडूंगा क्योंकि मेरा भी राग - द्वैष और कर्म फल की आशा मेरे साथ है। इसलिए अब अर्जुन बन कर भगवान 11वे श्लोक से जो कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 02.09 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.10॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥

"tam uvāca hṛṣīkeśaḥ,
prahasann iva bhārata..I
senayor ubhayor madhye,
viṣīdantam idaṁ vacaḥ"..II

भावार्थ :

हे भरतवंशी! इस समय दोनों सेनाओं के बीच शोक-ग्रस्त अर्जुन से इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने हँसते हुए से यह शब्द कहे॥ १०॥

Meaning:

Hrishikeesha, as though smiling, spoke these words to the despondent Arjuna, in the middle of the two armies.

Explanation:

The most interesting aspect of this verse is the phrase "as though smiling", and has been interpreted differently by several commentators. The commonly held notion is : Shri Krishna wanted to use Arjuna as a vehicle for delivering the sermon of the Gita, and he smiled because the time for delivering the sermon had come as soon as Arjuna requested him to become his disciple. Another interpretation is that on the one hand, Arjuna is surrendering to Shri Krishna and asking for guidance, but o the other hand he says that he will not fight.

Therefore Shri Krishna is smiling on this qualified request from Arjuna.

With our incomplete understanding, we find faults with the situations we are in—we complain and grumble about them, wish to run away from them, and hold them responsible for our misery. But the enlightened souls inform us that the world created by God is perfect in every way, and both good and bad situations come to us for a divine purpose. They are all arranged for our spiritual evolution, to push us upward in our journey toward perfection. Those who understand this secret are never disturbed in difficult circumstances, facing them with serenity and tranquility. Ultimate circumstance comes where GOD gives most secrete knowledge to world. Person who has ability to handle all situation, shall not pertrub and keep himself calm and smiling.

Our journey so far was just the background of the Gita. Starting from the next verse, we are about to delve into the heart of the Gita. Like any good speaker, Shri Krishna has provided an overview of the Gita for us in Chapter 2. Later chapters will delve into these themes in significant detail.

We will try our best to understand some of the more abstract verses in this chapter, but let's not worry if we don't understand them completely in the first reading. These verses will reveal new nuances and facets in each reading.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रहसन्निव (विशेषतासे हँसते हुए की तरह) का तात्पर्य है कि अर्जुन के भाव बदलने को देखकर अर्थात् पहले जो युद्ध करने का भाव था वह अब विषाद में बदल गया इस को देखकर भगवान् को हँसी आ गयी। दूसरी बात अर्जुनने पहले (2। 7 में) कहा था कि मैं आपके शरण हूँ मेरेको शिक्षा दीजिये अर्थात् मैं युद्ध करूँ या न करूँ मेरे को क्या करना चाहिये इस की शिक्षा दीजिये परन्तु यहाँ मेरे कुछ बोले बिना अपनी तरफ से ही निश्चय कर लिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा यह देखकर भगवान् को हँसी आ गयी। कारण कि शरणागत होने पर मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ आदि कुछ भी सोचने का अधिकार नहीं रहता। उस को तो इतना ही अधिकार रहता है कि शरण्य जो काम कहता है वही काम करे। भगवान् अर्जुन के मैं युद्ध नहीं करूँगा इस वचनकी तरफ ध्यान न देकर (आगे के श्लोक से) उपदेश आरम्भ कर देते हैं।

आध्यात्मिक तौर पर इस प्रकार धर्म और अधर्म शुभ और अशुभ इन दो सेनाओं के संव्यूहन के मध्य अर्जुन (जीव) पूर्ण रूप से अपने सारथी भगवान् श्रीकृष्ण (सूक्ष्म विवेकवती बुद्धि) की शरण में आत्मसमर्पण करता है जो पाँच अश्वों (पंच ज्ञानेन्द्रियों) द्वारा चालित रथ (देह) अपने पूर्ण नियन्त्रण में रखते हैं।

ऐसे दुखी और भ्रमित व्यक्ति जीव अर्जुन को श्रीकृष्ण सहास्य उसकी अन्तिम विजय का आश्वासन देने के साथ ही गीता के आत्ममुक्ति का आध्यात्मिक उपदेश भी करते हैं जिसके ज्ञान से सदैव के लिये मनुष्य के शोक मोह की निवृत्ति हो जाती है।

उपनिषद् के रूपक को ध्यान में रखकर यदि हम संजय द्वारा चित्रित दृश्य का वर्णन उपर्युक्त प्रकार से करें तो इसमें हमें सनातन पारमार्थिक सत्य के दर्शन होंगे। जब जीव (अर्जुन) विषादयुक्त होकर शरीर में (देह) स्थित हो जाता है और सभी स्वार्थ पूर्ण कर्मों के साधनों (गाण्डीव) को त्यागकर इन्द्रियों को (श्वेत अश्व) मन की लगाम के द्वारा संयमित करता है तब सारथि (शुद्ध बुद्धि) जीव को धर्म शक्ति की सहायता से वह दैवी सार्मथ्य और मार्गदर्शन प्रदान करता है जिससे अधर्म की बलवान सेना को भी परास्त कर जीव सम्पूर्ण विजय को प्राप्त करता है। चारो ओर जाने - अनजाने, दोस्त - दुश्मन के रूप में अनेक लोग प्रकृति के स्वरूप में घेरे हुए है।

प्रायः हम मुक्ति अवश्य चाहते है किंतु इस प्रकृति के सौंदर्य को भी त्याग नही सकते। हम अर्जुन की भांति कहते है कि मुझे मुक्ति का मार्ग मिले किन्तु मेरा अहम मेरे साथ रहे। "मैं" एक त्याग हम नही कर सकते, और मार्ग भी मुक्ति का चाहिए।

गीता का द्वितीय अध्याय सांख्य योग कहलाता है और प्रथम अध्याय विषाद योग। मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता तभी होती है जब इस संसार मे किसी भी मोड़ पर निराशा से घिर कर वो अनिर्णय की स्थिति में पहुच जाता है। इस लिए प्रथम अध्याय में विषाद योग आया। अनिर्णयित व्यक्ति जरूरी नही जिस से सलाह मांगे उस की पूर्ण शरण मे हो उस को अपने किये अपूर्ण निर्णय पर ज्यादातर सलाह के तौर पर ठप्पा ही चाहिए। किन्तु सलाह देने वाले का दायित्व है कि उस को सही सलाह दे।

गीता का यह अध्ययन काफी सरल कर के प्रस्तुत करने की कोशिश में जरूरी नही हम इसे एक बार मे समझ सके इस लिए इस का अध्ययन बार बार करते रहने से जैसे जैसे हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जायगी यह समझ मे भी आती जाएगी। और कभी भी समस्या का सामना करना पड़े तो गीता का अध्ययन उस का उत्तर अवश्य ही देगा।

प्रस्तुत अध्ययन भी विभिन्न संकलित अध्ययन की एक कड़ी मात्र है जिस में आप की विचारधारा मिल कर आप को समझ आये ऐसा विचार है।

कल से कृष्ण द्वारा गीता के सांख्य योग का प्रारंभ करेगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.10 ।।

।। प्रज्ञावाद एवम अर्जुन का अज्ञान ।। विशेष 2.10 ।।

दूसरे अध्याय का नाम सांख्य योग है। इस में जीवन की दो प्राचीन संमानित परंपराओं का तर्कों द्वारा वर्णन आया है। अर्जुन को उस कृपण स्थिति में रोते देखकर कृष्ण ने उसका ध्यान दिलाया है कि इस प्रकार का क्लैव्य और हृदय की क्षुद्र दुर्बलता अर्जुन जैसे वीर के लिए उचित नहीं।

प्रज्ञा द्वारा जीव अन्तःकरण , वृत्ति / परिणाम के भेद से चार प्रकार -- मन , बुद्धि , चित्त और अहंकार -- के नाम से जाना जाता है । संकल्प करनेे मन , विषय के निश्चय करने के कारण से बुद्धि , अभिमान करने के कारण अहंकार और विषयों का चिन्तन करने के कारण चित्त कहलाता है ।।

जैसे संकल्प आदि मन के धर्म हैं , वैसे ही चिन्तन भी मन का धर्म है । इसलिए मन में ही चित्त का अन्तर्भाव भले प्रकार से सिद्ध होता है ।।

बुद्धि में शरीर आदि के प्रति अत्यंत दृढ भाव / संस्कार दीखते हैं-- 'मैं दुःखी हूँ , मैं सुखी हूँ इत्यादि ' ; जिससे बुद्धि में अन्तर्भाव का मानना युक्त अहंकार प्रतीत होता है ।।

लिंग शरीर के लक्षण की सिद्धि के लिए मन में और बुद्धि में , क्रम से चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव जानना चाहिए । इस तरह लिंग शरीर सत्तरह अवयवों वाला न होकर, उन्नीस अवयवों वाला हो जायेगा ।।

उपर्युक्त विवेचना से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि अहंभाव अर्थात कर्तापना बुद्धि का अज्ञान है और करणपना मन का अज्ञान है । कर्तापना और करणपना -- इन दोनों प्रकारों के अज्ञानों के वश में होने से जीव जन्म - मरणरूप संसार-चक्र में फंसा रहता है ।।

यहाँ यह स्पष्ट भी करना उचित होगा कि इस अध्याय के वर्णित सांख्य योग कपिल या पतंजलि के योग सूक्त का नही है। यहां प्रज्ञा के अध्यास को वर्णित किया गया है कि किस प्रकार मनुष्य यह जानते हुए भी जन्म-जीवन- मरण प्रकृति के निरूपित हिस्से का होते हुए भी, इस अज्ञान की प्रज्ञा के साथ जीता है। अर्जुन का प्राथमिक मोह अपने स्वजनों की ले कर जो उत्पन्न हुआ था, वह इसी अज्ञान का ही एक हिस्सा है।

कृष्ण ने अर्जुन की अब तक दी हुई सब युक्तियों को प्रज्ञावाद का झूठा रूप कहा। उनकी युक्ति यह है कि प्रज्ञा दर्शन काल, कर्म और स्वभाव से होने वाले संसार की सब घटनाओं और स्थितियों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है। जीना और मरना, जन्म लेना और बढ़ना, विषयों का आना और जाना। सुख और दुख का अनुभव, ये तो संसार में होते ही हैं, इसी को प्राचीन आचार्य पर्यायवाद का नाम भी देते थे। काल की चक्रगति इन सब स्थितियों को लाती है और ले जाती है। जीवन के इस स्वभाव को जान लेने पर फिर शोक नहीं होता। यही भगवान का व्यंग्य है कि प्रज्ञा के दृष्टिकोण को मानते हुए भी अर्जुन इस प्रकार के मोह में क्यों पड़ गया है।

ऊपर के दृष्टिकोण का एक आवश्यक अंग जीवन की नित्यता और शरीर की अनित्यता था। नित्य जीव के लिए शोक करना उतना ही व्यर्थ है जितना अनित्य शरीर को बचाने की चिंता। ये दोनों अपरिहार्य हैं। जन्म और मृत्यु बारी बारी से होते ही हैं, ऐसा समझकर शोक करना उचित नहीं है।

फिर एक दूसरा दृष्टिकोण स्वधर्म का है। जन्म से ही प्रकृति ने सब के लिए एक धर्म नियत कर दिया है। उस में जीवन का मार्ग, इच्छाओं की परिधि, कर्म की शक्ति सभी कुछ आ जाता है। इस से निकल कर नहीं भागा जा सकता। कोई भागे भी तो प्रकृत्ति उसे फिर खींच लाती है।

इस प्रकार काल का परिवर्तन या परिमाण, जीव की नित्यता और अपना स्वधर्म या स्वभाव जिन युक्तियों से भगवान्, ने अर्जुन को समझाया है उसे उन्होंने सांख्य की बुद्धि कहा है। इससे आगे अर्जुन के प्रश्न न करने पर भी उन्होंने योगमार्ग की बुद्धि का भी वर्णन किया। यह बुद्धि कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के आग्रह की बुद्धि है इसमें कर्म करते हुए कर्म के फल की आसक्ति से अपने को बचाना आवश्यक है। कर्मयोगी के लिए सबसे बड़ा डर यही है कि वह फल की इच्छा के दल दल में फँस जाता है; उससे उसे बचना चाहिए।

अर्जुन को संदेह हुआ कि क्या इस प्रकार की बुद्धि प्राप्त करना संभव है। व्यक्ति कर्म करे और फल न चाहे तो उसकी क्या स्थिति होगी, यह एक व्यावहारिक शंका थी। उसने पूछा कि इस प्रकार का दृढ़ प्रज्ञावाला व्यक्ति जीवन का व्यवहार कैसे करता है? आना, जाना, खाना, पीना, कर्म करना, उनमें लिप्त होकर भी निर्लेप कैसे रहा जा सकता है? कृष्ण ने कितने ही प्रकार के बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा मन के संयम की व्याख्या की है। काम, क्रोध, भय, राग, द्वेष के द्वारा मन का सौम्यभाव बिगड़ जाता है और इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं। इंद्रियजय ही सबसे बड़ी आत्मजय है। बाहर से कोई विषयों को छोड़ भी दे तो भी भीतर का मन नहीं मानता। विषयों का स्वाद जब मन से जाता है, तभी मन प्रफुल्लित, शांत और सुखी होता है। समुद्र में नदियाँ आकर मिलती हैं पर वह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। ऐसे ही संसार में रहते हुए, उसके व्यवहारों को स्वीकारते हुए, अनेक कामनाओं का प्रवेश मन में होता रहता है। किंतु उनसे जिस का मन अपनी मर्यादा नहीं खोता उसे ही शांति मिलती हैं। इसे प्राचीन अध्यात्म परिभाषा में गीता में ब्राह्मीस्थिति कहा है।

क्योंकि अब हम गीता के योगशास्त्र में प्रवेश ले रहे है, इसलिए विषय को किस प्रकार ग्रहण करते है, महत्वपूर्ण है। प्रकृति भी ज्ञान देती है और जीव का अपना भी अध्यास होता है, जिस से वह प्रकृति से उत्पन्न ज्ञान के अज्ञान को समझ कर भ्रमित न हो। शास्त्र में इसे रस्सी को सर्प न समझने की भूल कहा गया है। अतः अब आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.10 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.11॥

श्री भगवानुवाच,
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

śrī-bhagavān uvāca,
"aśocyān anvaśocas tvaṁ,
prajñā-vādāṁś ca bhāṣase..I
gatāsūn agatāsūṁś ca,
nānuśocanti paṇḍitāḥ"..II

भावार्थ :

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! तू उन के लिये शोक करता है जो शोक करने योग्य नहीं है और पण्डितों की तरह बातें करता है। जो विद्वान होते हैं, वे न तो जीवित प्राणी के लिये और न ही मृत प्राणी के लिये शोक करते॥ ११॥

Meaning:

Shri Bhagavaan said:

You are grieving for those who are not worthy of sorrow, yet seemingly speaking words of wisdom. The wise grieve not for the departed, nor for those who have not yet departed.

Explanation:

In the verses so far, Arjuna thought he was wise in lamenting the war by making a plea for peace. But Shri Krishna here pointed out that Arjuna "seemingly spoke wise words", i.e. in reality what Arjuna said was not correct. His assessment of the situation was clouded by emotion instead of being driven by logic and reason. On one hand, he was displaying grief, on the other hand, he was trying to display logic. Logic and grief cannot go together.

There are several instances in life where what we thought was correct knowledge, no longer applies. For example, let's say you get promoted to your first managerial job. It is your first day at work and you get invited to 10 meetings from different teams. If you were at a job right out of college, you would ensure that you attended all the meetings that you were invited to, and doing so would be the right thing to do at that stage in your career. But as a manager, you have the advantage of seniority to choose which meetings to go to, and which to avoid. You no longer assess the situation like you previously used to. You use different reasoning and logic.

Shri Krishna's wanted to correct Arjuna's logic. He pointed to Arjuna that there was no need to grieve for the living nor for the dead. Death is inevitable. We should enjoy and appreciate the living, just like one appreciates a colourful soap bubble blown by a child. The bubble will last for a few seconds, but inevitably, it will burst. Some bubbles burst quickly, some last for a longer time. But there is never a surprise when a bubble eventually bursts.

Ignorance is the cause of all human problems. And by ignorance we mean self-ignorance. So self-ignorance is the cause of all human problems and therefore self-knowledge is the only solution for all human problems.

Therefore Shri Krishna instructs Arjuna, and us, to assess any life situation with logic and reason, and not to get swayed by emotion. Of course, it will not always be possible to check our emotions, but it should be what we strive for constantly. We saw what happened to Arjuna when he let his emotions run wild, resulting in a panic attack. A wise person who uses "viveka" or discrimination (logic and reasoning about correct and incorrect) is called a "pandit". He need not necessarily have formal degrees, but is one who uses reason all the time.

A bubble will eventually burst, and the body will eventually perish. But is that the end? The next verse goes deeper into this topic.

Footnotes

1. "Moha" is delusion is reverse thinking. Mistaking the real for the unreal, impermanent as permanent, something that was never ours as ours, is delusion. The first line of the shloka addresses moha.

2. "Shoka" or grief is excessive dwelling in the past, or in other words, reliving past memories repeatedly. The second line of the shloka addresses shoka.

3. Per Shankaracharya's commentary, shoka and moha were the two primary reasons that Arjuna resisted fighting against his relatives.

4. One does not need to go far into the Gita to find a wise person above lamentation, for Grandsire Bheeshma himself was the perfect example. He was a sage who had fathomed the mysteries of life and death, and risen above the dualities of circumstances. Serene in any eventuality, he had even consented to taking the side of the wicked, if it served the Lord. He thus demonstrated that those who are surrendered to God simply do their duty in all situations, without being affected by outcomes. Such persons never lament because they accept all circumstances as God’s grace.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जब हम अर्जुन के विषाद को ठीक से समझने का प्रयत्न करते हैं तब यह पहचानना कठिन नहीं होगा कि यद्यपि उस का तात्कालिक कारण युद्ध की चुनौती है परन्तु वास्तव में मानसिक संताप के यह लक्षण किसी अन्य गम्भीर कारण से हैं। जैसा कि एक श्रेष्ठ चिकित्सक रोग के लक्षणों का ही उपचार न कर के उस रोग के मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के शोक मोह के मूल कारण (आत्मअज्ञान) को ही दूर करने का प्रयत्न करते हैं। पंडित शब्द का अर्थ है ज्ञानी। अर्जुन अपने मोह, अहंकार और भय को शास्त्रोचित एवम तर्क युक्त बना कर स्वजनों की हत्या एवम युद्ध से घर के मुखिया समाप्त होने से स्त्रीयों के दूषित होने और आने वाली पीढ़ी वर्णसंकर होने का भय दिखा कर पलायन करना चाहता है।

शुद्ध आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अज्ञान न केवल दिव्य स्वरूप को आच्छादित करता है वरन् उसके उस सत्य पर भ्रान्ति भी उत्पन्न कर देता है। अर्जुन की यह अहंकार बुद्धिया जीव बुद्धि कि वह शरीर मन और बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न या सीमित है वास्तव में मोह का कारण है जिससे स्वजनों के साथ स्नेहासक्ति होने से उनके प्रति मन में यह विषाद और करुणा का भाव उत्पन्न हो रहा है। वह अपने को असमर्थ और असहाय अनुभव करता है। मोहग्रस्त व्यक्ति को आसक्ति का मूल्य दुख और शोक के रूप में चुकाना पड़ता है। इन शरीरादि उपाधियों के साथ मिथ्या तादात्म्य के कारण हमें दुख प्राप्त होते रहते हैं। हमें अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से उनका अन्त हो जाता है।

नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा स्थूल शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्य के कारण अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में अपने को बन्धन में अनुभव करती है। वही आत्मतत्त्व मन के साथ अनेक भावनाओं का अनुभव करता है मानो वह भावना जगत् उसी का है। फिर यही चैतन्य बुद्धिउपाधि से युक्त होकर आशा और इच्छा करता है महत्वाकांक्षा और आदर्श रखता है जिनके कारण उसे दुखी भी होना पड़ता है। इच्छा महत्वाकांक्षा आदि बुद्धि के ही धर्म हैं।

इस प्रकार इन्द्रिय मन और बुद्धि से युक्त शुद्ध आत्मा जीवभाव को प्राप्त करके बाह्य विषयों भावनाओं और विचारों का दास और शिकार बन जाती है। जीवन के असंख्य दुख और क्षणिक सुख इस जीवभाव के कारण ही हैं।

अर्जुन इसी जीवभाव के कारण पीड़ा का अनुभव कर रहा था। श्रीकृष्ण जानते थे कि शोकरूप भ्रांति या विक्षेप का मूल कारण आत्मस्वरूप का अज्ञान आवरण है और इसलिये अर्जुन के विषाद को जड़ से हटाने के लिये वे उस को उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मज्ञान का उपदेश करते हैं।

मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विधि के द्वारा मन को पुन शिक्षित करने का ज्ञान भारत ने हजारों वर्ष पूर्व विश्व को दिया था। यहाँ श्रीकृष्ण का गीतोपदेश के द्वारा यही प्रयत्न है। आत्मज्ञान की पारम्परिक उपदेश विधि के अनुसार जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण सीधे ही आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं।

भगवान का यह प्रश्न जैसा जवाब अर्जुन के रटत विद्या की ओर इंगित है, जो अपने मोह को सिद्ध करने के शास्त्रो का सहारा ले रहा है। "ब्रह्म ही सत्य है, नित्य है और जगत मिथ्या " इस को कौन नही जानता। "अहम ब्रह्मोस्मि" का पाठ करने वाले भी जब संकट स्वयं या अपने परिजनों पर आता है, तो प्रकृति स्वरूप शरीर के व्यवहार करने लगते है। अर्जुन को मालूम के जीव नित्य है और शरीर अनित्य, इसलिये भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से पूछते है कि आज तक तुम ने जो पढ़ा, क्या वह भूल गया है।

भीष्म और द्रोण के अन्तकरण शुद्ध होने के कारण उनमें चैतन्य प्रकाश स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। वे दोनों ही महापुरुष अतुलनीय थे। इस युद्ध में मृत्यु हो जाने पर उन को अधोगति प्राप्त होगी यह विचार केवल एक अपरिपक्व बुद्धि वाला ही कर सकता है। इस श्लोक के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का ध्यान जीव के उच्च स्वरूप की ओर आकर्षित करते हैं।

हमारे व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं और उन में से प्रत्येक के साथ तादात्म्य कर उसी दृष्टिकोण से हम जीवन का अवलोकन करते हैं। शरीर के द्वारा हम बाह्य अथवा भौतिक जगत् को देखते हैं जो मन के द्वारा अनुभव किये भावनात्मक जगत् से भिन्न होता है और उसी प्रकार बुद्धि के साथ विचारात्मक जगत् का अनुभव हमें होता है।

भौतिक दृष्टि से जिसे मैं केवल एक स्त्री समझता हूँ उसी को मन के द्वारा अपनी माँ के रूप में देखता हूँ। यदि बुद्धि से केवल वैज्ञानिक परीक्षण करें तो उस का शरीर जीव द्रव्य और केन्द्रक वाली अनेक कोशिकाओं आदि से बना हुआ एक पिण्ड विशेष ही है। भौतिक वस्तु के दोष अथवा अपूर्णता के कारण होने वाले दुखों को दूर किया जा सकता है यदि मेरी भावना उसके प्रति परिवर्तित हो जाये। इसी प्रकार भौतिक और भावनात्मक दृष्टि से जो वस्तु कुरूप और लज्जाजनक है उसी को यदि बुद्धि द्वारा तात्त्विक दृष्टि से देखें तो हमारे दृष्टिकोण में अन्तर आने से हमारा दुख दूर हो सकता है।

इसी तथ्य को और आगे बढ़ाने पर ज्ञात होगा कि यदि मैं जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देख सकूँ तो शारीरिक मानसिक और बौद्धिक दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न विषाद को आनन्द और प्रेरणादायक स्फूर्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। यहाँ भगवान् अर्जुन को यही शिक्षा देते हैं कि वह अपनी अज्ञान की दृष्टि का त्याग करके गुरुजन स्वजन युद्धभूमि इत्यादि को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने और समझने का प्रयत्न करे।

इस महान् पारमार्थिक सत्य का उपदेश यहाँ इतने अनपेक्षित ढंग से अचानक किया गया है कि अर्जुन की बुद्धि को एक आघातसा लगा। आगे के श्लोक पढ़ने पर हम समझेंगे कि भगवान् ने जो यह आघात अर्जुन की बुद्धि में पहुँचाया उसका कितना लाभकारी प्रभाव अर्जुन के मन पर पड़ा।

इन के लिये शोक करना उचित क्यों नहीं है क्योंकि वे नित्य हैं। कैसे भगवान् कहते हैं।

विशेष भगवान के वचन जब अर्जुन ने यह कहा कि उस का मुख सूख रहा है, हाथ कांप रहे है और वो गांडीव छोड़ कर बैठ गया, तब भी उन्होंने ने उस के स्वाभिमान को ललकारते हुए उस की असहाय अवस्था को अपने शिष्यत्व की मोड़ा। अब जब अर्जुन ने यह कह कर की मैं युद्ध नही करूँगा, अब आप मुझे समझाए तो एक अच्छे वक्ता के नाते सब से पहले उन्होंने उस के अर्ध ज्ञान को बताया कि बाते तो ज्ञानी वाली करते हो और हरकत अज्ञानी वाली।

मोह में अपने निर्णय को सही ठहराने के लिए अर्जुन ने कई तर्क दिए, इसलिए भगवान ने कहा कि ज्ञानी पुरुष मोह नही करते या जो मोह रखते है वो ज्ञानी की भांति तर्कों का सहारा नही लेते। जब तुम ज्ञानवान हो तो मोह के वश ज्ञान हो ज्ञान की बात न करो।

भावना में बह कर यदि कोई उस को उचित ठहराने की कोशिश करे तो यह उस व्यक्ति का अज्ञान ही है। श्रोता जिसे अपने ज्ञान का अहंकार हो, तो वह प्रवक्ता को या तो सुनता नहीं है, या फिर अपने ज्ञान से छान छान कर सुनता है। जिस से प्रवक्ता जो कुछ कहता है, वह श्रोता के ज्ञान के अहम के कारण अनसुना रहता है। भगवान श्री कृष्ण कुशल प्रवक्ता एवम कुशल गुरु है, इसलिए पहले एक व्यंगात्मक मुस्कान के बाद अर्जुन के ज्ञान को ही आधार बना कर उस के शास्त्रों के तर्क एवम ज्ञान के अहंकार को प्रहार करते है।

माँ की ममता अपने बच्चे पर रहती है और यदि माँ ममता वश अपने बच्चे के हर कृत्य को उचित माने तो यह अज्ञान ही है। शोक भावना का रूप है जैसे मोह है और ज्ञानी पुरुष हर होने वाले काम को जानता है वो शोक नही करता।

अर्जुन को सही दिशा में सोचने का अवसर देने के यह श्लोक हर सलाहकार के महत्वपूर्ण के उस के पास कोई सलाह लेने आये व्यक्ति को प्रथम यह ही बताना चाहिए कि गलती कहाँ हो रही है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.11।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.12॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

"na tv evāhaṁ jātu nāsaṁ,
na tvaṁ neme janādhipāḥ..I
na caiva na bhaviṣyāmaḥ,
sarve vayam ataḥ param"..II

भावार्थ :

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं किसी भी समय में नहीं था, या तू नहीं था अथवा ये समस्त राजा नहीं थे और न ऐसा ही होगा कि भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे॥ १२॥

Meaning:

In fact, there was never a time when I did not exist, nor did you, nor did these kings; and never shall we all cease to exist hereafter.

Explanation:

Arjun was great warrior, he faught several wars successfully but this time he has problem which can be considered more as incidental problem as against fundamental problem. Because it generated from attachment and being elobrate under philosophical and ethicial manner. Moreover, he has not shown his interest in materialist gain after war. Under his problem, shree krishna analysised the same as philosophical because Arjun gave example from dharmshastra and ethics. Since Arjun has denied for war on account of swajana and ignoring kshatrya dharma, leave his all rights and desire to conquered Hasitinapur. It's comes under materialistic angle whether to fight for his rights to get back thrown or not. Bhagwan shree krishna shall explain all problems of Arjun respectively in forth coming chapters, he took first philosophilical problem. Therefore, he has started his version from philosophic angle.

The above verse states that all creation is a combination of three entities—God, soul, and Maya—and all the three entities are eternal. If we believe the soul is eternal, then it follows logically that there is life after death of the material body. Shree Krishna talks about this in the next verse.

In the Vedas, in the Katha Upanishad as well as in the Svetasvatara Upanishad, it is said that the Supreme Personality of Godhead is the maintainer of innumerable living entities, in terms of their different situations according to individual work and reaction of work. That Supreme Personality of Godhead is also, by His plenary portions, alive in the heart of every living entity. Only saintly persons who can see, within and without, the same Supreme Lord can actually attain to perfect and eternal peace."nityo nityanam cetanas cetananam eko bahunam yovidadhati kaman tam atma-stham ye 'nupasyanti dhiras tesham santih sasvati netaresham"

The same Vedic truth given to Arjuna is given to all persons in the world who pose themselves as very learned but factually have but a poor fund of knowledge. The Lord says clearly that He Himself, Arjuna and all the kings who are assembled on the battlefield are eternally individual beings and that the Lord is eternally the maintainer of the individual living entities both in their conditioned and in their liberated situations. The Supreme Personality of Godhead is the supreme individual person, and Arjuna, the Lord's eternal associate, and all the kings assembled there are individual eternal persons. It is not that they did not exist as individuals in the past, and it is not that they will not remain eternal persons. Their individuality existed in the past, and their individuality will continue in the future without interruption. Therefore, there is no cause for lamentation for anyone.

The Gita uses a lot of poetic techniques, including using double negatives like the ones in this verse. If you cancel the double negatives, a simpler version of this verse will be "All of us are timeless and eternal. We always existed in the past, and we will always exist in the future".

This statement, at first glance, does not seem to make sense. So let's look at an example. Let's imagine a huge lake with deep waters. The surface of the lake is usually quiet. Once in a while, a wind blows across the lake causing a wave to appear for a few seconds, then disappear soon after.

If we apply the logic of this verse and examine it from the perspective of a wave, the lake always existed before the wave came into existence. And the lake will remain long after any wave has disappeared.

Similarly, an LCD television has thousands of pixels, or dots of light, on its screen. These pixels turn on and off, due to which a moving image is created on the screen. We can enjoy a movie on the screen that will begin and end, characters and situations will come and go, but the screen will remain as a constant.

Now, according to physics, matter can never be created or destroyed, it can only undergo change from one state to another. So therefore, this shloka reiterates this physical law by saying that the atoms and molecules that comprise us always existed in the universe in some shape or forms.

But, just like the surface of the lake is a constant that lets the play of waves happen on it, there is a timeless, eternal, constant surface or "essence" that is present in the entire universe, which is the backdrop on which the play of matter happens.

At this point, what is being spoken of here may seem abstract and somewhat hard to conceptualize, but it is similar to algebra where we denote unknown quantities by variables like x and y, till such time as we deduce the right value.

Ok. So what exactly is this eternal essence? How do we see it? If it is present in us, which part of the body does it reside in?

Footnotes:

1. The wave and lake example is from the Jnyaneshwari, which is filled with tons of examples to explain complex concepts such as this one.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन का युद्ध क्षेत्र में मोह स्वजन को देख कर उत्पन्न हुआ, जिस में वह अपना साहस, उत्साह और धर्म को भूल कर मोह, ममता और आसक्ति में युद्ध के त्याग की बाते करने लगा। युद्ध के त्याग की बातों के लिए उस में धर्म शास्त्र, नीतिशास्त्र और स्वजन धर्म का आशय लिया। इस प्रकार उस के निर्णय को दर्शन शास्त्र, नीति या धर्म शास्त्र या भौतिक शास्त्र अर्थात जिस के लिए वह राज्य छोड़ने को तैयार है, उस का समाधान प्रत्येक दृष्टि से होना चाहिए।

अर्जुन एक कुशल योद्धा था, इस से पूर्व उस ने अनेक युद्ध लड़े थे, उस में साहस और वीरता की कमी नहीं थी, इसलिए उस की यह समस्या तत्कालीन थी, कोई स्थायी समस्या नही थी। अतः समस्या का हल में अध्यात्म, नीति एवम भौतिक अज्ञान का निराकरण करना भगवान श्री कृष्ण के लिए भी आवश्यक था। जिसे हम गीता के ज्ञान के लिए विभिन्न अध्याय में पढ़ेंगे। अतः अर्जुन के प्रज्ञावाद के अज्ञान को दूर करने के लिए भगवान श्री कृष्ण अध्यात्म के आत्मतत्व से अपना प्रवचन शुरू करते है। तत्वबोध के लिए आवश्यक यही है कि व्यक्ति सब से पहले हमे अपने स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए।

मैं तू और राजा लोग पहले नहीं थे यह बात नहीं और आगे नहीं रहेंगे यह बात भी नहीं ऐसा कहने का तात्पर्य है कि जब ये शरीर नहीं थे तब भी हम सब थे और जब ये शरीर नहीं रहेंगे तब भी हम रहेंगे अर्थात् ये सब शरीर तो हैं नाशवान् और हम सब हैं अविनाशी। ये शरीर पहले नहीं थे और आगे नहीं रहेंगे इस से शरीरों की अनित्यता सिद्ध हुई और हम सब पहले थे और आगे रहेंगे इस से सब के स्वरूप की नित्यता सिद्ध हुई। इन दो बातों से यह एक सिद्धान्त सिद्ध होता है कि जो आदि

और अन्त में रहता है वह मध्य में भी रहता है तथा जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह मध्य में भी नहीं रहता। यह समस्त क्रिया या भेद आत्मा, प्रकृति और उस की संचालित माया का है। जिसे भी आगे के अध्याय में पढ़ेंगे।

जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह मध्य में कैसे नहीं रहता क्योंकि वह तो हमें दीखता है इस का उत्तर यह है कि जिस दृष्टि से अर्थात् जिन मन बुद्धि और इन्द्रियों से दृश्य का अनुभव हो रहा है उन मन बुद्धि इन्द्रियोंसहित वह दृश्य प्रतिक्षण बदल रहा है। वे एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं। ऐसा होने पर भी जब स्वयं दृश्य के साथ तादात्म्य कर लेता है तब वह द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला बन जाता है। जब देखने के साधन (मनबुद्धिइन्द्रियाँ) और दृश्य (मनबुद्धिइन्द्रियों के विषय) ये सभी एक क्षण भी स्थायी नहीं हैं तो देखनेवाला स्थायी कैसे सिद्ध होगा तात्पर्य है कि देखनेवाले की संज्ञा तो दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध से ही है दृश्य और दर्शन से सम्बन्ध न हो तो देखनेवाले की कोई संज्ञा नहीं होती प्रत्युत उस का आधाररूप जो नित्यतत्व है वही रहा जाता है। उस नित्यतत्त्व को हम सब की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का आधार और सम्पूर्ण प्रतीतियों का प्रकाशक कह सकते हैं। परन्तु ये आधार और प्रकाशक नाम भी आधेय और प्रकाश्य के सम्बन्ध से ही हैं। आधेय और प्रकाश्य के न रहने पर भी उस की सत्ता ज्यों की त्यों ही है। उस सत्यतत्त्व की तरफ जिस की दृष्टि है उस को शोक कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से मैं तू और राजा लोग स्वरूप से अशोच्य हैं।

यही हिन्दू दर्शन का प्रसिद्ध पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के सब से बड़े विरोधियों ने अपने स्वयं के धर्मग्रन्थ का ही ठीक से अध्ययन नहीं किया प्रतीत होता है। स्वयं ईसा मसीह ने यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि जान ही एलिजा था। ओरिजेन नामक विद्वान ईसाई पादरी ने स्पष्ट रूप से कहा है प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्व जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप यह शरीर प्राप्त हुआ है।

कोई भी ऐसा महान विचारक नहीं है जिसने पूर्व जन्म के सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। गौतम बुद्ध सदैव अपने पूर्व जन्मों का सन्दर्भ दिया करते थे। वर्जिल और ओविड दोनों ने इस सिद्धान्त को स्वत प्रमाणित स्वीकार किया है। जोसेफस ने कहा है कि उस के समय यहूदियों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पर्याप्त विश्वास था। सालोमन ने बुक आफ विज्डम में कहा है एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ अंगों के साथ जन्म लेना पूर्व जीवन में किये गये पुण्य कर्मों का फल है। और इस्लाम के पैगम्बर मोहम्मद के इस कथन को कौन नहीं जानता जिस में उन्होंने कहा कि मैं पत्थर से मर कर पौधा बना पौधे से मर कर पशु बना पशु से मरकर मैं मनुष्य बना फिर मरने से मैं क्यों डरूँ मरने से मुझ में कमी कब आयी मनुष्य से मरकर मैं देवदूत बनूँगा।

इस के बाद के काल में जर्मनी के विद्वान दार्शनिक गोथे फिख्टे शेलिंग और लेसिंग ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। बीसवीं शताब्दी के ही ह्यूम स्पेन्सर और मेक्समूलर जैसे दार्शनिकों ने इसे विवाद रहित सिद्धान्त माना है। पश्चिम के प्रसिद्ध कवियों को भी कल्पना के स्वच्छाकाश में विचरण करते हुये अन्त प्रेरणा से इसी सिद्धान्त का अनुभव हुआ जिनमें ब्राउनिंग रोसेटी टेनिसन वर्डस्वर्थ आदि प्रमुख नाम हैं।

भगवान द्वारा अर्जुन को पहले यह कहना कि तू ज्ञानवान होकर इस तरह का व्यवहार कर रहा है, यह अनुचित है फिर उस से प्रश्न चिन्ह की भांति पूछना कि क्या इस से पहले तुम और हम नही थे या आगे नही है उस बात को दर्शाता है कि आज भी हम जिस बातों को जानते है उस को मोह या शोक के वश में नकार देते है। हम सब जानते है कि आत्मा अजर अमर है किंतु व्यावहारिक कार्यो में हमारी सुख की आशा एवम मोह, लोभ एवम अहम इस को नकार देता है। ज्ञान अंदर से नही उपजे होने के कारण महज जानकारी बन गया।

ज्ञान का होना एवम ज्ञान का आत्मसात होना दोनो में अंतर है। अद्वेत के सिंद्धांत को कौन नही जानता, किन्तु फिर भी वह इसी शरीर को अपना समझता है। अतः जब तक दो का भाव है तो द्वंद भी रहेगा।

समंदर में उठती लहरों को देख कर कोई नही सोचता की यह लहर किनारे आ कर समाप्त हो गयी क्योंकि यह जल से उत्पन्न है जो पहले भी थी और आगे भी रहेगी।

गीता में कृष्ण का कुशल वक्ता होना इस बात का भी प्रमाण है कि वो अपने उपदेश एक तरफा न देते हुए, उस में अर्जुन को सहभागी बना कर दे रहे है जिस से वो पूर्ण ज्ञान को शंका के समाधान द्वारा समझ सके।

गीता को व्यवहारिक एवम जीवन शैली में अविभक्त रूप में ला सकने का कारण यही है कि इस में अध्यात्म या दर्शन शास्त्र, नीतिशास्त्र या कर्तव्य धर्म , भौतिक शास्त्र अर्थात सांसारिक जीवन की शैली में व्यक्ति और समाज की तत्कालीन एवम स्थायी समस्याओं का हल कुशलता पूर्वक किया गया है। निरंतर पढ़ते रहने से किसी को भी अपनी समस्या का हल मिलता ही है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.12 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.13॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

"dehino 'smin yathā dehe,
kaumāraṁ yauvanaṁ jarā..।
tathā dehāntara-prāptir,
dhīras tatra na muhyati"..II

भावार्थ :

जिस प्रकार जीवात्मा इस शरीर में बाल अवस्था से युवा अवस्था और वृद्ध अवस्था को निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर की मृत्यु होने पर दूसरे शरीर में चला जाता है, ऎसे परिवर्तन से धीर मनुष्य मोह को प्राप्त नहीं होते हैं॥ १३॥

Meaning:

Just as in this body, the body dweller passes through childhood, youth and old age, so also does it obtain another body (after death); the steadfast person does not grieve over this.

Explanation:

In this body there are 4 states of experience. At physical level, what are they, kaumaram, before that, balyam, understood, childhood state; kaumaram, boyhood state, or girlhood state; yauvanam, youth and jara, means old age.

Further, in this verse, the word deha means “the body” and dehi means “possessor of the body,” or the soul. Shree Krishna draws Arjun’s attention to the fact that, since the body is constantly changing, in one lifetime itself, the soul passes through many bodies. Similarly, at the time of death, it passes into another body. Actually, what we term as “death” in worldly parlance is merely the soul discarding its old dysfunctional body, and what we call “birth” is the soul taking on a new body elsewhere. This is the principle of reincarnation. Most Oriental philosophies accept this concept of reincarnation.

It is our experience that we pass through childhood, youth and old age. We can agree that this concept is familiar to us. But note the language used in the first line. It is not you or I that passes through these phases, it is something called the "dehina" or the "body dweller". The body is born, it undergoes changes, and eventually perishes. But the body dweller remains constant through these

changes. So, this means that the body dweller is something that is separate, distinct and different from the body.

Remember the example of Mr. X and his car from the first verse? Let's revisit it. Mr. X is excited when his car is brand new. After 5-6 years, it starts to develop engine problems. After another 4-5 years, the problems have become so bad that Mr. X decides to sell this car and buy a new Mercedes S-class. Mr. X can be called a "car dweller".

As the old car's engine degraded over the years, Mr. X remained the same from the car's perspective. But when the car had lived its life, he discarded that car for another new car. And there was nothing to be sad about this point. An extreme scenario is some unscrupulous people deliberately crash their old car just so that they can get insurance money to buy a new one.

Another example It is like demolishing the old building and building a new one. Flat systems are coming. All independent houses are pulled down and converted into flats. Even though they all change, the enclosed space, no body demolished. That space is eternal, the walls appear and disappear. Similarly, the consciousness is like space, is the caitanyam, the body wall appears, the body wall is demolished. Therefore, Krishna says, tatha dehantaraprapti. Similar is the acquisition of another body.

Similarly, our body undergoes modifications of birth and aging, and eventually perishes. But the body dweller remains constant through these modifications. When the old body has become unfit to dwell in, the body dweller discards it and obtains a new body. The key point here is that the body dweller remains constant through the changes in its body, and also through the change from one body to another. And just like in the car example, a wise person should not grieve about growing old or dying, because the body dweller will always remain constant.

The body dweller is, therefore, the eternal essence that was highlighted in the prior verse. And since it is different than the physical body which perishes, it cannot be "found" in any part of the physical body.

So what exactly is this body dweller, this eternal essence? And how should we acquire the wisdom to see this eternal essence?

Footnotes

1. In one day we have several thoughts such as "I am happy", "I am sad", we join a condition to our "I". Each time do so, we are "born" as a happy person, as a sad person and so on, even if there is no new physical body that is born.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिस का देह है वह देही है उस देही की अर्थात् शरीरधारी आत्मा की इस वर्तमान शरीर में जैसे कौमार्य, बाल्यावस्था यौवनतरुणावस्था और जरा वृद्धावस्था ये परस्पर विलक्षण चार अवस्थाएँ होती हैं।

इन में पहली अवस्था के नाश से आत्म का नाश नहीं होता और दूसरी अवस्था की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती तो फिर क्या होता है कि निर्विकार आत्मा को ही दूसरी, तीसरी और चौथी अवस्था की प्राप्ति होती हुई देखी गयी है।

वैसे ही निर्विकार आत्मा को ही देहान्तर की प्राप्ति अर्थात् इस शरीर से दूसरे शरीर का नाम देहान्तर है। इसी को पुन: जन्म के सिद्धांत के रूप में लगभग सभी दर्शन शास्त्र में स्वीकार भी किया गया है।

स्मृति का यह नियम है कि अनुभवकर्त्ता तथा स्मरणकर्त्ता एक ही व्यक्ति होना चाहिये तभी किसी वस्तु का स्मरण करना संभव है। मैं आप के अनुभवों का स्मरण नहीं कर सकता और न आप मेरे अनुभवों का परन्तु हम दोनों अपने अपने अनुभवों का स्मरण कर सकते हैं।

वृद्धावस्था में हम अपने बाल्यकाल और यौवन काल का स्मरण कर सकते हैं। कौमार्य अवस्था के समाप्त होने पर बाल्यावस्था, फिर युवावस्था आती है और तत्पश्चात् वृद्धावस्था। अब यह तो स्पष्ट है कि वृद्धावस्था में व्यक्ति के साथ कौमार्य और युवा दोनों ही अवस्थायें नहीं हैं फिर भी वह उन अवस्थाओं में प्राप्त अनुभवों को स्मरण कर सकता है। स्मृति के नियम से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति में कुछ है जो तीनों अवस्थाओं में अपरिवर्तनशील है जो बालक और युवा शरीर द्वारा अनुभवों को प्राप्त करता है तथा उनका स्मरण भी करता है। इन सभी अवस्था को स्मरण करने वाला एक ही जीव होता है। विज्ञान भी कहता है कि हमारे सैंकड़ों सेल या कोश प्रतिक्षण बदलते रहते है। लगभग 7 वर्षो में सभी कोश बदल जाते है।

इस प्रकार देखने पर यह ज्ञात होता है कि कौमार्य अवस्था की मृत्यु बाल्यावस्था है और बाल्यावस्था की मृत्यु युवावस्था का जन्म है और युवावस्था की मृत्यु ही वृद्धावस्था का जन्म है वृद्धावस्था की मृत्यु पुनः जन्म है और फिर भी निरन्तर होने वाले इन परिवर्तनों से हमें किसी प्रकार का शोक नहीं होता बल्कि इन अवस्थाओं से गुजरते हुये असंख्य अनुभवों को प्राप्त कर हम प्रसन्न ही होते हैं।

जगत् में प्रत्येक व्यक्ति के इस निजी अनुभव का दृष्टान्त के रूप में उपयोग करके श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष जीवात्मा के एक देह को छोड़कर अन्य शरीर में प्रवेश करने पर शोक नहीं करता।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पीछे छिपे इस सत्य को यह श्लोक और अधिक दृढ़ करता है। अत बुद्धिमान पुरुष के लिये मृत्यु का कोई भय नहीं रह जाता।

बाल्यावस्था आदि की मृत्यु होने पर हम शोक नहीं करते क्योंकि हम जानते हैं कि हमारा अस्तित्व बना रहता है और हम पूर्व अवस्था से उच्च अवस्था को प्राप्त कर रहे हैं। उसी प्रकार एक देह विशेष को त्याग कर जीवात्मा अपनी पूर्व वासनाओं के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।

भगवान कृष्ण ने यह वचन सुननेवाले अर्जुन को शरीर के बदलते स्वरूप को उदाहरण देते हुए आत्मा के अजर अमर होने के साथ जोड़ा। जिसे हम चाहे तो व्यक्ति द्वारा एक नई कार लेने और उस को चलाने से जोड़ सकते है कुछ समय बाद कार यदि पुरानी हो जाये तो उस कार को बेच कर नई कार ले ली जाती है। कार का आनंद लेने वाला व्यक्ति वो ही रहता है। अतः परिवर्तनशील शरीर है इस मे स्थित व्यक्ति नही।बचपन, निंद्रा, यौवन से बुढ़ापे तक वो ही व्यक्ति है वो जन्म से पूर्व भी था और जन्म के बाद भी रहेगा। कभी सोचिए कि गीता पढ़ने या मोबाइल चलाने, आफिस जाने से ले कर घर, बाहर, आफिस, सिनेमा आदि में अलग अलग अनुभव एवम व्यक्तित्व में प्रकट करता व्यक्तित्व क्या यह शरीर है या शरीर मे उपस्थित कोई एक जिस को हम अक्सर "मै" कहते है।

शंकराचार्य जी शरीर को अन्नमय कोश कहते है, जिस का निर्माण अन्न से है। इसलिये यह जन्म, विकसित एवम क्षय को भी प्राप्त होता है। किंतु ज्ञानी लोग जानते है कि यह अन्नमय शरीर वह नही है। आत्मा एवम शरीर का सम्बंध क्या है। इस को सूक्ष्म व स्थूल शरीरों का संयोग कहा गया है।

वस्तुतः कृष्ण अर्जुन को समझाने का प्रयत्न कर रहे कि मिथ्या के आश्रय रह कर सत्य को नही जाना जा सकता, मिथ्या को जानने के लिये सत्य का आश्रय लेना पड़ता है। देह को सत्य समझ कर आत्मा के नित्य होने का ज्ञान नही हो सकता। गलत तथ्यों और विचारो पर आधारित ज्ञान भी अज्ञान ही है, इसलिए ज्ञान के अपने अज्ञान को समझना और उस से मुक्त होना भी ज्ञान है।

भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के ज्ञान के क्षेत्र में अपने विचार रख कर अर्जुन की निराशा में अधिक जानने की इच्छा को जाग्रत करने का प्रयास शुरू किया है। श्रोता जब तक सुनने को उत्साहित नही होता, ज्ञान देना व्यर्थ है। उस दशा में और भी ज्यादा जब पुस्तक ज्ञान श्रोता का अधिक हो क्योंकि उसे अपने ज्ञान के अहम का मतिभ्रम रहता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.13 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.14॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"mātrā-sparśās tu kaunteya,
śītoṣṇa-sukha-duḥkha-dāḥ..I
āgamāpāyino 'nityās,
tāṁs titikṣasva bhārata"..II

भावार्थ :

हे कुंतीपुत्र! सुख-दुःख को देने वाले विषयों के क्षणिक संयोग तो केवल इन्द्रिय-बोध से उत्पन्न होने वाले सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के समान आने-जाने वाले हैं, इसलिए हे भरतवंशी! तू अविचल भाव से उनको सहन करने का प्रयत्न कर॥ १४॥

Meaning:

Contact with material objects will only give joy and sorrow, heat and cold. These are transitory - they appear and disappear, so endure them bravely, O Bhaarata.

Explanation:

The human body houses five senses—the senses of sight, smell, taste, touch, and hearing—and these, in contact with their objects of perception, give rise to sensations of happiness and distress. None of these sensations is permanent. They come and go like the changing seasons.

Let's examine each aspect of this verse. The first part of this verse makes the assertion that contact with material objects, or more specifically, contact of our senses with material objects, causes us to experience heat and cold.

How does this work? The senses react to external stimuli and send an input signal to the mind. The mind processes these sensory inputs and labels some as " joy" and some as "sorrow". A hot coffee when it is freezing weather outside gives us joy, for sure. But the same cup of hot coffee in boiling hot summer will probably not give us joy, in fact it would probably give us sorrow.

More broadly, heat and cold in this verse represent polar opposites of stimuli received by all of our sense organs. If we take the organ of sight, then heat and cold represent beauty and ugliness. If we take the organ of touch, then heat and cold represent soft and hard.

Taking this even further, we can include words as well. If someone praises us, our ego-centred mind gets a boost, and we experience pleasure at that point. But if someone insults us, or criticizes us, our ego-centered mind feels threatened and we experience sorrow at that point.

So to summarize, our sense organs and our ego can get affected by external stimuli. But, instead of labelling each external stimulus as joy or sorrow, what if we remained steady through each of them? Instead of labelling these stimuli as “joy” and “sorrow”, could we begin to label them differently?

Let’s say your boss gave you a mouthful of criticism after your sales presentation at work. His words came through your ears, the ears sent a signal to your mind, and the mind took this criticism and labelled it as “sorrowful” or "painful". Instead, what would happen if we labelled this as something neutral e.g. “useful information”, and used it to improve our next presentation? And if the words were not really criticism, but were veiled or direct insults, what would happen if we labelled them as "irrelevant" or "noise" or "chatter"?

The technique of Vipassanā, which is the primary technique of self-realization in Buddhism, is based on this principle of tolerance of sense perceptions. Its practice helps eliminate desire, which, as stated in the four noble truths (the truth of suffering, the truth of the origin of suffering, the truth of the cessation of suffering, and the truth of the path leading to the cessation), is the cause of all suffering. This is not surprising considering that Buddhist philosophy is a subset of the vast Vedic philosophy.

Resistance to facts is sorrow. Definition of sorrow is what? Resistance to facts. When the resistance increases, even in the electricity when the wire resistance increases, the heat will also increase. It gets heated up. Now you may say, yes, that sounds good in theory, but how do we do it in practice? The second part of the verse gives a clue in this regard. It says that any contact with material objects is temporary, it will appear and then disappear, and it has a beginning and an end. Therefore, if we know that something has an end, why should we let it bother us? Or conversely, if we know that a pleasant situation has ended, if the child's bubble has burst, why should we grieve about it?

Again, you may say that developing this titiksha, this brave endurance, would still be difficult. Just like losing weight is not something that happens overnight, developing titiksha will also not happen overnight. You need to follow a structured, disciplined technique to do so, and the Gita will go into this topic in depth.

So then, what is the benefit of developing this titiksha? We shall see very soon.

Footnotes:

1. Heat, cold, joy, sorrow etc. are termed as "Vikaara". Vikaara means a temporary modification of some thing or some substance that is permanent.

2. So in the previous sloka, he talked about nitys atma, here he is talking about anityah anatma. Accept both. May you develop endurance. May you develop inner strength. Both physical and mental. May you increase your physical immunity and may you also increase your mental immunity. More than physical, mental immunity must be stronger.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में आत्मा को नित्य और जीवन की चारो अवस्था को अस्थायी कहते हुए, अर्जुन को शोक न करने का कारण बताने के बाद, अब अनित्य शरीर की संवेदनशीलता को शोक न करने का कारण बताते हुए, उसे भी अस्थायी बताते है।

विषय ग्रहण की वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्द्रियाँ तो केवल उपकरण हैं जिनके द्वारा जीव विषय ग्रहण करता है उन को जानता है। जीव के बिना केवल इन्द्रियाँ विषयों का ज्ञान नहीं करा सकतीं। इसलिए इंद्रियां जो ग्रहण करती है, वह मन द्वारा विश्लेषण किया जाता है और उसे मन और बुद्धि मिल कर सुख और दुख का विषय बनाती है।

यह तो सर्वविदित है कि एक ही वस्तु दो भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार का अनुभव दे सकती है। एक ही वस्तु के द्वारा जो दो भिन्न अनुभव होते हैं उस का कारण उन दो व्यक्तियों की मानसिक संरचना का अन्तर है।

यह भी देखा गया है कि व्यक्ति को एक समय जो वस्तु अत्यन्त प्रिय थी वही जीवन की दूसरी अवस्था में अप्रिय हो जाती है क्योंकि जैसे जैसे समय व्यतीत होता जाता है उस के मन में भी परिवर्तन होता जाता है। संक्षेप में यह स्पष्ट है कि जब हमारा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क होता है तभी किसी प्रकार का अनुभव भी संभव है।

जो पुरुष यह समझ लेता है कि जगत् की वस्तुयें नित्य परिवर्तनशील हैं उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं वह पुरुष इन वस्तुओं के कारण स्वयं को कभी विचलित नहीं होने देगा। काल के प्रवाह में भविष्य की घटनायें वर्तमान का रूप लेती हैं और हमें विभिन्न अनुभवों को प्रदान करके निरन्तर भूतकाल में समाविष्ट हो जाती हैं। जगत् की कोई भी वस्तु एक क्षण के लिये भी विकृत हुये बिना नहीं रह सकती । यहाँ परिवर्तन ही एक अपरिवर्तनशील नियम है।

इस नियम को समझ कर आदि और अन्त से युक्त वस्तुओं के होने या नहीं होने से बुद्धिमान पुरुष को शोक का कोई कारण नहीं रह जाता। शीत और उष्ण सफलता और असफलता सुख और दुख कोई भी नित्य नहीं हैं। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तो प्रत्येक परिवर्तित परिस्थिति के कारण क्षुब्ध या चिन्तित होना अज्ञान का ही लक्षण है। जीवन में आने वाले कष्टों को चिन्तित हुये बिना शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। सभी प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में विवेकी पुरुष इस तथ्य को सदा ध्यान में रखता है कि यह भी बीत जायेगा।

जगत् की वस्तुयें परिच्छिन्न हैं क्योंकि उनका आदि है और अन्त है। भगवान् कहते हैं कि ये वस्तुयें स्वभाव से ही अनित्य हैं। अनित्य शब्द से तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिये ही कभी सुखदायक तो कभी दुखदायक हो सकती है।

अर्जुन जो देख कर अनुभव कर रहा है, वह दुर्योधन, भीष्म, द्रोण या पांडव या अन्य सेना नायक नही कर रहे। इंद्रियां वस्तु स्थिति बतलाती है और मन उन का अन्वेषण करके पूर्व संकलित ज्ञान के आधार पर अनुभव कराता है और बुद्धि निर्णय लेती है। इसलिये एक ही वस्तु स्थिति का अनुभव हर व्यक्ति के लिये पृथक पृथक होता है। ध्यान देने की बात यही है, जो इस को अनुभव कर रहा है, उस का अनुभव भी स्थायी नही होता क्योंकि यह समय, स्थान एवम परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन शील है। इसलिये इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभव क्षणभंगुर एवम अनित्य है।

प्रस्तुत प्रसंग अर्जुन के युद्ध मे स्वजनों को देखने के बाद के मोह को ले कर है। देह में भाव की उत्पत्ति इंद्रियों द्वारा संदेश मस्तिक को दिए जाने एवम मष्तिक द्वारा उस का विश्लेषण करने पर होती है। मिठाई का आनंद भूख की मात्रा पर एवम अपनी मिठाई के प्रति पूर्वधारणा पर निर्भर है। दो व्यक्ति एक ही वस्तु के बारे में एक जैसा आनंद नही ले सकते। इसी प्रकार इंद्रियों से उत्पन्न सुख या दुख स्थायी भी नही होता। अतः अर्जुन का युद्ध भूमि में उत्पन्न मोह स्थायी नही था। इस का सीधा उदाहरण भोजन की तृप्ति से उत्पन्न सुख से ले सकते है जो 4-6 घंटे में पुनः भूख में परिवर्तित हो जाता है। यहां इस को तितिक्षा कहा गया है अर्थात सुख और दुख को सम भाव से स्वीकार करना। तितिक्षा अपनी इच्छाओं को समाप्त करना नही है, अपनी इच्छाओं से विचलित नहीं होना है, अपना विवेक बनाए रखना है। जिस को हम आगे भी विस्तार से पढ़ेगे। मुख्य यह जानना जरूरी की देह के साथ शब्द देही आता है जो देह से उत्पन्न सुख दुख को महसूस करता है। गीता के अध्ययन में हम इन दोनों शब्दो के विस्तार से अनुभव द्वारा अध्ययन करेगे।

देह के गुण में स्पर्श से अनुभूति न हो, यह संभव नही। मानव शरीर में त्वचा, आँख, कान, नाक और जिव्हा आदि पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ होती है। त्वचा महसूस करने का, आँखे देखने का, कान सुनने का, नाक गंध का पता लगाने का और जिह्वा

स्वाद को परखने का काम करती है। इन का कार्य करना जीवित होने की निशानी है, इसलिए अर्जुन के हाथ से गांडीव का छूटना, उस का सर पकड़ कर रथ में बैठना और हाथ - पांव का कांपना शुरू हुआ था। इस के प्रभाव पर नियंत्रण कैसे करे, इसको आगे पढ़ते है।

एक श्रेष्ठ प्रवक्ता के नाते भगवान श्री कृष्ण जानते थे, जब तक अर्जुन मानसिक और शारीरिक दृष्टिकोण से सुनने और समझने की स्थिति में न आए, उसे ज्ञान नही दिया जा सकता, इसलिए उस के शास्त्र के ज्ञान पर उपहास स्वरूप में व्यंग से प्रहार कर आत्मा के नित्य स्वरूप को बता कर एवम उस के दुख को क्षणिक एवम अवास्तविक कह कर, उस की शारीरिक और मानसिक संवेदना में जिज्ञासा का संचार कर रहे है। प्रायः बच्चो और अधीनस्थ को ज्ञान देते वक्त हम यह तथ्य भूल जाते है और बिना उन की मानसिक और शारीरिक स्थिति समझे आदेश देने या समझाने लगते है, और गलती से मान लेते है कि लोग नही सुनते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.14 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.15॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

"yaṁ hi na vyathayanty ete,
puruṣaṁ puruṣarṣabha..I
sama-duḥkha-sukhaṁ dhīraṁ,
so 'mṛtatvāya kalpate"..II

भावार्थ :

हे पुरुष श्रेष्ठ! जो मनुष्य दुःख तथा सुख में कभी विचलित नहीं होता है, दोनों परिस्थितियों में सम-भाव रखता है, ऐसा धीर-पुरुष निश्चित रुप से मुक्ति के योग्य होता है॥ १५॥

Meaning:

Therefore, that person who is not agitated by these (contacts with material objects), O strongest of men, and can remain balanced in joy and sorrow; that wise person is fit for immortality.

Explanation:

So Krishna says this faculty of endurance, of inner strength which is called titikṣa, is very important. It is called titikṣa. Mental endurance. Not to react immediately, not to get irritated immediately, not to punish the other person immediately; because when the endurance is very less, we get irritated very quickly. And the irritation alone becomes anger, anger alone becomes hiṁsā. So ultimately, lack of endurance alone is the cause of all the later problems.

Krishna says titikṣa is an important virtue. And he says, without titikṣa, ātma jñānam will not come.In fact, even for ātma jñānam some patience is required. He wants, any crash programme Swamiji? Instead of coming class after class and slowly learning. Slowly you are taking. I will come to your house, does not matter, immediately you should open the head and put the ātma jñānam and immediately I should walk out. Even for ātma jñānam, there is no patience.

Anyone who is steady in his determination for the advanced stage of spiritual realization and can equally tolerate the onslaughts of distress and happiness is certainly a person eligible for liberation.

Therefore any deep study requires certain mental makeup. Therefore Krishna says One who is calm and tranquil, he alone is fit for this knowledge.

Most people who read this verse immediately zero in on the last part and quickly ask the question "will this mean that if I follow the teaching in this verse, I will never die?".

Immortality here does not refer to a state where our body never perishes, or a state where we go to heaven and enjoy its delights forever.

What is meant here is that life is a series of experiences that arise, exist temporarily, and perish. The person who knows the "trick" of staying balanced through these experiences will attain a state where they will transcend the push and pull of these experiences, and will eventually get to touch that changeless, eternal essence that came up in the earlier verses. One who does not get affected by agitation is called "dheera".

So how do we bring this down to our daily lives? Let's first look at a simple question. Why do someone else's agitations do not impact us? Because we do not associate our "I" with someone else's agitations. Similarly, our "I" is also not associated with our body/mind/intellect related agitations and conditions. If there is a fragrance in the room, we do not say "I am fragrant". Therefore, we should strive to keep the joyful or sorrowful condition from associating with the "I". Instead of saying "I am sad", we can say, "there is sadness".

Furthermore, we have seen instances where people are ready to endure pain and sorrow when they attach themselves to a higher ideal. A parent will endure a lot of suffering so that he or she can educate the child. A freedom fighter will endure torture, or even die for the cause of the country's freedom. This verse is asking us to become wise and aim for the highest possible ideal, that of the eternal essence.

We have been repeatedly hearing about the eternal essence in these verses. Can we get a deeper understanding?

Footnotes:

1. The examples in this post are from Swami Chinmayananda's commentary on the Gita

2. The word "sama" contains the word "maa" meaning mother. The mother's loving attitude towards her child is same regardless of how the child behaves or misbehaves. Her attitude is "sama" or even-keel.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सुख और दुख को शान्त भाव से सहन करने का नाम तितिक्षा है जो उपनिषदों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार के लिये एक आवश्यक गुण है। इसी को ध्यान में रखकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार की तितिक्षा से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान का अभाव होता है, उन्हें जगत के सत्य होने का मिथ्या आभास रहता है,इसलिये इन्द्रियों के वश में वह लोग जगत की हर घटना के अनुसार सुख-दुख, गर्मी-सर्दी आदि का अनुभव करते हुए विचलित रहते है। युद्ध भूमि ने अर्जुन का मोह इसी का उदाहरण है। अर्जुन मोह से अपने क्षत्रिय गुण अर्थात युद्ध करने के निश्चय पर विचलित हो गया और भावना वश युद्ध त्याग एवम सन्यास लेने की बाते करने लगा। मोह में की गई बाते, अर्जुन का व्यक्तित्व नही था, इसलिए यह अस्थायी असर था।

अर्जुन युद्ध न कर के स्वर्ग का त्याग कर रहा था, जब कि भगवान श्री कृष्ण उसे कर्तव्य धर्म के पालन से मोक्ष प्राप्ति का संदेश दे रहे है। यहाँ मोक्ष का तात्पर्य अमृतत्व शब्द से किया है। इस शब्द से स्थूल शरीर का मोक्ष नहीं समझना चाहिये। यहाँ इस शब्द का उपयोग उसके व्यापक अर्थ में किया गया है। शरीर मन और बुद्धि तथा इन के द्वारा प्राप्त सभी अनुभव र्मत्य और अनित्य ही हैं। इन उपाधियों के साथ हमारा तादात्म्य होने से इन के जन्म मरणादि धर्मों से हम प्रभावित होकर दुखी होते हैं। अमृतत्व का अर्थ है जो पुरुष अपने नित्य आत्मस्वरूप को पहचान लेता है वह इन सब अनुभवों को प्राप्त कर उन के मध्य रहता हुआ भी शोक मोह को प्राप्त नहीं होता। उसे अपने अमृतस्वरूप नित्य होने का विस्मरण नहीं होता।

गीता के द्वारा महान् कवि व्यास जी भगवान् श्रीकृष्ण के माध्यम से हमें हमारे जीवन का लक्ष्य बताते हैं पूर्णत्व की प्राप्ति। अल्पकाल के लिये प्राप्त इस जीवन में हम को इस लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चिन्तित हुये बिना प्रसन्नतापूर्वक जीवन में आने वाले सुखदुखादि कष्टों को सहन करने की सर्वोच्च साधना करने का इन परिस्थितियों में हमें अवसर मिलता है। किसी भी परिस्थिति में विचलित हुए बिना जो मनुष्य अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है, उसे अमृतत्व अर्थात सफलता भी अवश्य मिलती है।

तितिक्षा का अर्थ निराश उदास या उदासीन भाव से जो हो रहा है उस को स्वीकार करना नहीं है। यहाँ विशेष रूप से कहा है कि सुखदुःख को समान समझने वाले अर्थात् जिस की दृष्टि में सुखदुःख समान हैं सुखदुःख की प्राप्ति में जो हर्षविषाद से रहित रहता है ऐसे जिस धीर बुद्धिमान् पुरुष को ये उपर्युक्त शीतोष्णादि व्यथा नहीं पहँचा सकते अर्थात् नित्य आत्मदर्शन से विचलित नहीं कर सकते। शीतोष्णादि द्वन्द्वों में जिसका मन समभाव में स्थित रहता है वह धीर पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है। यहाँ प्रयोजन निराश व्यक्ति की सहनशक्ति से नहीं बल्कि जगत् के परिर्वतनशील स्वभाव को अच्छी प्रकार समझ लेने से है। विवेकी पुरुष में यह सार्मथ्य आ जाती है कि सुख में उसे हर्षातिरेक नहीं होता और न दुख में अत्यन्त विषाद।

वास्तव में सुख-दुख हमारी भेद दृष्टि का परिणाम है, जो हमारे अनुकूल दिखता है वो हमें सुख पहुचता है और जो अनुकूल नही है उस से दुख होता है। अतः जब बुद्धि सम भाव मे होगी तो यह अनुकूलता एवम प्रतिकूलता की दृष्टि भी नही रहेगी। समाचार पत्र में किसी के मृत्यु का समाचार और स्वजन की मृत्यु के समाचार में जिस दुख के अंतर को हम महसूस करते है, वह हमारा ही आंतरिक मोह ही है।

जब तक देह के साथ हमारी अत्यन्त आसक्ति रहती है तब तक उसमें होने वाली पीड़ाओं से हम विलग नहीं हो सकते और हम व्यथित हो जाते हैं। हृदय में प्रेम अथवा घृणा के भाव के प्रादुर्भाव से यदि शारीरिक कष्ट सहने की आवश्यकता पड़ती है तो वह क्षमता हममें आ जाती है। पुत्र के प्रति प्रेम के कारण उसको शिक्षा आदि देने के लिए आवश्यकता पड़ने पर हम बड़ी प्रसन्नता से अपनी शारीरिक सुख सुविधाओं का त्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वह असुविधा हमें कष्ट नहीं पहुँचाती। इसी प्रकार बुद्धिनिष्ठ आदर्शों की प्राप्ति के लिए शरीर और मन के आरामों को भी हम त्याग देते हैं। विश्व के अनेक देशभक्त क्रान्तिकारियों ने अपने देश की स्वतन्त्रता के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट सहन करके अपने प्राणों की आहुति दी है।

कहने को सब से सरल किन्तु सब से कठिन है सम भाव होना क्योंकि मुख्य तौर पर अहम भाव से हम हर चीज़ को ग्रहण करते है। मुझे यह पसंद है, मुझे गर्मी लग रही है, यह मेरी माँ है आदि आदि। ट्रैन के देरी से चलने से कुछ एक दम बेचैन हो जाते जब कि कुछ एक दम शांत रहते है यह अंतर ट्रैन की देरी का नही अपने अंदर के भाव का है कि उसे किस प्रकार लेते है और कैसे व्यक्त करते है। समभाव की और ध्यान आकर्षित करना अर्जुन के युद्ध के मैदान के मोह को बताना है, अहम एवम मोह के कारण हम अक्सर अपने कर्तव्य को पूरा करने से चूक जाते है।

समभाव किसी भी परिस्थिति में अपने कार्य को नही करने की और इंगित नही करता वरन बताता है कि विषम परिस्थिति में भी बिना धैर्य खो कर कार्य करना चाहिए।जैसे आप के सामने कोई दुर्घटना होने से या तो आप खुद भी रोने लगे जाओ या फिर भाग दौड़ कर डॉक्टर की व्यवस्था करो। आप को दोनो में कौन सा सही लगता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.15 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.16॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥

"nāsato vidyate bhāvo,
nābhāvo vidyate sataḥ..I
ubhayor api dṛṣṭo 'ntas,
tv anayos tattva-darśibhiḥ"..II

भावार्थ :

तत्वदर्शीयों के द्वारा निष्कर्ष निकाल कर देखा गया है कि असत् वस्तु (शरीर) का कोई अस्तित्व नहीं होता है और सत् वस्तु (आत्मा) में कोई परिवर्तन नही होता है। ॥ १६॥

Meaning:

The unreal has no existence, and there is no non-existence of the real; the truth about both of these has been experienced by seers of the essence.

Explanation:

Here we encounter one of the most profound shlokas of the Gita, with layers and layers of meaning. It begins to lead us into understanding this thing called the eternal essence, and how we can experience it. At present, we may not have the capability to go too deep into it, but we can try to get its gist.

According to the Śhwetāśhvatar Upaniṣhad, there are three entities in existence:

1. God is everlasting. Thus he is sat (eternally existing). Hence, a name for him in the Vedas is sat-chit-ānand (eternal-full of knowledge-ocean of bliss).

2. The soul is imperishable, and hence it is sat. However, the body will cease to exist one day, and hence it is asat (temporary). The soul is also sat-chit-ānand, but it is also aṇu (tiny). Hence the soul is aṇu sat, aṇu chit, and aṇu ānand.

3. The entity Maya from which the world has been made is eternal, or sat. However, all material objects we see around us came into existence and will be destroyed with time. Thus, they can all be termed as asat, or temporary. So while the world itself is asat, it is only the entity Maya that is sat.

When we say that the world is asat, this should not be confused with mithyā. Further, the Taittirīya Upaniṣhad repeatedly informs us that God is all-pervading in the world: This Vedic mantra states that God not only created the world, but also permeates every atom of it. If God is truly all-pervading in this world, then how can the world have no existence? To say that the world is mithyā is to contradict the fact that God pervades the world. In this verse, Shree Krishna explains that the world does exist, but it is fleeting. Thus, he calls it as asat, or “temporary.” He does not call it mithyā, or “non-existent.”

Every object has got its own intrinsic nature; its own true nature, which we call svarūpam. It is its real nature, intrinsic nature, true nature. And also every object can have certain nature which is borrowed from outside and that borrowed nature, we will call as incidental nature. Two words, intrinsic nature and incidental nature. In Sanskrit, स्वभाव धर्म svābhāvika dharma; आगन्तुक धर्म agantuka dharma. Svābhāvika dharma means one's own dharma, agantuka dharma, one that is borrowed, incidental nature. And whatever is intrinsic nature will be there all the time. Whatever is intrinsic nature will be there all the time, whereas whatever is incidental nature, that will be only temporary. So intrinsic nature is permanent; incidental nature is temporary.

All impermanent things do not have existence as their nature. All impermanent things do not have existence as their nature; then what existence they have; they have got borrowed existence for some time. Like the make-up beauty. You will understand that better. The make-up beauty is natural beauty or borrowed beauty? Make-up beauty is made up beauty. How long will it be there? As long as the make-up is there, you go to the person's house without warning and see the original condition at home. You will not recognise them. Teeth itself is not there. It all starts from there.

So the definition of Mityā, the definition of unreality, is anything that does not enjoy existence as its real nature, but it enjoys existence only by borrowing; whereas whatever is permanent enjoys existence as its ~ what nature? intrinsic nature. That means it does not borrow existence and that is defined as Satyam

The best example heard in connection with this verse is the animal cookie example. We may have come across animal cookies. They are brand of children's cookies shaped like tigers, elephant etc. Now, some children will only want to eat the tiger shaped cookie and not the others, whereas other children may only want to eat the elephant shaped ones and not the others. But, most adults would not care about the shape of the cookie, they will eat any shape.

Why is this so? The adult has the wisdom to go straight to the essence of the cookie. He or she does not care about the name or the form taken by the cookie. And this wisdom has come by maturity, by knowing that the animals were "un-real" and they did not have "existence". Only the cookie dough was "real", just like this verse indicates.

Another example is about the newly married wife who has just received a beautiful gold bangle from her husband. Although she cares about the shape and ornamentation of the bangle, a pawn shop owner would not not really care about those things. He only cares about the weight of the bangle.

The prior verse indicated that a wise person is one who stays balanced in joy and sorrow. This verse explains that the balanced person will slowly achieve wisdom and reach a state where any object or situation will begin to lose its "real-ness". Only the eternal essence will remain as the common

element behind every object or situation. This vision is called "tattva-drishti" or "vision of the essence".Tatvadarśi means wise people. The wise people have understood realised, clearly ascertained, doubtlessly grasped. So the wise people have clearly grasped.

Moreover, the word "bhaava" has another meaning: finitude. So it means that the real is infinite, and the unreal is finite. Therefore, the wise person does not go on chasing material objects that have a finite existence and give only finite happiness.

Footnotes:

1. The Jnyaneshwari has several examples to illustrate this verse, for further reference.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता का यह एक मुख्य श्लोक में से एक है जिस को विस्तार से सातवे अध्याय में पढ़ेगे ।

वेदान्त शास्त्र में सत् असत् का विवेक अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। हमारे दर्शनशास्त्र में इन दोनों की ही परिभाषायें दी हुई हैं। असत् वस्तु वह है जिसकी भूतकाल में सत्ता नहीं थी और भविष्य में भी वह नहीं होगी परन्तु वर्तमान में उसका अस्तित्व प्रतीत सा होता है। माण्डूक्य कारिका की भाषा में जिस का अस्तित्व प्रारम्भ और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी असत् ही है हमें दिखाई देने वाली वस्तुयें मिथ्या होने पर भी उन्हें सत् माना जाता है। इस को ब्रह्म वाक्य "ब्रह्म सत्य - जगत मिथ्या" भी कहा गया है। सांख्य एवम वेदांत में ब्रह्म, पुरुष एवम त्रिगुणात्मक प्रकृति अर्थात माया को जगत के स्वरूप में हम आगे गीता में पढ़ेंगे।

स्वाभाविक ही सत्य वस्तु वह है जो भूतवर्तमान भविष्य इन तीनों कालों में भी नित्य अविकारी रूप में रहती है। सामान्य व्यवहार में यदि कोई व्यक्ति किसी स्तम्भ को भूत समझ लेता है तो स्तम्भ की दृष्टि से भूत को असत् कहा जायेगा क्योंकि भूत अनित्य है और स्तम्भ का ज्ञान होने पर वहाँ रहता नहीं। इसी प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न के बच्चों के लिये हमें कोई चिन्ता नहीं होती क्योंकि जागने पर स्वप्न के मिथ्यात्व का हमें बोध होता है। प्रतीत होने पर भी स्वप्न मिथ्या है। अत तीनों काल में अबाधित वस्तु ही सत्य कहलाती है।

वस्तु को गुण की दृष्टि से हम स्वाभाविक गुण और परिवर्तित अर्थात आगंतुक गुण में भी देख सकते है। स्वाभाविक गुण में मिट्टी है तो परिवर्तित गुण में उस से बना घड़ा है। इसी प्रकार सोना स्वाभाविक गुण है और उस से बना आभूषण परिवर्तित गुण। परिवर्तित गुण का सत उस का स्वाभाविक गुण होगा। घड़े यदि मिथ्या है तो उस का सत मिट्टी है। आभूषण यदि मिथ्या है तो उस का सत सोना है। अर्थात ज्ञानी पुरुष जब कोई वस्तु को देखता है तो उस के सत के गुण से देखता है। सत अर्थात जो आदि, मध्य और अन्त तक एक जैसा रहे। परंतु असत का आदि और अंत मध्य से पृथक होगा। क्योंकि ब्रह्म ही इस संपूर्ण जगत का आधार है इसलिए ब्रह्म को सत्य और ब्रह्मांड को मिथ्या कहा गया है। यह बात समझने के लिए संपूर्ण गीता को पढ़ना होगा, अतः इसे बाद में विस्तृत रूप में पढ़ेंगे। अभी संक्षेप में जानने की चेष्टा करते है।

शरीर मन और बुद्धि इन जड़ उपाधियों के साथ हमारा जीवन परिच्छिन्न है क्योंकि इन के द्वारा प्राप्त बाह्य विषय भावना और विचारों के अनुभव क्षणिक होते हैं। इन तीनों में ही नित्य परिवर्तन हो रहा है। एक अवस्था का नाश दूसरी अवस्था की उत्पत्ति है। परिभाषा के अनुसार ये सब असत् हैं।

संसार को हम एक ही बार देख सकते हैं दूसरी बार नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है अतः एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी दूसरे क्षण में वह वैसी नहीं रहती जैसे सिनेमा देखते समय परदेपर दृश्य स्थिर दीखता है पर वास्तवमें उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। मशीनपर फिल्म तेजीसे घूमनेके कारण वह परिवर्तन इतनी तेजीसे होता है कि उसे हमारी आँखें नहीं पकड़ पातीं । इससे भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तव में संसार एक बार भी नहीं दीखता। कारण कि शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि जिन करणों से हम संसार को देखते हैं अनुभव करते हैं वे करण भी संसार के ही हैं। अतः वास्तव में संसार से ही संसार दीखता है। जो शरीर संसार से सर्वथा सम्बन्धरहित है उस स्वरूप से संसार कभी दीखता ही नहीं तात्पर्य यह है कि स्वरूप में संसार की प्रतीति नहीं है। संसार के सम्बन्ध से ही संसार की प्रतीति होती है। इस से सिद्ध हुआ कि स्वरूप का संसार से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात संसार (शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि) की सहायता के बिना चेतनस्वरूप कुछ कर ही नहीं सकता। इस से सिद्ध हुआ कि मात्र क्रिया संसार में ही है स्वरूप में नहीं। स्वरूपका क्रिया से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

संसार का स्वरूप है क्रिया और पदार्थ। जब स्वरूप का न तो क्रिया से और न पदार्थ से ही कोई सम्बन्ध है तब यह सिद्ध हो गया कि शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि सहित सम्पूर्ण संसार का अभाव है। केवल परमात्मतत्त्व का ही भाव (सत्ता) है जो निर्लिप्तरूप से सब का प्रकाशक और आधार है।

सत्असत्, देही- देह के तत्त्व को जानने वाले महापुरुषों ने इन का तत्त्व देखा है इन का निचोड़ निकाला है कि केवल एक सत्तत्त्व ही विद्यमान है।

असत् वस्तु का तत्त्व भी सत् है और सत् वस्तु का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनों का तत्त्व एक सत् ही है दोनों का तत्त्व भावरूप से एक ही है। अतः सत् और असत् इन दोनों के तत्त्व को जाननेवाले महापुरुषों के द्वारा जानने में आने वाला एक सत्तत्त्व ही है। असत् की जो सत्ता प्रतीत होती है वह सत्ता भी वास्तव में सत् की ही है। सत् की सत्ता से ही असत् सत्तावान् प्रतीत होता है।

क्या इनके पीछे कोई सत्य वस्तु है इसमें कोई संदेह नहीं कि वस्तुओं में होने वाले परिवर्तनों के लिये किसी एक अविकारी अधिष्ठान आश्रय की आवश्यकता है। शरीर मन और बुद्धि के स्तर पर होने वाले असंख्य अनुभवों को एक सूत्र में धारण कर एक पूर्ण जीवन का अनुभव कराने के लिये निश्चय ही एक नित्य अपरिर्तनशील सत् वस्तु का अधिष्ठान आवश्यक है।

मणियों को धारण करने वाले एक सूत्र के समान हम में कुछ है जो परिवर्तनों के मध्य रहते हुये विविध अनुभवों को एक साथ बांधकर रखता है। सूक्ष्म विचार करने पर यह ज्ञान होगा कि वह कुछ अपनी स्वयं की चैतन्य स्वरूप आत्मा है। असंख्य अनुभव जो प्रकाशित हुये उनमें से कोई अनुभव आत्मा नहीं है। जीवन जो कि अनुभवों की एक धारा है योग है इस चैतन्य के कारण ही सम्भव है। बाल्यावस्था युवावस्था और वृद्धावस्था में होने वाले अनुभवों को यह चैतन्य ही प्रकाशित करता है। अनुभव आते हैं और जाते हैं। जिस चैतन्य के कारण मैंने सबको जाना जिसके बिना मेरा कोई अस्तित्व नहीं है वह चैतन्य आत्मा जन्म और नाश से रहित नित्य सत्य वस्तु है।

तत्त्वदर्शी पुरुष इन दोनों सत् और असत् आत्मा और अनात्मा के तत्त्व को पहचानते हैं। इन दोनों के रहस्यमय संयोग से यह विचित्र जगत् उत्पन्न होता है।

सरल शब्दों में हम इस को इस प्रकार समझ सकते कि छोटा बालक बिस्कुट में बने विभिन्न आकार से जैसे प्रभावित होता है वैसे एक वयस्क नही होगा क्योंकि वो जानता है बिस्किट खाने की वस्तु है और उस के आकार सत्य नही है। किसी भी सिनेमा में उस के साथ जितना एक बालक जुड़ जाता है तो वह हर दृश्य से प्रभावित हो कर अपनी भावना को व्यक्त करता है उतना एक वयस्क नही करता क्योंकि वो जानता है कि सामने जो दृश्य चल रहा है वो सत्य नही है।

यह संसार भी एक चलचित्र के समान है, जो नित्य है वो सत्य है अतः जो संसार मे हो रहा है वो अनित्य यानी सत्य नही है।क्योंकि अनित्य परिवर्तन शील है।

सत-असत का ज्ञान जिस को होता है, उसे तत्वदर्शी कहा गया है। तत्वदर्शी तो मूल तत्व का ज्ञाता है। सत-असत बुद्धि के ज्ञान की विषय वस्तु है। जब तक सत बुद्धि नही होती हम सामने प्रस्तुत विषय वस्तु के सत्य को नही जान सकते। सामान्य मनुष्य घड़े को देखता है, ज्ञानी उस के मिट्टी तत्व को, तत्वदर्शी उस मे मिट्टी को प्रकृति तत्व से देखता है। सत नित्य है और असत अनित्य है क्योंकि इस के स्वरूप का समय एवम स्थान के अनुसार रूप परिवर्तित होता रहता है।

इस प्रकार सत् आत्मा और असत् अनात्मा इन दोनों का ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है।

तत् यह सर्वनाम है और सर्व ब्रह्म ही है। अतः उसका नाम तत् है उस के भाव को अर्थात् ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं उस तत्त्व को देखना जिन का स्वभाव है वै तत्त्वदर्शी हैं उनके द्वारा उपर्युक्त निर्णय देखा गया है।

अर्जुन ज्ञानी एवम शास्त्रो के उद्धरण से अपनी व्यथा कह रहा था, अतः भगवान भी उसी ज्ञान के आधार पर वह क्या गलत सोच रहा है या समझ रहा है, बता रहे है। भगवान द्वारा अर्जुन को जो स्वजन दिख रहे थे, वे असत के मध्य स्वरूप का प्रतीक थे। यह जगत, संसार भी परिवर्तन शील है, इसलिए अर्जुन को मोह क्यों नही करना चाहिए, यह समझना जरूरी है।

कुशल प्रवक्ता श्रोता के ज्ञान को ही आधार बना कर अपना कथन शुरू करते है, जिस से श्रोता के मन मे जिज्ञासा उत्पन्न हो, और वह उस मे रुचि ले कर सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति का करे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.16 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.17॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

"avināśi tu tad viddhi,
yena sarvam idaṁ tatam..I
vināśam avyayasyāsya,
na kaścit kartum arhati"..II

भावार्थ :

जो सभी शरीरों में व्याप्त है उस आत्मा को ही तू अविनाशी समझ, इस को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७॥

Meaning:

But know that (eternal essence) to be indestructible by which all this is pervaded. Nothing ever can destroy that, the imperishable.

Explanation:

The theme of the ongoing shlokas has been understanding the nature of the eternal essence. This verse gives us two qualities that the eternal essence possesses. Note that the sanskrit word "tat" meaning "that" refers to the eternal essence in this shloka.

Firstly, the eternal essence is imperishable. It cannot be destroyed, nor is it created. In the bangle example from the prior verse, the pawn shop owner only cared about the gold content of the bangle and not its shape and form. He could melt that bangle into another ornament, melt it again and make it into another ornament, and so on. In doing so, each subsequent ornament was "created" and "destroyed", but the gold essence was imperishable and indestructible. Similarly, the eternal essence spoken of in these verses is imperishable.

Shree Krishna establishes the relationship between the body and the soul, by saying that the soul pervades the body. The soul is sentient, i.e. it possesses consciousness. The body is made from insentient matter, devoid of consciousness. However, the soul passes on the quality of consciousness to the body as well, by residing in it. Hence, the soul pervades the body by spreading its consciousness everywhere in it. The Vedas state that the soul resides in the heart:

Vinasi means perishable- Destructible. Avinasi means indestructible. So when there is pot; its essence; its Atma is what? Clay. Pot is what? Anatma. Because pot may destructed but clay remained.

Therefore, body can be destroyed. But nobody can destroy this atma. Even the God cannot destroy. Even atom bombs cannot destroy. And therefore why are you saying Bhiṣma is killed; Droṇa is killed, Bhiṣma is who? Atma. Because this is discussion from which angle. Philosophical angle, Bhiṣma is nothing but atma, Droṇa is Atma. So atma is here; you are not going to destroy anything. So why are you crying? Whatever will be destroyed, the same shall be body only. Which will be destroyed even you do not killed them as the same is perishable.

Secondly, the eternal essence pervades "all this", which means the eternal essence pervades the entire universe. If we immerse a piece of cloth into water, water pervades each and every fibre of the cloth. There is no part of the cloth that isn't dry. In the same way, from a rock, to plants, to animals, and to humans, the eternal essence pervades everything that is part of the universe. Now He says this whole creation is pervaded by this atma.

Tatam means pervaded, vyaptam. Not only atmais eternal, Atma is also all pervading like space, atma is all pervading. So if atma is all pervading, how many atmas will be there? It has to be just one, as one space is there; similarly one atma alone is there, in you, in me, in an ant, in a plant, even in God; bodies are many but the atma is one alone.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन की दुविधा थी कि वह कैसे पितामह भीष्म, गुरु द्रोण एवम अपने बांधव का वध कर सकता है। इसलिए भगवान श्री कृष्ण कहते है।

शरीर उत्पत्ति के पहले भी नहीं था, मरने के बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमान में भी इस का क्षण प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। तात्पर्य है कि यह शरीर भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में कभी भावरूप से नहीं रहता। अतः यह असत् है। इसी तरह से इस संसार का भी भाव नहीं है यह भी असत् है। यह शरीर तो संसार का एक छोटा सा नमूना है इसलिये शरीर के परिवर्तन से संसारमात्र के परिवर्तन का अनुभव होता है कि इस संसार का पहले भी अभाव था और पीछे भी अभाव होगा तथा वर्तमान में भी अभाव हो रहा है।

संसार मात्र कालरूपी अग्नि में लकड़ी की तरह निरन्तर जल रहा है। लकड़ी के जलने पर तो कोयला और राख बची रहती है पर संसार को कालरूपी अग्नि ऐसी विलक्षण रीति से जलाती है कि कोयला अथवा राख कुछ भी बाकी नहीं रहता। वह संसार का अभाव ही अभाव कर देती है। इसलिये कहा गया है कि असत् की सत्ता नहीं है।

जो सत् वस्तु है उस का अभाव नहीं होता अर्थात् जब देह उत्पन्न नहीं हुआ था तब भी देही अर्थात ब्रह्म था देह नष्ट होने पर भी देही रहेगा और वर्तमान में देह के परिवर्तनशील होने पर भी देही उस में ज्यों का त्यों ही रहता है। इसी रीति से जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय भी परमात्मतत्त्व था संसार का अभाव होने पर भी परमात्मतत्त्व रहेगा और वर्तमान में संसार के परिवर्तनशील होने पर भी परमात्मतत्त्व उस में ज्यों का त्यों ही है।

इसलिए यह जो नित्य तत्व है वह आत्मा ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, जिसे से शरीर में संवेदनशीलता है। यह हृदय में रह कर संपूर्ण शरीर को संचालित करता है। शरीर नष्ट हो जाता है किंतु नित्य आत्मा नही।

संसार को हम एक ही बार देख सकते हैं दूसरी बार नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है अतः एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी दूसरे क्षण में वह वैसी नहीं रहती जैसे सिनेमा देखते समय परदे पर दृश्य स्थिर दीखता है पर वास्तव में उस में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। मशीन पर फिल्म तेजी से घूमने के कारण वह परिवर्तन इतनी तेजी से होता है कि उसे

हमारी आँखें नहीं पकड़ पातीं। इस से भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तव में संसार एक बार भी नहीं दीखता। कारण कि शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि जिन करणों से हम संसार को देखते हैं अनुभव करते हैं वे करण भी संसार के ही हैं। अतः वास्तव में संसार से ही संसार दीखता है। जो शरीर संसार से सर्वथा सम्बन्ध रहित है उस स्वरूप से संसार कभी दीखता ही नहीं तात्पर्य यह है कि स्वरूप में संसार की प्रतीति नहीं है। संसार के सम्बन्ध से ही संसार की प्रतीति होती है। इस से सिद्ध हुआ कि स्वरूप का संसार से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात संसार (शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि) की सहायता के बिना चेतनस्वरूप कुछ कर ही नहीं सकता। इस से सिद्ध हुआ कि मात्र क्रिया संसार में ही है स्वरूप में नहीं। स्वरूप का क्रिया से कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

सर्वत्र सत्बुद्धि और असत्बुद्धि ऐसी दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। असत बुद्धि से यह परिवर्तन शील संसार सत के समान दिखता के किन्तु जिस पदार्थ को विषय करनेवाली बुद्धि बदलती नहीं वह पदार्थ सत् है और जिस को विषय करनेवाली बुद्धि बदलती हो वह असत् है। इस प्रकार सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन है।

सभी जगह समानाधिकरण में (एक ही अधिष्ठानमें) सब को दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। कोई घड़ा देख कर उसे सत कहता है तो कोई मिट्टी जिस से घड़ा बना है उसे सत मानता है।

इस प्रकार सत् आत्मा और असत् अनात्मा इन दोनों का ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है।

तत् यह सर्वनाम है और सर्व ब्रह्म ही है। अतः उसका नाम तत् है उसके भावको अर्थात् ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं उस तत्त्व को देखना जिनका स्वभाव है वै तत्त्वदर्शी हैं उनके द्वारा उपर्युक्त निर्णय देखा गया है।

तू भी तत्त्वदर्शी पुरुषों की बुद्धि का आश्रय लेकर शोक और मोह को छोड़कर तथा नियत और अनियतरूप शीतोष्णादि द्वन्द्वों को इस प्रकार मन में समझकर कि ये सब विकार है ये वास्तव में न होते हुए ही मृगतृष्णाके जलकी भाँति मिथ्या प्रतीत हो रहे हैं (इनको) सहन कर, इस प्रकार कृष्ण अर्जुन को ज्ञान के असत भाव से सत स्वरूप की ओर ले जा रहे है।

इसी सत् को 'परा प्रकृति', 'क्षेत्रज्ञ', 'पुरुष' और 'अक्ष' कहा गया है तथा असत् को 'अपरा प्रकृति क्षेत्र प्रकृति' और 'क्षर' कहा गया है।

अर्जुन भी शरीरों को लेकर शोक कर रहे हैं कि युद्ध करने से ये सब मर जायँगे। इस पर भगवान् कहते हैं कि क्या युद्ध न करने से ये नहीं मरेंगे असत् तो मरेगा ही और निरन्तर मर ही रहा है। परन्तु इस में जो सत स्वरूप है उस का कभी अभाव नहीं होगा। इसलिये शोक करना तुम्हारी बेसमझी ही है।

गीता हमे उस मोड़ पर ले जा रही है जहां आत्मा ही नित्य है, फिर भी कभी हम कृष्ण द्वारा द्रोपती के चीर हरण से प्रभावित होते, तो कभी सुदामा के चावल खाने से प्रेम में प्रभावित होते देखते है। कहने का अर्थ यही है कि आत्म तत्व एक होने के बावजूद हम किसी को उस के शरीर और उस की क्रियाओं से पहचानते है। शरीर पर पहला अधिकार प्रकृति का होता है और प्रकृति शरीर की सुरक्षा से ले हम मानसिक एवम भावनात्मक विषयो का आनंद लेते है।

जो हम इन्द्रियों से देखते है, शरीर से भोगते है, मन से सुख और दुख का आनन्द लेते है, उस मे हमारी असत बुद्धि होने से हम पहचान नही पाते। संसार मे सांसारिक वस्तुए अस्थिर है, अनित्य है, दिन-प्रतिदिन परिवर्तन शील है, अतः हमारे आनन्द के लिये स्थायी नही है।

अर्जुन पर असत बुद्धि का प्रभाव होने से वह युद्ध भूमि में अपने विरुद्ध जो लोग खड़े है, उन से संबंध को जोड़ कर देख रहा है, जो पूर्णतः प्राकृतिक है। इसलिए युद्ध में जो वह समझ रहा है कि मैं इन्हे मार रहा हूं, वह असत का भ्रम है। सत यही है कि प्राकृतिक शरीर ही नष्ट होगा, आत्मा नही।

यह अध्ययन भी उसी का पठन है और इसी में धीरे धीरे उच्च स्थल को प्राप्त कर के उस "" तत सत"" को जानते है। गीता में इस तत्व को कैसे प्राप्त किया जा सकता है और प्रकृति को कैसे आनन्द द्वारा पूरा जिया जाए यह ही आगे पढ़ेंगे, क्योंकि यह अभी शुरुवात है औऱ गीता 700 श्लोकों में समाप्त होगी जिस में से अभी 64 श्लोक ही हुए है। जिस में से कृष्ण भगवान ने

सिर्फ 7 श्लोक ही बोले है। अतः इस अतह सागर में पूरी तरह अपने उन तमाम प्रश्नों के साथ तैयार रहे जिस का उत्तर सिवाय गीता के कोई नही दे सकता।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.17 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.18॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

"antavanta ime dehā,
nityasyoktāḥ śarīriṇaḥ..I
anāśino 'prameyasya,
tasmād yudhyasva bhārata"..II

भावार्थ :

इस अविनाशी, अमाप, नित्य-स्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नष्ट होने वाले हैं, अत: हे भरतवंशी! तू युद्ध कर ॥ १८॥

Meaning:

These bodies of the eternal body-dweller will perish, it is said. It is imperishable and unfathomable. Therefore, fight, O Bhaarata.

Explanation:

Like the previous shloka did, this shloka introduces another aspect of the eternal essence. It is unfathomable, incomprehensible. In other words, it cannot be understood by our intellect like we understand other kinds of knowledge. Also notice here that the eternal essence is denoted as one entity, whereas the bodies are many. Which means it is same eternal essence that pervades all material objects and all living kinds, including human bodies.

The gross body is factually made from mud. It is mud that gets converted to vegetables, fruits, grains, lentils, and grass. Cows graze the grass and produce milk. We humans consume these edibles, and they transform into our body. So it is not an exaggeration to say that the body is created from mud. And at the time of death, when the soul departs, the body can have one of the three ends: kṛimi, viḍ, or bhasma. Either it is burnt, in which case it is converted to ashes and becomes mud. Or it is buried, in which case insects eat it and transform it into mud. Else, it is thrown into the river, in which case the sea creatures make it their fodder and excrete it as waste, which ultimately merges with the mud of the seabed.

In this manner, mud undergoes an amazing cycle in the world. Shree Krishna tells Arjun, “Within that material body is an eternal imperishable entity, which is not made of mud. That is the divine soul, the real self.”

The material body is perishable by nature. It may perish immediately, or it may do so after a hundred years. It is a question of time only. There is no chance of maintaining it indefinitely. But the spirit soul is so minute that it cannot even be seen by an enemy, to say nothing of being killed. As mentioned in the previous verse, it is so small that no one can have any idea how to measure its dimension. So from both viewpoints there is no cause of lamentation, because the living entity as he is cannot be killed nor can the material body be saved for any length of time or permanently protected. The minute particle of the whole spirit acquires this material body according to his work, and therefore observance of religious principles should be utilized. In the Vedanta-sutras the living entity is qualified as light because he is part and parcel of the supreme light. As sunlight maintains the entire universe, so the light of the soul maintains this material body. As soon as the spirit soul is out of this material body, the body begins to decompose; therefore it is the spirit soul which maintains this body. The body itself is unimportant. Arjuna was advised to fight and not sacrifice the cause of religion for material, bodily considerations.

Since Shri Krishna concludes a line of reasoning in this shloka with the word "tasmaat", let's summarize the argument that began in verse 11 of this chapter:

1) Shri Krishna told Arjuna : "You are thinking that it is evil, wrong, unlawful to fight against your kinsmen. Your logic is incorrect. You are missing the big picture."

2) "I will tell you the correct logic. You shouldn't grieve for them. The eternal essence, body dweller, is imperishable and real, whereas human bodies and material objects are perishable, and are unreal, as it were."

3) "I will also give you some practical advice. Do not get agitated by joy and sorrow caused by contact with people, objects and situations. These are temporary conditions so bear them patiently. Once you learn to remain stable through joy and sorrow, you will begin to realize the eternal essence".

4) "Now that you know that you can never destroy the imperishable eternal essence, and that you should not grieve for the perishable, get up and fight, O Arjuna".

So then, what is the bottomline? "Arjuna, you should not think that you are this human body. Associate yourself with that body-dweller, that eternal essence. It will never get destroyed, so there is no need for grief."

Therefore, Arjuna you are not killing Bhiṣma; not killing Droṇa; not killing anyone, because atma is not an object of destruction. So what all things we have seen now? Atma Nityaḥa, Atma satyaḥa, atma sarvagatḥa, atma aprameya. In English Atma is eternal, Atma is reality, atma is all-pervading; and atma is never an object, but it is ever the subject.

Here we also see that Shri Krishna, like any good teacher, is providing 2 kinds of training : theoretical and practical. From the next shloka onwards, we will examine the theoretical, or logical aspect. In the later part of the chapter we will look at the practical aspect.

Footnotes:

1. This shloka gives a pointer to the birth of the ego. When the eternal essence, which is one entity, associates itself with material objects, it gets split or fragmented. It begins to think that it is limited by whatever material object it is associated with. And when that eternal essence feels limited to a particular human body, and does everything in its power to maintain a sense of separation from everything else, that gives rise to the sense of ego.

।। हिंदी समीक्षा ।।

किसी काल में किसी कारण से कभी किञ्चिन्मात्र भी जिस में परिवर्तन नहीं होता जिस की क्षति नहीं होती जिस का अभाव नहीं होता उस का नाम अनाशी अर्थात् अविनाशी है।

अप्रमेयस्य जो प्रमा(प्रमाण) का विषय नहीं है अर्थात् जो अन्तःकरण और इन्द्रियों का विषय नहीं है उस को अप्रमेय कहते हैं। अप्रमेय में विषय के अस्तित्व को भौतिक स्वरूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किंतु उस के अस्तित्व को नकारा भी नही जा सकता।

यह नित्यनिरन्तर रहनेवाला है। किसी काल में यह न रहता हो ऐसी बात नहीं है अर्थात् यह सब काल में सदा ही रहता है।

इस अविनाशी अप्रमेय और नित्य शरीरी के सम्पूर्ण संसार में जितने भी शरीर हैं वे सभी अन्तवाले कहे गये हैं। अन्त वाले कहने का तात्पर्य है कि इन का प्रतिक्षण अन्त हो रहा है। इन में अन्त के सिवाय और कुछ है ही नहीं केवल अन्त ही अन्त है।

उपर्युक्त पदों में शरीरी के लिये तो एकवचन दिया है और शरीरों के लिये बहुवचन दिया है। इस का एक कारण तो यह है कि प्रत्येक प्राणी के स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर होते हैं। दूसरा कारण यह है कि संसार के सम्पूर्ण शरीरों में एक ही शरीरी व्याप्त है।

आत्मा द्वारा धारण किये हुये भौतिक शरीर नाशवान् हैं जबकि आत्मा नित्य अविनाशी और अप्रमेय अर्थात् बुद्धि के द्वारा जानी नहीं जा सकती। यहाँ आत्मा नित्य और अविनाशी है ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा का न पूर्णत नाश होता है और न अंशत। यह प्रत्येक शरीर में होते हुए भी एक ही है।

नित्य आत्मतत्त्व को अज्ञेय कहा है जिस का अर्थ यह नहीं कि वह अज्ञात है। इस का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानते हैं उस प्रकार इस आत्मा को नहीं जाना जा सकता। इस का कारण यह है कि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि आदि हमारे ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं वे स्वत जड़ हैं और चैतन्य आत्मा की उपस्थिति में ही वे अन्य वस्तुओं को प्रकाशित कर सकते हैं। अब जिस चैतन्य के कारण इन्द्रियाँ आदि उपकरण विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं तब उसी चैतन्य को वे प्रत्यक्ष विषय के रूप में किस प्रकार जान सकते हैं यह सर्वथा असम्भव है और इसी दृष्टि से यहाँ आत्मा को अज्ञेय कहा गया है। आत्मा स्वत सिद्ध है।

किसी भी फोटो को देखते हुए हमे जो फोटो में दिखाई नही देता किंतु वह होता है, उस को नकारा नहीं जा सकता। सभी फोटो भिन्न भिन्न होते है किंतु खींचने वाला एक ही सर्वनाम होता है।

हे भारत ! तुम युद्ध करो ये शब्द धर्म का आह्वान है प्रत्येक व्यक्ति के लिये जिस से वह पराजय की प्रवृत्ति को छोड़कर जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति का निष्ठापूर्वक और साहस के साथ सामना करे। अधर्म का सक्रिय प्रतिकार यह गीता में श्रीकृष्ण का मुख्य संदेश है।

यदि हम अभी तक का पुन्हावलोकन करे तो हमे ज्ञात होगा।

1. युद्ध के लिए तैयार अर्जुन भगवान कृष्ण को रथ सेना के मध्य ले जा कर सभी प्रतिद्वंद्विओ को देखने का अनुरोध करता है। वहां रिस्तेदारो, मित्रो एवम सगे संबंधियों को देख मोह में फस जाता है।

2. गुरु द्रोण एवम भीष्म को देख के कुछ भी का भी अनुभव करता है और उस शरीर इस मोह एवम भय में कांपने लगता है।

3. अपने मोह एवम भय तो छुपाने के लिये वो बुद्धि द्वारा तर्क कर के, त्याग भाव दिखाता है और शास्त्रों का सहारा ले कर युद्ध नही करूँगा घोषित करता है।

4. कृष्ण द्वारा ललकारने पर वो इस व्यथा में अपने को किंकर्तव्य विमूढ़ पाता है और कृष्ण की शरण मे चला जाता है, किन्तु यहां उस का अहम भी साथ है कि वो युद्ध नही करेगा।

5. कृष्ण द्वारा पहला उपदेश यह ही बताता है कि हम बिना पूरा ज्ञान को धारण किये अधूरे ज्ञान का सहारा ले कर तर्क करने लगते है।

6. शरीर या संसार अनित्य है और आप इस के निमित मात्र, आप अनित्य हो नित्य को समाप्त नही कर सकते और काल के अनुसार अनित्य को समाप्त होना ही है।

7. यदि आप अपने कर्तव्य को भूल कर इंद्रियों के वश में आ कर मोह, लोभ, काम, क्रोध या अहम के वश में आ कर कार्य करते है तो आप नित्य को नही पहचान सकते।

8. नित्य विभिन्न रूपो में एक ही है। यह सर्व व्याप्त है, यह मन, बुद्धि, ज्ञान एवम शरीर द्वारा नही जाना जा सकता क्योंकि जो अनित्य है उस से नित्य को नही जान सकते। अनित्य की सीमाएं होती है और नित्य सीमा रहित।

कृष्ण का यह ज्ञान अर्जुन के उस अहम को चोट करता है जिस तर्क के आधार पर शिष्यत्व ग्रहण करने बाद भी उस ने घोषणा की वो युद्ध नही करेगा।

9. अर्जुन का शास्त्र प्रमाण के द्वारा स्वजनों से युद्ध नही करूँगा, एक अहम का प्रमाण है। अर्जुन सांसारिक दृष्टि से युद्ध भूमि में मोह ग्रस्त है, इसलिये उसे सर्वप्रथम यही बताया गया कि जिस ज्ञान के आधार पर तुम कर्तव्य धर्म का पालन करने से चूक रहे हो, वह ज्ञान परमार्थ ज्ञान से परिपूर्ण नही है। परमार्थ ज्ञान के अनुसार सभी नित्य आत्मा के स्वरूप है, जो सामने खड़ा है वह तो अनित्य देह स्वरूपी नाशवान है। तुम युद्ध करो या न करो, इस को नष्ट होना ही है, अतः तुम्हारे लिये युद्ध करना ही बेहतर है।

10. देह अर्थात जो अनित्य है उस मे 6 विकृति बताई है। 1. है 2. उत्पन्न हुआ 3. बढ़ता है 4. परिमाण होता है. 5. क्षीण होता है 6. नाश होता है।

इस देह की 6 उर्मिया अर्थात व्यवहार बताये गए है 1. खाना, 2. पीना . 3. शोक करना 4. मोह करना 5. बुढ़ापा 6. मरण।

अतः जब मृत्यु निश्चित है तो ज्ञानी लोग देह के बंधन से मुक्त हो कर अपने कर्तव्य धर्म का पालन करते है।

अर्जुन का प्रश्न था कि वह कैसे भीष्म, द्रोण, अपने सगे बांधव और मित्रो पर प्रहार करे। यह उस का भौतिक दृष्टिकोण था, वास्तव में उस के सामने जो युद्ध करने के खड़े थे, वह नाशवान शरीर है, उस में उपस्थित आत्मा शाश्वत है। उसे कोई मार नही सकता। अतः युद्ध भूमि में क्षत्रिय हो कर युद्ध करना अर्जुन का धर्म है। किंतु वह मोह में सामने प्रतिद्वंदी नही देखते हुए, व्यक्तिगत संबंध देख रहा था। वह सोच रहा है कि वह उन की हत्या करेगा किंतु तत्वदर्शी ही जानता है कि वह कुछ नही करता, वह प्रकृति करती है। जो मरता दिखता है, वह नष्ट होनेवाला शरीर है, आत्मा नही।

एक श्रेष्ठ वक्ता की भांति यदि शुरुवात में श्रोता के मुख्य अहम को बिना समझे और उस की क्षमता को बिना जाने यदि वक्तव्य दिया जाए तो उस की रुचि वक्ता पर समाप्त हो जाएगी। भगवान श्री कृष्ण आत्मा तत्व अविनाशी स्वरूप को सामने रख कर अब अर्जुन को परमार्थ का ज्ञान देना शुरू करते है।

आगे हम इस विवेचन का विस्तार देखेगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.18 ।।

।। क्या परिवार में स्वजनों से विरोध या लड़ना - गीता के अनुसार उचित है?।। विशेष 2.18 ।।

अर्जुन का मोह स्वजनों से युद्ध नही करने का था, इसलिये वह मोहग्रस्त हो कर ज्ञान एवम शास्त्रो का सहारा ले कर युद्ध से पलायन कर के वैराग्य लेने की बात कर रहा था।

आज के युग में भी जब पारिवारिक समस्या सामने आती है तो जो व्यक्ति अति करने लगता है, तो परिवार को बांध कर रखने वाला व्यक्ति भी परिवार की मान मर्यादा, संस्कार एवम मोह में उस का खुल कर विरोध नही करता। उस की पुरजोर कोशिश हमेशा यही रहती है, परिवार नही टूटे, जो गलत रास्ते पर चल रहा है, उसे आगे पीछे कर के सही रास्ते पर लाया जाए। यह ठीक भी है।

किन्तु जब विरोध करने वाला व्यक्ति इस हद्द तक विरोध करना शुरू कर दे कि वह समस्त अधिकार हड़प कर सहने वाले व्यक्ति को बाहर करे, तो भी क्या विरोध नही करना चाहिये?

पांडव की पूर्ण संपत्ति को धूर्तता से जुए में जीतने के बाद उन का और घर की नारियों का अपमान करना आदि अनैतिकता की चरम सीमा थी। फिर समझौते के अनुसार 12 वर्ष का वनवास और 1 वर्ष का गुप्त वास के बाद हारने पर संपत्ति वापस करने के अधिकार को कपट पूर्ण नकार देना और समझोता भी नही करना, यह क्या दुर्योधन की अतिशयोक्ति नहीं थी? किंतु परिवार में बड़े बुजुर्ग उस पर जानते हुए यह गलत है, कुछ नही कह रहे थे? यह स्थिति आज भी सामयिक दृष्टिकोण से लागू होती है।

सामान्य दृष्टि से अर्जुन की यह लड़ाई अपने अधिकारों की थी, जिसे दुर्योधन ने देने से मना कर दिया। पांडव कम से कम में भी संतुष्ट थे, किन्तु दुर्योधन मतान्ध हो कर कुछ भी नही छोड़ने हो तैयार था, इसलिये युद्ध की तैयारी हो गई।

परिवार में, समाज मे, व्यापार में और रोजमर्रा के जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति मेलजोल के सहन तभी तक करता है, जब तक वह उस के सामर्थ्य के बाहर न हो। किन्तु सहन करना शक्तिशाली लोगो की मजबूरी नही, दया, क्षमा, करुणा, अहिंसा एवम मोह होता है। यह कमजोर और लाचार लोगो के लिये नही है। अर्जुन समर्थ है, यदि वह इस स्थिति में भी यदि युद्ध नही करता है तो उस की श्रेणी भी कायर एवम नपुंसक लोगो मे होगी। अतः भगवान श्री कृष्ण उस के ज्ञान की एक श्रेणी ऊपर रखते हुए, उस अपना निर्णय कहते है कि तुम अपने कर्तव्य धर्म का पालन करो और युद्ध करो।

घर -परिवार में भी जब परिस्थितियां नियंत्रण के बाहर जाए तो निर्णय लेने का अधिकार भी उसी सदस्य को होता है जो सामर्थ्यवान हो। यदि उस समय वह भी दया, मोह, करुणा, अहिंसा या बदनामी की सोच रखता है, तो वह भी कायर ही है। क्योंकि निर्णय कुछ पाने के लिये नही, अति करने वाले व्यक्ति को रोकने के लिये लिया जाता है।

क्या मोह से ग्रसित व्यक्ति को हम सुधार सकते है ?, क्या लोभ से ग्रसित व्यक्ति से हम न्याय की उम्मीद रख सकते है? उत्तर होगा, नही। जब तक उसे गहरी चोट न हो, वह अपनी चाले ही चलेगा। शंका या दुविधा उन्हें ही ज्यादा होगी जो सज्जन है। दुर्जन के लिये किसी को कष्ट देना आनंद दायक ही होगा। धृष्टराष्ट्र और दुर्योधन को युद्ध में कोई दुविधा है तो अपनी जीत की। उन को अर्जुन के समान सगे संबंधियों से कोई शिकायत है तो उन से जो उन के साथ नही खड़े।

किंतु यहां विरोध का आधार धर्म होता है, स्वार्थ नही। विरोध करने वाला अपने मन में कोई द्वेष, क्रोध, घृणा आदि नही रखता। उस के मन में विरोध करने का उद्देश्य उसे सबक देना या कष्ट देना भी नही होता। वह ही सही है और श्रेष्ठ है, यह अहम भी नही होता। इसलिए उस का विरोध न्याय और धर्म के मार्ग पर चलने का होता है। निष्काम और निस्वार्थ भाव से अनुचित का विरोध करना ही धर्म का मार्ग है। किंतु निस्वार्थ और निष्काम शब्द लिखना और पढ़ना जितना सरल है, उस से कठिन है आत्मसात करना। इसे हम आगे विस्तृत स्वरूप में गीता में कृष्ण अर्जुन संवाद में भगवान श्री कृष्ण द्वारा गीता में पढ़ेंगे।

हमे यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि व्यक्तिगत विरोध की चरम सीमा स्वजनों से विरोध ही है, इसलिए धर्म और अधर्म के आधार पर कर्तव्य कर्म को एक ज्ञानी और सामर्थ्य व्यक्ति द्वारा किस प्रकार करना चाहिए, जिस से समाज उस का अनुशरण कर सके। आज भी पद और धन के लालच में स्वार्थी लोग समाज में एक गुट, राजनैतिक पार्टी आदि बना लेते है और पूरे समाज और देश के वातावरण, सभ्यता और संस्कृति को दूषित कर देते है। सामर्थ्यवान लोग किसी पचड़े में नही

पड़ने के कारण चुप रहते है और दूरी बना लेते है। यह स्थिति भविष्य में आने वाली पीढ़ी को जो नैतिक हानि करती है, उस की गणना नही हो सकती।

यहां सब से महत्वपूर्ण बात यही है कि जिन तथ्यो एवम ज्ञान के आधार पर हम काम करते है, वह सही है कि नही, इस को श्रेष्ठ ज्ञानी ही समझ सकते है। सीमित ज्ञान के आधार पर लिये निर्णय सही नही होते। ज्ञान का आधार बढ़ाने के लिये अध्ययन एवम मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है। अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण को चुना, यही उस की सब से बड़ी विजय थी। इसलिये भ्रमित मन के लिये भगवान से कर्तव्य धर्म का आचरण करते हुए उसे युद्ध ही करने की कहा। आज के युग में युद्ध करना का व्यवहारिक अर्थ लड़ाई या हथियार उठाना नही है, जब तक आत्म रक्षा या आत्मसम्मान का प्रश्न न खड़ा हो जाए। युद्ध करने का अर्थ पुरजोर विरोध सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक आदि करना है। इस में धर्म, जाति, भाई भतीजा वाद या कोई प्रतिज्ञा, अनुग्रह, कृतज्ञता या उपकार का भार भी होना चाहिए। जो महाभारत में भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे ज्ञानी और महारथी लोग वहन कर रहे थे। यह विदुर और बलराम जैसे लोग अपने को निष्पक्ष सिद्ध करने में लगे थे।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.18 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.19॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

"ya enaṁ vetti hantāraṁ,
yaś cainaṁ manyate hatam..I
ubhau tau na vijānīto,
nāyaṁ hanti na hanyate"..II

भावार्थ :

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी है, क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी द्वारा मारा जाता है ॥ १९॥

Meaning:

A person who believes that it (the eternal essence) slays, and another who believes that it is slain, neither of these understands. It does not slay, nor is it slain.

Explanation:

The "It" in this shloka and the following shlokas refers to the body-dweller. Here Shri Krishna addresses another concern that Arjuna had raised. Arjuna thought that that he will be held responsible for killing his kinsmen, which was something that was abhorrent to him. But Shri Krishna through this shloka advised him to use the logic or the perspective of the eternal essence. The eternal essence does not kill, nor does it die from someone else trying to kill it.

Ram charit Manas states that “If we dream of our head getting cut, we will perceive its pain until we wake up.” The incident in the dream is an illusion, but the experience of the pain continues to torment until we wake up and dispel the illusion. Similarly, in the illusion that we are the body, we fear the experience of death. For the enlightened soul whose illusion has been dispelled, this fear of death vanishes.

But how does this apply to us? We are not warriors, and it is rare that we will be put in the position of killing somebody. So there must be another interpretation.This shloka equates the act of slaying to performance of any action, and being slain to any change or modification. In other words, the eternal essence never performs any action, nor does it undergo any change or modification.

Here atma's nature is further described. And here Krishna says atma akarta and abokta. Atma is akarta: you can understand means what? Does not do any action. Not an actor; not the subject of an action. Abhoka means atma is not an object of any action also, but does not get involved in any action, does not take part, not a participant. Like what Our space again. The space has accommodated all of us. Without space we cannot sit here. But space is not involved in any of our actions. Space is not the teacher. Space is not the student. Space is not any instrument also like pen or book; It never participates in any action, but without space, no action is possible. Akasavat.

Another example, let's consider at the sun. Without the sun there will be no activity or life on this planet. There would be no plant life because plants use the sun's energy. There would be no animal or human life because both cannot survive without plants. But, does the sun perform any action pertaining to growing a plant or an animal? Does it get affected by all the changes happening on earth? It does not that that "I caused this forest to grow" or "I was impacted by this eclipse". It remains actionless and changeless.

The shloka goes on to say that one who thinks that the eternal essence acts or kills is not using viveka or discrimination, and that person does not have the correct understanding. The person is still thinking at the level of the material object, or in other words, the level of the un-real, and has still not learnt to discriminate between the two.

Than who is killing whom? You can take the body is the vehicle of the soul, and destroying any living being’s vehicle is violence, which is forbidden. The Vedas clearly instruct: ma hinsyat sarvabhutsni “Do not commit violence toward anyone.” In fact, the Vedas even consider killing of animals as a crime. However, there are occasions where the rules change and even violence becomes necessary.

This is a crucial verse; in fact, many important ideas of the Gita are based on this one verse. And one of the important derivations is that if atma is akarta, it is free from all karma. And if it is free from all karmas, there is no punyam for the atma; there is no papam for the atma, there is no sancita-karma, there is no agami-karmā, there is no prarabda-karma; all these are not there for Atma. And if karmas are not there, there is no question of punarjanma also. Ātma never takes punarjanma. Why it does not take punarjanma? If it dies only; where is the question of rebirth. Since ātma does not die, it does not have janma, it does not have karma, it is free from all. Then, why are we talking about various karmas, rituals, srsddhams, tarpanams; all for whom? They are all meant for suksma sariram, which alone travels from place to place. suksma sariram requires karma; sukṣma sariram has got punarjanma. Therefore, from that standpoint alone, all the sraddhas tarpaṇams.That is why for a jnani, there is no sraddhas or tarpaṇah. In the case of ignorant person, the suksma sariram travel, therefore we have to do karma. In the case of a jnani, there is no sraddham, there is no tarpaṇam. We only have a samaradana day, we just remember that mahatma so that we will get his blessing. So there is no punarjanma for atma. These are all the corollary Krishna himself will tell later.

Footnotes:

1. Verses 19 and 20 are almost verbatim taken from the Katha Upanishad.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के मोह, अहंकार, ज्ञान और भ्रम को ले कर एक एक महत्वपूर्ण ज्ञान अध्याय 2 में दे रहे है, वही सब विस्तार से गीता में हम आगे पढ़ेंगे। इसलिए गीता के ज्ञान का सार - संक्षेप अध्याय 2 में है।

अर्जुन को यह भ्रम था कि वह युद्ध करेगा तो इस सभी स्वजनों की हत्या का जिम्मेदार होगा। अतः उस ने कहा कि " मैं युद्ध नही करूँगा" । यह मैं उस का अज्ञान एवम अहम था। वास्तव में समस्त क्रियाए इस जगत में प्रकृति करती है, जीव साक्षी, अकर्ता एवम द्रष्टा मात्र है। जीव परब्रह्म का ही अंश है अतः नित्य है। कठौनिषद में भी कहा गया है कि काल से सब ग्रसे हुए है, काल की इस क्रीड़ा को ही मरने या मारने वाली क्रिया या लौकिक संज्ञा का नाम दिया है। स्वयं परमात्मा ने भी अर्जुन को आगे कहा है, जिन्हें तुम समझ रहे हो कि मारने वाले हो, वह कालस्वरूप द्वारा पहले ही समाप्त किये हुए है।

आत्मा नित्य अविकारी होने से न मारी जाती है और न ही वह किसी को मारती है । शरीर के नाश होने से जो आत्मा को मरी मानने हैं या जो उसको मारने वाली समझते हैं वे दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और व्यर्थ का विवाद करते हैं। जो मरता है वह शरीर है और मैं मारने वाला हूँ यह भाव अहंकारी जीव का है। शरीर और अहंकार को प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा दोनों से भिन्न है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा न किसी क्रिया का कर्त्ता है और न किसी क्रिया का विषय अर्थात् उस पर किसी प्रकार की क्रिया नहीं की जा सकती।

आत्मा का संयोग जब प्रकृति से होता है तो प्रकृति सूक्ष्म शरीर से आत्मा को घेर लेती है। यही सूक्ष्म शरीर स्थूल पंच तत्व से जन्म या मृत्यु को प्राप्त होता है, कर्मो को करता है और भोगता है। इसलिए आत्मा न तो जन्म लेती है और न ही मृत्यु को प्राप्त होती है। स्थूल शरीर को मारना भौतिक दृष्टि से मृत्यु कहा गया है। ज्ञानी जो इस तत्व को जानता है, वह स्थूल शरीर के नष्ट होने पर न शोक करता है और न ही हर्ष। हम उदाहरण में आकाश ले सकते है कि वह सभी में व्याप्त है परंतु कुछ नही करता। उसे कोई समाप्त भी कर सकता। उस के अंदर वस्तुएं आती और जाती रहती है।

एक अन्य उदाहरण सूर्य के प्रकाश का ले सकते है, पृथ्वी की समस्त क्रियाओं, जीव - जंतुओं, वनस्पतियों, नदी समुंद्र आदि का केंद्र प्रकाश है किंतु प्रकाश स्वयं में कुछ नही करता। वह साक्षी और दृष्टा है। इसी प्रकार शरीर में आत्मा कुछ नही करती, जो कुछ क्रियाएं होती है, वह प्रकृति करती है। आत्मा अकर्ता और साक्षी मात्र है।

कृष्ण भगवान अर्जुन के अहम को फिर जवाब देते है जिस में उस ने अपने मित्रों, रिस्तेदारो, गुरु एवम पूज्य जनो के साथ युद्ध करने इनकार कर दिया क्योंकि वो उस की हत्या नही कर सकता। यह उस का अहम था कि वो कर्ता है और युद्ध मे वो मारने वाला है।

व्यवहारिक जीवन मे गीता का यह एवम आगे वाले श्लोक से हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि वास्तविक युद्ध प्राणी का मुक्त होना है। वो अनित्य यानी शरीर को धारण कर के मन, बुद्धि एवम अहम ने घिर कर स्वयं को कर्ता मान चुका है। उस की अनित्य आत्मा की वो व्याख्या अपने मन, बुद्धि, ज्ञान एवम अनुभव आधार पर करता है और उस के लिये शास्त्रों का सहारा लेता है।

युद्ध एक पृष्ठ भूमि है जहां संघर्ष से विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवन का लक्ष्य लोक संग्रह के निस्वार्थ भाव से कर्म करते हुए मोक्ष को प्राप्त करना है। लक्ष्य एवम आसक्ति दोनो में कोई समानता नही। अज्ञानी लोग लक्ष्य को ही धैय बना कर आसक्ति से ग्रसित हो जाते है एवम जिस कार्य को प्रकृति करती है उसे मैंने किया कहना शुरू कर देते है।

अनित्य अजन्मा एवम सतत है उस को मन, बुद्धि, ज्ञान द्वारा नही जाना जा सकता है एवम उस तक अहम ले कर भी नही पहुचा जा सकता है क्योंकि वो कर्ता भी नही है, विभिन्न शरीर मे हो कर भी वो एक ही है। मनुष्य प्रकृति के हाथों साधन मात्र है जो प्रकृति के अनुसार क्रिया करता है और अपने अहम के वश में अपने को कर्ता मानता है। उस का युद्ध मुक्त होने के लिए इस मन, बुद्धि, अनुभव, ज्ञान, मोह, लोभ और अपने अहम भाव से है, जिस को अर्जुन के रूप में युद्ध भूमि में प्रस्तुत कर के इन ही भावों की भूमिका बना कर इस गीता का महान उपदेश दिया गया। इस का पठन यदि अहम भाव के साथ नकारात्मक भाव से किया कि यह कैसे संभव है तो नित्य को ज्ञात करना भी संभव नही।

एक क्षत्रिय होने के नाते, अर्जुन का लक्ष्य युद्ध में विजय प्राप्त करने का होना चाहिए, उसे अपने सामने खड़े दुश्मन को समाप्त करना है, न की उसे यह जानना है कि कौन मर रहा है और कौन किस को मार रहा है।

आत्मा के नित्य का वर्णन कठौनिषद के वर्णन से प्रभावित है।आत्मा किस प्रकार अविकारी है इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया गया है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.19 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.20॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

"na jāyate mriyate vā kadācin,
nāyaṁ bhūtvā bhavitā vā na bhūyaḥ..I
ajo nityaḥ śāśvato 'yaṁ purāṇo,
na hanyate hanyamāne śarīre"..II

भावार्थ :

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्म लेता है और न मरता है और न ही जन्म लेगा, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जा सकता है ॥ २०॥

Meaning:

It (the eternal essence) is neither born, nor does it ever die; nor is it that having come into existence, it will again cease to exist. It is birthless, eternal, changeless and primeval, it is not slain when the body is killed.

Explanation:

Shri Krishna while teaching gives massage to Arjun for Soul:

1) First He pointed out that atma-nityaḥ, means atma is eternal.

2) Next he pointed out that atma satyaḥ, atma is the reality.

3) Then next he pointed out that atma-sarvagataḥ, which means atma is all-pervading, like space,

4) Next he pointed out atma aprameyah.Atma is never an object of experience; it is an experiencer of every thing, without itself being experienced

5) Then Krishna said atma is akarta and abhokta. It is neither a doer of any action and
therefore does not reap the result of any action.

6) And finally Krishna pointed out that atma is Nirvikaraḥ, which means Atma is free from all the six modifications like birth, growth, change, decay, and death. Therefore there is no question of birth of

atma, growth of atma, decay or death. That is what we saw in the 20th verse.This shloka reinforces the attributes of the eternal essence that we have seen so far, that it is eternal and changeless. Any material object, including the human body, goes through six types of modifications: birth, exist, change, grow, decay, and to perish. The eternal essence is beyond all these modifications, hence it is changeless.

Two additional qualities of the eternal essence are provided here. The first is that it is birthless. It is logical that it should be birthless, otherwise it could not be eternal and timeless. And since it is birthless, it would have always existed, therefore it is primeval.

Note the change in meter to highlight the importance of this shloka.

The Kaṭhopaniṣhad contains a mantra almost identical to the above verse of the Bhagavad Gita:

“The soul is not born, nor does it die; it did not spring from something, and nothing sprang from it. It is unborn, eternal, immortal, and ageless. It is not destroyed when the body is destroyed.”

The Bṛihadāraṇyaka Upaniṣhad states:

sa vā eṣha mahān aja ātmājaro ’maro ’mṛito ’bhayaḥ (4.4.25) [v26]

“The soul is glorious, unborn, deathless, free from old age, immortal, and fearless.”

Footnotes:

1. "Om namoji aadya" is the very first ovi or stanza of the Jnyaneshwari. Sant Jnyaneshwar invokes the primeval quality of the eternal essence by using the word "aadya" which means primeval.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान श्री कृष्ण आत्मा के विषय में अभी अर्जुन को समझा रहे है, उसे पहले दोहराते है।

1) सर्वप्रथम उन्होंने आत्मा को नित्य बताया, जब की प्रकृति को नित्य परिवर्तनशील कहा।

2) ब्रह्म के स्वरूप में आत्मा ही एकमात्र सत का अंश अर्थात सत है और प्रकृति माया है।

3) फिर आत्मा को सर्व व्याप्त अर्थात आकाश के समान अकर्ता होते हुए भी सभी जगह अविभाजित स्वरूप में है।

4) फिर उन्होंने आत्मा को अप्रमेय अर्थात जिस की उपस्थिति को तर्क या प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता किंतु उस की उपस्थिति हर जगह है, इसे नकारा भी नही जा सकता। यदि कोई उस को अनुभव से महसूस भी करे या न भी करे, वह सर्व व्याप्त है।

5) फिर आत्मा को अभोक्ता और अकर्ता बताया गया। जितनी भी क्रियाएं इस संसार में, ब्रह्माण्ड में होती है, वह प्रकृति द्वारा की जाती है। आत्मा मात्र दृष्टा है।

6) इस श्लोक में आत्मा के एक और गुण को पढ़ते है।सांख्य, वेदान्त एवम गीता में पुनर्जन्म एवम जीव - प्रकृति के पृथक पृथक होने के सिंद्धांत को मानती है। इस के अनुसार सृष्टि की रचना जीव का प्रकृति के साथ संयोग है। क्षय यदि किसी का होता है तो वह प्रकृति है, जो क्रिया शील है। जीव ब्रह्म का अंश है इसलिये नित्य, साक्षी एवम अकर्ता है।

शरीर में छः विकार होते हैं, उत्पन्न होना, सत्तावाला दिखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। यह शरीरी इन छहों विकारों से रहित है यही बात भगवान् इस श्लोक में बता रहे हैं कि शरीर में होने वाले समस्त विकारों से आत्मा परे है। जन्म

अस्तित्व वृद्धि विकार क्षय और नाश ये छ प्रकार के परिर्वतन शरीर में होते हैं जिनके कारण जीव को कष्ट भोगना पड़ता है। एक मर्त्य शरीर के लिये इन समस्त दुख के कारणों का आत्मा के लिये निषेध किया गया है अर्थात् आत्मा इन विकारों से सर्वथा मुक्त है। सत्य और आश्चर्य जनक तथ्य यही है कि जन्म से विकास तक हमे जो सीखना चाहिए, उसे अहम और आत्ममुग्ध हो कर खो देते है फिर विकार, क्षय और मृत्यु के क्षणों में कलपते है। यह वह काल होता है जब उठना, बैठना या चार कदम चल पाना हमे एक उपलब्धि दिखता है किंतु तब भी कामना, आसक्ति, राग - द्वेष और अहंकार हम पाल कर रखते है।

आत्मा क्योंकि जन्म ही नही लेती, न ही वृद्धि को प्राप्त होती है, इसलिये आत्मा की मृत्यु भी नही होती। यह शरीर को धारण करने से पूर्व भी है और बाद में भी रहती है। जन्म, वृद्धि मृत्यु तक के 6 विकार प्रकृति के है।

शरीर के समान आत्मा यानि जीव का जन्म नहीं होता क्योंकि वह तो सर्वदा ही विद्यमान है। तरंगों की उत्पत्ति होती है और उनका नाश होता है परन्तु उनके साथ न तो समुद्र की उत्पत्ति होती है और न ही नाश। जिसका आदि है उसी का अन्त भी होता है। उत्ताल तरंगे ही मृत्यु की अन्तिम श्वांस लेती हैं। सर्वदा विद्यमान आत्मा के जन्म और नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। अत यहाँ कहा है कि आत्मा अज और नित्य है।

कठौनिषद एवम बृहदारण्यक उपनिषद् से यह श्लोक की पुष्टि भी होती है और यह श्लोक संभवत: वही से लिया भी गया हो।

अर्जुन के ज्ञान में कितना अज्ञान छुपा है, इस तथ्य को कुशल प्रवक्ता द्वारा बताना, यही संदेश देता है कि ज्ञान देने से पूर्व श्रोता में ज्ञान को जानने की इच्छा प्रकट करना आवश्यक है।

भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन की समस्त व्यथा धैर्य पूर्ण बिना कुछ बोले सुनी, फिर अपनी बात उस की युद्ध न करने की शर्तों के बाद शुरू की। इसलिये वह किसी निर्णयात्मक आदेश की भांति ज्ञान न देते हुए, सिर्फ अर्जुन को उस के ज्ञान के तर्क से उत्तर दे रहे है कि वह कहां गलत है।

उन्नीसवें श्लोक में भगवान् ने बताया कि यह शरीरी न तो मारता है और न मरता ही है। इसमें मरने का निषेध तो बीसवें श्लोक में कर दिया अब मारने का निषेध करने के लिये आगे का श्लोक कहते हैं।

अर्जुन के मोह, भय एवम शास्त्रों के तर्क द्वारा स्थापित अहम को क्रम बद्ध जवाब देते हुए अनित्य एवम नित्य के स्वरूप का वर्णन गीता के मूल स्वरूप ज्ञान पर इस श्लोक से आप को अंतर महसूस होना चाहिए।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.20 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.21॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

"vedāvināśinaṁ nityaṁ,
ya enam ajam avyayam..I
kathaṁ sa puruṣaḥ pārtha,
kaṁ ghātayati hanti kam"..II

भावार्थ :

हे पृथापुत्र! जो मनुष्य इस आत्मा को अविनाशी, शाश्वत, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह मनुष्य किसी को कैसे मार सकता है या किसी के द्वारा कैसे मारा जा सकता है? ॥ २१॥

Meaning:

Whosoever knows this (eternal essence) to be imperishable, eternal, birthless and changeless, how can that individual, O Paartha, slay or cause anyone to be slain?

Explanation:

Imagine that you are operating a laptop that is connected to a printer. You open a document on the laptop and click the print button. The laptop sends a signal to the printer, and the document gets printed.

Now imagine that the laptop and the printer have egos and can think for themselves. The laptop will say "I initiated the printing action" whereas the printer will say "I was the receiver of the printing action".

But in reality, an electric current went from the laptop to the printer, which then caused the printing to happen. So, an engineer would never say "the laptop caused the printing to happen". It was all a play of electricity.

Therefore, our aim is what? Dropping this claim. Drop this claim on the body and claim the consciousness as myself. This is the biggest and toughest shift on the part of the seeker. Even understanding is relatively easier; but the shifting of the 'I' from the matter- bundle to the consciousness alone will take time.

But if I am consciousness, which is in the body and which will survive the dissolution of the body. So this training is called nidhidhyasanam. Training in shifting the I; from matter to consciousness; from the changing anatma to changeless atma. From the inert-bundle to the consciousness- principle. This shift- training is called Nidhidhyasanam. And out of this nidhidhyasanam, this shift becomes spontaneous and natural. Just as I am body is natural to me now; similarly, I am the atma also should become natural and that is called here Vedaḥ. Assimilated - knowledge one should have. And what is the advantage of the assimilated- knowledge.

Now what about atma? Krishna says it is neither kartaḥ nor karayitaḥ. Therefore jnani is akarta. And therefore only we call him a liberated person, because he does not have puṇyam; he does not have papam therefore he does not have punjarjanma also. All these are consequences.

The refrain is clear: "You are the eternal essence - birthless, changeless, eternal and imperishable. The eternal essence does not slay, nor does it get slain." It is repeated throughout the Gita because it will take a significant effort on our part to truly understand and internalize this message.

Everything has its proper utility, and a man who is situated in complete knowledge knows how and where to apply a thing for its proper utility. Similarly, violence also has its utility, and how to apply violence rests with the person in knowledge. Although the justice of the peace awards capital punishment to a person condemned for murder, the justice of the peace cannot be blamed, because he orders violence to another person according to the codes of justice. In Manu- samhita, the lawbook for mankind, it is supported that a murderer should be condemned to death so that in his

next life he will not have to suffer for the great sin he has committed. Therefore, the king's punishment of hanging a murderer is actually beneficial. Similarly, when Krishna orders fighting, it must be concluded that violence is for supreme justice, and thus Arjuna should follow the instruction, knowing well that such violence, committed in the act of fighting for Krishna, is not violence at all because, at any rate, the man, or rather the soul, cannot be killed; so for the administration of justice, so-called violence is permitted. A surgical operation is not meant to kill the patient, but to cure him.

A spiritually elevated soul quells the ego that makes us feel that we are the doers of our actions. In that state, one can see that the soul seated within actually does nothing. Such an elevated soul, though doing all kinds of actions, is never tainted by them. Shree Krishna is advising Arjun that he must elevate himself to that enlightened level, seeing himself as the non-doer, free from egotism, and perform his duty rather than shirk from it.

This shloka forms the seed of chapter thirteen of the Gita on the topic of knowledge of the eternal essence, or "tattva jnyaana".

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिस ने वेदों को पढ़ा, समझा और आत्मसात किया, वह वेदा कहलाता है। वेदा अर्थात जिस ने स्वयं को पहचान लिया है। जिस ने प्रकृति और अपना संबंध को भी जान लिया है। वह ब्रह्मवेदा जानता है कि इस शरीरी (आत्मा) का कभी नाश नहीं होता इस में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता इस का कभी जन्म नहीं होता और इस में कभी किसी तरह की कोई कमी नहीं आती। जो भी क्रियाएं होती है, वह प्रकृति उसे निमित्त बना कर कर रही है। वह अकर्ता और नित्य है। ऐसा जो ठीक अनुभव कर लेता है वह पुरुष कैसे किस को मारे और कैसे किस को मरवाये अर्थात् दूसरों को मारने और मरवाने में उस पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वह किसी क्रिया का न तो कर्ता बन सकता है और न करियता बन सकता है।

किंतु यह कितना कहना, सुनना और पढ़ना सरल है, उतना ही मानना कठिन है। स्वार्थ और आसक्ति में मनुष्य इन वाक्यों का सहारा ले कर चाहे कितना भी दुष्कर्म करे, उस के फल के बंधन से मुक्त नहीं हो सकता। वही वेदा है जिस ने निधिध्यासन के अभ्यास द्वारा अपनी आसक्ति, कामना और अहम को त्याग कर अपने आत्मस्वरुप को प्राप्त कर लिया हो।

अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त ब्रह्मवेदा जानता है कि सृष्टि की समस्त क्रियाए प्रकृति की है, जीव भ्रमित हो कर कर्ता भाव मे यह समझता है कि वह कर रहा है। किंतु जिस दिन उसे समझ मे आ जाता है कि वह नित्य, साक्षी एवम अकर्ता मात्र है तो फिर प्रकृति की समस्त क्रियाओ को करते हुए भी अकर्ता ही रहता है। अतः वह न तो किसी को मारता है, न ही मरता है। फिर निष्काम कर्मयोगी की भांति प्रकृति के सृष्टि यज्ञ चक्र का हिस्सा बन कर कर्म करते हुए भी अकर्ता ही है।

आत्मा की वर्णनात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती परन्तु उसका संकेत नित्य अविनाशी आदि शब्दों के द्वारा किया जा सकता है। यहाँ इस श्लोक में प्रश्नार्थक वाक्य के द्वारा पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं कि जो पुरुष अविनाशी आत्मा को जानता है वह कभी जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने में शोकाकुल नहीं होता।

आत्मा के अव्यय, अविनाशी अजन्मा और शाश्वत स्वरूप को जान लेने पर कौन पुरुष स्वयं पर कर्तृत्व का आरोप कर लेगा?

भगवान् कहते हैं कि ऐसा पुरुष न किसी को मारता है और न किसी के मरने का कारण बनता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस वाक्य का सम्बन्ध स्वयं भगवान् तथा अर्जुन दोनों से ही है। यदि अर्जुन इस तथ्य को स्वयं समझ लेता है तो उसे स्वयं को अजन्मा आत्मा का हत्यारा मानने का कोई प्रश्न नहीं रह जाता है।

इस को और सही समझने के लिए पूर्व उदाहरण सिनेमा पर चलते है जहां आप पिक्चर के अंत में हीरो विलेन को मार देता है किंतु आप दृष्टा की भांति जानते है किसी ने किसी को नही मारा या कोई वास्तव में कोई भी नही मरा। यह नाटक मात्र था

और दोनों आगे दुसरे रोल में काम करते देखे जा सकते है। सिनेमा का चित्रपट तटस्थ ब्रह्मवेदा की भांति बार बार इस कहानी को दोहराता है, उस पर किसी भी तरह का कोई असर नहीं होता।

जीव को स्वयं का ज्ञान ही चेतना का ज्ञान है। मैं कर्ता हूँ मेरा अमुक कर्तव्य है इस प्रकार जाननेवाले अज्ञानी के लिये जैसे कर्तव्य बना रहता है वैसे न जायते इत्यादि आत्मस्वरूप का विधान करने वाले वाक्यों के अर्थ को जान लेने के बाद उस ज्ञानी के लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता।क्योंकि (ज्ञानी को) मैं न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ इत्यादि जो आत्मा के एकत्व और अकर्तृत्व आदिविषयक ज्ञान है इससे अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं होता। अहंकार से मोहित हुआ अज्ञानी मैं कर्ता हूँ ऐसे मानता है तत्त्ववेत्ता मैं नहीं करता ऐसे मानता है तथा सब कर्मों का मन से त्याग कर रहता है। सांख्य के इस तत्व ज्ञान को आगे भगवान श्री कृष्ण और अधिक स्पष्ट करेंगे।

गीता अब उपदेश के पूर्ण स्वरूप में प्रवेश कर चुकी है, अब आप का रोल अर्जुन का शुरू करते है, आप अर्जुन के स्थान पर ईश्वर से मुक्ति के प्रार्थना करते है और उस से पूर्व आप जानना चाहते कि मुझे मुक्त होने के किये क्या क्या त्यागना पड़ेगा और ईश्वर आप को युद्ध भूमि के मध्य खड़ा कर के जिन्हें त्यागना है देखने को कहता है तो आप को यह संसार, मित्र, परिवार, पुत्र, मातपिता और अपनी संपत्ति आदि सभी दिखते है तो मोहवश आप काँपने लगते है और लोभ और भय से आप अपने तुच्छ ज्ञान का सहारा लेते है। ईश्वर आप को मुक्त कराने के लिए तैयार है आप ईश्वर के शिष्य भी बन चुके है किंतु, मोह, लोभ, एवम अहम के कारण इस संसार से मुक्त नही होना चाहते। अतः आगे का पठन अर्जुन की जगह स्वयं को रख कर करे तो आप समझ जायेंगे की गीता किस प्रकार जीवन शैली में मुक्त हो कर संसार मे रहने का तरीका ज्ञान, कर्म और भक्ति योग से सिखाती है। इस को सरल भाव से पढ़े और एक बार पूरी हो जाने के बाद भी पुनः पढने को तैयार रहे क्योंकि बचपन से आजतक और पूर्वजन्मो से संस्कारों में जो सीखा या अपनाया उस मे परिवर्तन लाने में समय लगता ही है। ज्ञानी पुरुष सिर्फ पुस्तक या कंप्यूटर की भांति वक्ता होता है, संत या ब्रह्मवेदा वो ही जो ज्ञान को अपने में आत्मसात करे, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने और अपने मिथ्या ज्ञान के अज्ञान को दूर करे।

किस प्रकार आत्मा अविनाशी है, अगले श्लोक में एक दृष्टांत के द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं ।

।। हरि ॐ तत सत।। 02.21 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.22॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

"vāsāṁsi jīrṇāni yathā vihāya,
navāni gṛhṇāti naro 'parāṇi..I
tathā śarīrāṇi vihāya jīrṇāny,
anyāni saṁyāti navāni dehī"..II

भावार्थ :

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ के शरीरों को त्याग कर नये शरीरों को धारण करता है॥ २२॥

Meaning:

Just as an individual will discard old clothes and wears new one, so does the body-dweller discard old bodies and obtain other new bodies.

Explanation:

This is an oft-quoted shloka, and has several aspects and interpretations, just like many shlokas we have seen in this chapter. For our purposes, the main point here is that the eternal essence, or the body dweller, is separate from the human body. When the human body has outlived its purpose, the body dweller discards it and subsequently inherits a new body.

Transference of the atomic individual soul to another body is made possible by the grace of the Supersoul. The Supersoul fulfills the desire of the atomic soul as one friend fulfills the desire of another. The Vedas, like the Mundaka Upanishad, as well as the Svetasvatara Upanishad, compare the soul and the Supersoul to two friendly birds sitting on the same tree. One of the birds (the individual atomic soul) is eating the fruit of the tree, and the other bird (Krishna) is simply watching His friend. Of these two birds -- although they are the same in quality -- one is captivated by the fruits of the material tree, while the other is simply witnessing the activities of His friend. Krishna is the witnessing bird, and Arjuna is the eating bird. Although they are friends, one is still the master and the other is the servant.

Forgetfulness of this relationship by the atomic soul is the cause of one's changing his position from one tree to another, or from one body to another. The jiva soul is struggling very hard on the tree of the material body, but as soon as he agrees to accept the other bird as the supreme spiritual master -- as Arjuna agreed to do by voluntary surrender unto Krishna for instruction -- the subordinate bird immediately becomes free from all lamentations. Both the Mundaka Upanishad (3.1.2) and Svetasvatara Upanishad (4.7) confirm this:

samane vrikshe purusho nimagno

'nisaya socati muhyamanah

jushtam yada pasyaty anyam isam

asya mahimanam iti vita-sokah

"Although the two birds are in the same tree, the eating bird is fully engrossed with anxiety and moroseness as the enjoyer of the fruits of the tree. But if in some way or other he turns his face to his friend who is the Lord and knows His glories -- at once the suffering bird becomes free from all anxieties." Arjuna has now turned his face towards his eternal friend, Krishna, and is understanding the Bhagavad-gita from Him. And thus, hearing from Krishna, he can understand the supreme glories of the Lord and be free from lamentation.

The Nyaya Darshan gives the following argument to prove the existence of rebirth: It states that if you observe a little baby, you will find it sometimes becomes happy, sometimes sad, and sometimes fearful, without any apparent reason. According to the Nyaya Darshan, the little baby is remembering its past life, and hence experiencing these emotions. However, as it grows up, the impressions of the present life are imprinted so strongly upon its mind, that they erase most past memories. Besides, the processes of death and birth are also so painful to the soul that they erase a substantial portion of the past life’s memories.

If we have followed the line of reasoning so far, a doubt emerges. How does the eternal essence, which is all-pervading and infinite, enter and leave human bodies? Shouldn't there just be one eternal essence, one body dweller? This question will be answered later in subsequent verses. For now, we should still consider the eternal essence as one but know that the one eternal essence gets attached to this body or that body, and perceives itself to be that body out of an error.

Though we shall understand lateron, but must keep in mind that here we can look at this verse from two different angles. If you go back to Tatva bodha, we had talked about stula sariram, suksma sariram, karana sariram, and atma. Four items we have talked about. At the time of death, which one gets destroyed among these four? It obviously stula and suksma, karana sariraṁ and atma remained out Of these four items; at the time of death the physical body alone perishes; which means the other three will survive the death of the body. Therefore, suksma sariram continues, which is nothing but the mind, along with the karma, vasanas, all of the puṇyam papam. What about the karaṇa sariram? karaṇa sariram also will continue. What about atma? When suksma, karaṇa sariram themselves continues, what to talk of atma; atma will also continue. So this suksma karaṇa sariram, I will together take it as sukṣma sariram (micro body), karaṇa sariram (nature) understood. suksma sariram also survives, atma (soul) also survives.

Note the change of meter in this verse.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता के प्राय उद्धृत किये जाने वाले अनेक प्रसिद्ध श्लोकों में यह एक श्लोक है जिस में एक अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टांत के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार जीवात्मा एक देह को छोड़कर अन्य देह के साथ तादात्म्य करके नई परिस्थितियों में नए अनुभव प्राप्त करता है। व्यास जी द्वारा प्रयुक्त यह दृष्टान्त अत्यन्त सुपरिचित है।

जैसे मनुष्य व्यावहारिक जीवन में भिन्नभिन्न अवसरों पर समयोचित वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा एक देह को त्यागकर अन्य प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के लिये किसी अन्य देह को धारण करता है। कोई भी व्यक्ति रात्रिपरिधान (नाईट गाउन) पहने अपने कार्यालय नहीं जाता और न ही कार्यालय के वस्त्र पहनकर टेनिस खेलता है। वह अवसर और कार्य के अनुकूल वस्त्र पहनता है। यही बात मृत्यु के विषय में भी है।

यह दृष्टांत इतना सरल और बुद्धिग्राह्य है कि इसके द्वारा न केवल अर्जुन वरन् दीर्घ कालावधि के पश्चात भी गीता का कोई भी अध्येता या श्रोता देह त्याग के विषय को स्पष्ट रूप से समझ सकता है।

अनुपयोगी वस्त्रों को बदलना किसी के लिये भी पीड़ा की बात नहीं होती और विशेषकर जब पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण करने हों तब तो कष्ट का कोई कारण ही नहीं होता। इसी प्रकार जब जीव यह पाता है कि उसका वर्तमान शरीर उसके लिये अब कोई प्रयोजन नहीं रखता तब वह उस जीर्ण शरीर का त्याग कर देता है। शरीर के इस जीर्णत्व का निश्चय इसको धारण करने वाला ही कर सकता है क्योंकि जीर्णत्व का सम्बन्ध न धारणकर्त्ता की आयु से है और न उसकी शारीरिक अवस्था से है।

हमे यह ध्यान रखना होगा दृष्टांत समझने के दिया जाता है, उसे से तुलनात्मक मूल वस्तु भिन्न ही होती है, इसलिए बहस का विषय नहीं होती। इसलिए कुछ अल्पबुद्धि जीवी जीर्ण शब्द के तात्पर्य को न समझकर इस श्लोक का विरोध या आलोचना करते हैं। उन की मुख्य युक्ति यह है कि जगत् में अनेक बालक और युवक मरते देखे जाते हैं जिन का शरीर जीर्ण नहीं था। शारीरिक दृष्टि से यह कथन सही होने पर भी जीव की विकास की दृष्टि से देखें तो यदि जीव के लिये वह शरीर अनुपयोगी हुआ तो उस शरीर को जीर्ण ही माना जायेगा। कोई धनी व्यक्ति प्रतिवर्ष अपना भवन या वाहन बदलना चाहता है और हर बार उसे कोई न कोई क्रय करने वाला भी मिल जाता है। उस धनी व्यक्ति की दृष्टि से वह भवन या वाहन पुराना या अनुपयोगी हो चुका है परन्तु ग्राहक की दृष्टि से वही घर नये के समान उपयोगी है। इसी प्रकार शरीर जीर्ण हुआ या नहीं इसका निश्चय उसको धारण करने वाला जीव ही कर सकता है।

यह श्लोक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को दृढ़ करता है जिस की विवेचना हम 12वें श्लोक में पहले ही कर चुके हैं। न्याय शास्त्र में इस की पुष्टि में कहा गया है कि जब नवजात शिशु अकारण ही मुस्कराता है, रोता है या घबराता है तो उस का कारण उस को अपना पुनर्जन्म याद आता है, उस की यह याद उस के उम्र बढ़ने के साथ ही मिटती जाती है। इसी प्रकार बतख के बच्चे को कोई तैरना नहीं सिखाता, बालक को स्तन से दूध पीना नही सीखना पड़ता। यह सब पूर्व जन्म के संस्कार होते है।

इस दृष्टांत के द्वारा अर्जुन को यह बात निश्चय ही समझ में आ गयी होगी कि मृत्यु केवल उन्हीं को भयभीत करती है जिन्हें उसका ज्ञान नहीं होता है। परन्तु मृत्यु के रहस्य एवं संकेतार्थ को समझने वाले व्यक्ति को कोई पीड़ा या शोक नहीं होता जैसे वस्त्र बदलने से शरीर को कोई कष्ट नहीं होता और न ही एक वस्त्र के त्याग के बाद हम सदैव विवस्त्र अवस्था में ही रहते हैं। इसी प्रकार विकास की दृष्टि से जीव का भी देह का त्याग होता है और वह नये अनुभवों की प्राप्ति के लिये उपयुक्त नवीन देह को धारण करता है। उसमें कोई कष्ट नहीं है। यह विकास और परिवर्तन जीव के लिये है न कि चैतन्य स्वरूप आत्मा के लिये। आत्मा सदा परिपूर्ण है उसे विकास की आवश्यकता नहीं।

वस्त्र बदलने के अधिकार की भांति देह के बदलने का अधिकार भी होता है या नही, इस विषय मे सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि यह देह नित्य अपने अनित्य काल के मोह, लोभ, अहम आदि के अनुसार तय करता है। यह अनित्य, नित्य देह के कर्म के साथ जुड़ी हमारी आसक्ति ही हमारी नई देह या वस्त्र का चुनाव करती है।

विज्ञान भी मानता है शरीर मे प्रति क्षण कोशिकाएं बदलती रहती है, कोई भी अंग जन्म से मृत्यु तक एक हो कोशिका में नही रह कर बदलता रहता है। इसी प्रकार जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी परिवर्तन शील है, प्रकृति अपने 6 विकारों में जन्म से विकसित हो कर क्षय को प्राप्त हो कर नष्ट हो जाती है किंतु जीव नित्य है जो कर्म बन्धन के कारण उस के फलानुसार पुनः प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता है और शरीर धारण करता है। यह एक प्रकार से जीव का नया वस्त्र धारण करना ही है। अर्जुन जिसे मारने की बात कर रहा है, वह नित्य जीव कभी नही मरता।

अर्जुन के लिये आत्म तत्व नया विषय होने से, उस की अधिक जानने की उत्सुकता का कारण बनता है। गीता में आप अर्जुन के पद पर भगवान को सुन रहे है और इस श्लोक के साथ गीता के उपदेश भाव मे आये अंतर को भी महसूस करेंगे। एक अच्छे प्रवक्ता का यही गुण है कि वह विषय को नीरसता के साथ न परोसे एवम समझ मे आ सके इसलिये सरल उदाहरण भी बीच बीच मे प्रस्तुत करें।

तत्वबोध में अपनी आत्मा को जानने वाले को "वेदा" कहा गया था। इसलिए तत्वविद जानता है कि शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण और आत्मा का संयुक्त स्वरूप है। पंच महाभूत के स्थूल स्वरूप में सूक्ष्म, कारण और आत्मा के प्रविष्ट होने से स्थूल शरीर में प्राण का संचार होता है। अतः वस्त्र बदलना अर्थात पुराने जीण स्थूल शरीर को त्यागना और नए स्थूल शरीर में प्रविष्ट होना है। यह शरीर प्रकृति का कोई भी जीव अर्थात पशु, पक्षी, कीड़ा, मनुष्य या अन्य कोई भी जीव हो सकता है। अतः जो नही मरता या मारा जा सकता वह सूक्ष्म, कारण और आत्मा है, आत्मा अकर्ता और साक्षी मात्र है और प्रकृति के सूक्ष्म और कारण शरीर को अज्ञान से अपना स्वरूप मान लेने से वह कर्म फल के बंधन से बंध जाता है और फिर अपने अज्ञान से कर्म फलों और संस्कार के कारण विभिन्न लोकों और जन्म मृत्यु के दुखो को भोगता है। इस सूक्ष्म, कारण और आत्मा को आगे हम विस्तृत रूप में भी पढ़ेंगे।

पहले दृष्टान्तरूप से शरीरी की निर्विकारता का वर्णन कर के अब आगे के तीन श्लोकों में उसी का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं।आत्मा अविकारी अपरिवर्तनशील क्यों है भगवान् आगे कहते हैं ।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.22।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.23-24॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥23।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥24।।

"nainaṁ chindanti śastrāṇi,
nainaṁ dahati pāvakaḥ..I
na cainaṁ kledayanty āpo,
na śoṣayati mārutaḥ"..II23II

'acchedyo 'yam adāhyo 'yam,
akledyo 'śoṣya eva ca..I
nityaḥ sarva-gataḥ sthāṇur,
acalo 'yaṁ sanātanaḥ"..II24II

भावार्थ :

यह आत्मा न तो शस्त्र द्वारा काटा सकता है, न ही आग के द्वारा जलाया जा सकता है, न जल द्वारा भिगोया जा सकता है और न ही वायु द्वारा सुखाया जा सकता है।

यह आत्मा न तो तोड़ा जा सकता है, न ही जलाया जा सकता है, न इसे घुलाया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है, यह आत्मा शाश्वत, सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर और सदैव एक सा रहने वाला है॥ २३-२४॥

Meaning:

Weapons cannot pierce this (the eternal essence), fire cannot burn this, water cannot wet this, and wind cannot dry this.

This is uncleavable, incombustible, and cannot be wetted or dried. It is eternal, all-pervading, stable, immovable and everlasting.

Explanation:

We have been hearing a lot about the eternal essence since the 13th shloka began. By now, it must be clear to us that the topic of the eternal essence is abstract, and our intellect will have difficulty in grasping it. This is perfectly normal, because the eternal essence cannot be fully comprehended by the intellect. But we can get close to it through negation.

For the teacher to merely impart perfect knowledge is not enough; for that knowledge to be useful, it must sink deep into the heart of the student. Hence a skillful teacher often repeats a point previously made

What does negation mean? Let's say you want your friend to buy a shirt for you from the store. You will inform your friend about that the shirt is fuchsia color. If you were to use negation, you would say that the shirt is not regular pink, not dark pink, not fully bright pink etc.

Similarly, the eternal essence here is indicated by negation, that it cannot be cut, cannot be wetted or dried etc.

Therefore what is atma's nature? Nityaḥ. So you are immortal. The essense is that the immortality you need not get; immortality is your very nature. These are the innermost urge of everyone's thought. I should not disappear from the earth. One thing we cannot stand. I should not disappear. So we cannot physically get immortality, we try to become immortal through indirect methods; we give our names to our childrens or grand children; at least that way; or take photographs and hang all over; or start some institutions and name it after yourselves. We want to leave something and live on. This is the innermost urge. So mortality of other thing we are ready to accept. But I am mortal; I can never accept. Do you know why we are not able to accept it? Why we are not able to accept mortality? Because it is unnatural. We are naturally immortal and that is why, we are not able to accept mortality. If mortality is natural to us, we would have been comfortable. When somebody is happy, do we make and complaint? I am very much worried now a days because I do not know why I am so much happy all the time. Morning I am happy. 11 o'clock I am happy. Night also I am happy. I do not know what has happened to me? No. Whereas, when unhappiness comes, you are not able to stand? So what is the rule? What is unnatural, you reject.

The Mayavadi cannot explain how the individual soul came into existence simply by ignorance and consequently became covered by illusory energy. Nor was it ever possible to cut the individual souls from the original Supreme Soul; rather, the individual souls are eternally separated parts of the Supreme Soul. Because they are atomic individual souls eternally (sanatana), they are prone to be covered by the illusory energy, and thus they become separated from the association of the Supreme Lord, just as the sparks of a fire, although one in quality with the fire, are prone to be extinguished when out of the fire. In the Varaha Purana, the living entities are described as separated parts and parcels of the Supreme. They are eternally so, according to the Bhagavad-gita also. So, even after being liberated from illusion, the living entity remains a separate identity, as is evident from the teachings of the Lord to Arjuna. Arjuna became liberated by the knowledge received from Krishna, but he never became one with Krishna.

Shri Krishna will provide us with a few more shlokas about the eternal essence, after which the topic will change to something much more tangible and concrete.

Footnotes

1. The Jnyaneshwari, in the commentary for this shloka, declares that the eternal essence cannot be comprehended by our intellect.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अदृष्ट वस्तु को सदैव दृष्ट वस्तुओं के द्वारा ही समझाया जा सकता है। परिभाषा मात्र से वह वस्तु अज्ञात ही रहेगी।उस स्थिति में जब प्रकृति के ज्ञान से भ्रमित जीव अपने स्वरूप को भूल कर, प्रकृति के ज्ञान को ही सत्य मान चुका है।

पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। भगवान् ने इन में से चार ही महाभूतों की बात कही है कि ये पृथ्वी जल तेज और वायु इस शरीरी में किसी तरह की विकृति नहीं कर सकते परन्तु पाँचवें महाभूत आकाश की कोई चर्चा ही नहीं की है। इस का कारण यह है कि आकाश में कोई भी क्रिया करने की शक्ति नहीं है। क्रिया (विकृति) करने की शक्ति तो इन चार महाभूतों में ही है। आकाश तो इन सब को अवकाश मात्र देता है।

आकाश की तुलना आत्मा के सर्व व्याप्त स्वरूप से हम पहले ही पढ़ चुके है।

पृथ्वी जल तेज और वायु ये चारों तत्त्व आकाश से ही उत्पन्न होते हैं पर वे अपने कारणभूत आकाश में भी किसी तरह का विकार पैदा नहीं कर सकते।

यह तो स्पष्ट ही है कि जिस वस्तु का नाश प्रकृति की विनाशकारी शक्तियाँ अथवा मानव निर्मित साधनों एवं शस्त्रास्त्रों के द्वारा संभव नहीं है उसे नित्य होना चाहिये।

नित्य को स्थिर, अचल, सर्वगत एवम सनातन कहा गया है। सनातन से तातपर्य आदि काल से भविष्य काल तक होना, एवम स्थिर का अर्थ परिवर्तन हीन एवम अचल का अर्थ गतिहीन ले सकते है।

सांसारिक व्यक्ति को कोई अज्ञात वस्तु की जानकारी देना जो मन, बुद्धि, इंद्रियों एवम प्रकृति से बाहर हो तो इसी संसार की कठिनतम वस्तु से तुलनात्मक देने से ग्राह्य हो सकती है। अन्यथा नित्य की कोई परिभाषा नही हो सकती इसलिए यहां नकारात्मक भाव से समझाया गया है।

उदाहरण के तौर पर पानी का रंग समझाने के लिये हम सहारा ले कर बोलते है कि यह सफेद, काला, नीला, पीला आदि कुछ भी नही है।

मनुष्य का ज्ञान सीमित है, जो वह समझ सकता है वह बुद्धि का विषय है, जो वह ग्राह्य कर सकता है वह इन्द्रियों का विषय है, जो वह नही कर सकता वह उस की क्षमता का विषय है। अतः जब बात आत्मा की हो तो उस का वर्णन उस समस्त तथ्यों एवम खोजो से परे है, जो वह प्रकृति के द्वारा समझता है। क्योंकि प्रकृति अनित्य अपने 6 विकारों के साथ उस को देखने मिलती है। अर्जुन भी यही समझ रहा है कि युद्ध होगा तो वह यदि सब स्वजनों को मार देगा तो इन मे से कोई भी नही रहेगा। किन्तु तत्वज्ञानी जानता है कि आत्मा कभी नही मरती, नष्ट शरीर होता है, आत्मा वस्त्र बदलने की भांति पुनः नया शरीर धारण कर लेती है। अतः भगवान आत्मा का वर्णन नकारत्मक तुलना करते हुए करते है।

आत्मा तत्व स्वयं में अकर्ता और नित्य है, इस उस के नए वस्त्र धारण करना या किसी भी क्रिया का करना संभव नही। अतः यह सब आत्मा से लिपटा हुआ सूक्ष्म और कारण शरीर करता है। शुद्ध आत्मा के गुण और सूक्ष्म और कारण शरीर से लिपटी आत्मा में अंतर प्रकृति की क्रिया का होता है। जो बार बार जन्म लेती है।

जब नित्य अविभाजित है तो यह हर मनुष्य, जीव एवम प्राणी में एक होते हुए भी कैसे अलग अलग विभाजित है, इस का आज तक कोई उत्तर नही है कि परम् तत्व से कैसे विभाजित हो कर यह तत्व हर प्राणी में आता है और फिर पुनः इस तत्व को क्यों उस परम तत्व से मिलना है। ईश्वर ने संसार की रचना इस तत्व से और प्रकृति से की। किन्तु क्यों ?

आत्म तत्व के बारे में आगे भी कुछ श्लोक है, उस मे हम अपने सीमित ज्ञान से इस तत्व को जानेगे। आज स्वयम ईश्वर हमे ज्ञान देने खड़े है अतः उन से ज्यादा कोई भी नही समझा सकता।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02. 23-24 ।।

।। अज्ञान से ज्ञान की ओर ।। विशेष 02. 23-24 ।।

वेदों में ज्ञान को तीन पृथक विभागो में प्राप्त कर सकते है। प्रथम भाग धर्म है जिसे सामान्य व्यक्ति को जीवन व्यापन के नियम और उपनियम, रीति - रिवाजों में बांटा गया है, इन सब का उद्देश्य सामान्य व्यक्ति में अध्यात्म बना रहे। प्रायः हिंदू परिवारों में यह नियम आधारित धर्म का पालन सदियों से हो रहा है। इस ले लिए पुराणों एवम नीति शास्त्र भी कहे और पढ़े जाते है। मंदिरों में पूजा की पद्धति से ले कर सामाजिक और पारिवारिक व्यवहार हम इस से सीखते है। यह प्रथम भाग धर्म कहलाता है। इसी का कोई भाग मत और संप्रदाय भी कहलाता है। सभी के धर्म के नियम विभिन्न होने से एकरूप नही होते, जब की सभी धर्मो का मूल उद्देश्य एक होता है। अज्ञानी लोग स्वार्थ में अपने अपने धर्म के आधार पर ही विभाजित हो कर झगड़ते भी रहते है।

द्वितीय विभाग अध्यात्म का है, जिसे से हम प्रकृति और आत्म तत्व को जान सकते है। इस के लिए विवेक बुद्धि और अभ्यास से हम सनातन ज्ञान को ज्ञानी पुरुष के सत्संग और उन का शिष्यत्व ग्रहण कर के सीखते है। इस ज्ञान से अभ्यास में योग आदि द्वारा सिद्धियां भी प्राप्त हो जाती है, किंतु ज्ञानी पुरुष में द्वैत भाव बना रहता है जिस का कारण उस का अहंकार है।अध्यात्म का अन्य स्वरूप ज्ञान है। जिसे ज्ञान है, वह धर्म के मार्ग पर लोगो को भी ले कर चलता है।

तृतीय विभाग में अध्यात्म द्वारा अध्यास किया जाता है जिस से अहम को समाप्त करते हुए जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म स्वरूप जीव ही जान सकता है कि आत्मा क्या है? आध्यात्मिक जीव का ज्ञान बुद्धि का ज्ञान है। अर्जुन ने जो ज्ञान प्राप्त किया था वह आध्यात्मिक ज्ञान था, इसलिए वह शास्त्रों की बाते कर रहा था। ब्रह्म स्वरूप व्यक्ति कुछ नही करता किंतु उस के अधीन प्रकृति ही वह सब करती है जिसे सामान्य जन ब्रह्म स्वरूप व्यक्ति द्वारा किया समझता है।

प्रस्तुत श्लोक एवम ज्ञान अर्जुन के उस सनातन धर्म के अधपके ज्ञान पर प्रहार है जिस में वह धर्म शास्त्र का सहारा ले कर कहता है कि युद्ध मे समाज को दिशा देने वाले नष्ट हो जाएंगे। स्त्रियां भ्रष्ट हो जाएगी। कुल का नाश होने से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाता है। अर्जुन मानता था कि कुलधर्म ही सनातन है, कुलधर्म ही शाश्वत है। सनातन धर्म की विवेचना काम, मोह एवम लोभ के आधार पर की जाती है तो कोई भी धर्मशास्त्र आत्मा के शुद्ध एवम नित्य ज्ञान को प्रकाशित नही करता। वह प्रकृति का राजसी या तामसी ज्ञान ही होता है। सात्विक ज्ञान और उस से परे का ज्ञान ही ब्रह्म अर्थात आत्मा का ज्ञान है।

भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के इस रूढ़ि वादी ज्ञान को खंडित करते है एवम स्पष्ट करते है कि सनातन धर्म आत्म तत्व का ज्ञान है। शास्त्रो में वर्णित ज्ञान को रूढ़िवादी बना कर उसे ही सनातन धर्म समझना गलत है।

आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त अनेक व्यक्ति संसार के लिए लोकसंग्रह का कार्य करते हुए ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते है कि उन को पूजने और मानने वाले अपने निजी स्वार्थ के रहते, उन को परमात्मा का स्वरूप मानते है और आपस में बहस करते है या लड़ते है। ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त प्रत्येक जीव में विभिन्नता हो ही नही सकती। इसलिए अज्ञानता के कारण अध्यात्म पर आधारित अर्ध परिपक्व ज्ञान से जो मत या संप्रदाय या धर्म के अनुयायी, में अपने मार्ग को श्रेष्ठ बताने और दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ होती है। जबकि सनातन सत्य यही है कि ब्रह्म के स्वरूप में कोई विभाजन या भेद ही नही है।

हमे यह भी समझना जरूरी है कि परब्रह्म की स्थिति को प्राप्त परमात्मा स्वरूप को जो शिष्य बन कर अपनाता है या उन के मत या विचारो को मान कर एक वर्ग विशेष बना कर पूजता है, उसे गति या मुक्ति मत या संप्रदाय बना कर या पूजने या भक्ति से तब तक नही मिलती, जब तक वह अध्यास से अपने अज्ञान को दूर नही करता। कहने का तात्पर्य यही है, ब्रह्मवित स्थिति प्रत्येक जीव की व्यक्तिगत है, सामूहिक नही हो सकती। परंतु सामूहिक सात्विक गुणों के साथ रहा जा सकता है।

आज भी अनेक हिन्दू व्हाट्सएप्प पर सदाचारों से भरे संदेश भेज कर अपने सनातन धर्म के ज्ञान का कर्तव्य निभा कर इतिश्री कर देते है। कोई भी आत्म तत्व के ज्ञान की गम्भीरता को नही समझ पा रहा। छुआछूत, जातिवाद, कर्मकांड एवम अतिशयोक्ति से भरे आध्यात्मिक ज्ञान की बाते करते है किंतु मन- बुद्धि में विकार भी रखते है। स्वधर्म या सनातन धर्म की रक्षा करने हेतु एवम अन्याय के विरुद्ध कर्तव्य धर्म के पालन की बजाय अर्जुन की भांति अज्ञान से भरे अपने सनातन धर्म की बाते करते है। अपने आचरण एवम विचारों में कोई परिवर्तन लाये, भावनाओ को प्रभावित किये वचन एवम चित्रों का प्रेषण यही सिद्ध करता है की व्यक्ति का सनातन धर्म का शास्त्र ज्ञान बिना आत्मतत्व है। हमलोग बिना पढ़े ही परंपरागत प्राप्त ज्ञान को सनातन ज्ञान समझ कर तर्क भी करने लग जाते है, जैसे अर्जुन ने कुल के नाश एवम जिन के हम जीना चाहते,उन को मार कर ऐशवर्य के भोग को ही अपने लिये शास्त्र ज्ञान समझ लिया है जबकि भोग-विलास तो सनातन धर्म मे ज्ञान की परिभाषा मे भी नही लिया जाता।

आतातायी एवम दुष्ट लोगो के संहार की जगह अर्जुन कुलधर्म एवम मोह में यदि सनातन धर्म के ज्ञान का सहारा ले रहा है तो भगवान श्री कृष्ण उस के ज्ञान की पूर्णतः पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए, वास्तविक सनातन धर्म के ज्ञान को बताना शुरू करते है जो आत्मा के ज्ञान से शुरू होता है।

अर्ध एवम मिथ्या ज्ञान, अज्ञान से ज्यादा खतरनाक होता है क्योंकि इस मे मनुष्य न केवल गलत तथ्यों का सहारा ले कर अपने अधर्म को सही ठहराता है, समाज एवम संस्कृति को भी दूषित करता है।

धर्म-अधर्म को न समझने से ही मनुष्य अपने सनातन धर्म की गंभीरता एवम गहराई से वंचित हो कर अपने ही धर्म का नाश भी करता है।

आज हम में कितने लोग धर्म ग्रंथो का अध्ययन करते है, अध्ननन के बात उस पर मनन करते है। मनन के बात उसे आत्मसात करते है। जब तक सनातन धर्म को आत्म सात नही किया जाता, तब तक सनातन धर्म के प्रवाचक शास्त्र का सहारा ले कर समाज मे अज्ञान का ही प्रसार करते है। गीता में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के माध्यम से उस के अज्ञान स्वरूपी शास्त्र ज्ञान में आत्मा का ज्ञान दे कर उसे सही मार्गदर्शन दे रहे है।

वर्ण व्यवस्था को किस प्रकार कर्म की बजाए जन्म पर आधारित करने से जातिवाद अभिशाप ही हो गया और शासन की चाह में नेतृत्व द्वारा धर्म को इतनी बार तोड़ा गया कि सनातन धर्म को समझने वाले समाज का वर्ग ही कुछ चंद लोगो मे सीमित हो गया।

गीता में भगवान श्री कृष्ण ने प्रथम अध्याय में अर्जुन के अधपके अध्यात्म के ज्ञान को सुना, इस लिए यह आवश्यक था कि उसे अध्यात्म का पूरा ज्ञान दिया जाए जिस से वह अपने ब्रह्म स्वरूप को जान सके। जो जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को जान लेता है वह ही अभ्यास और अध्यास से अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त भी कर सकता है। अर्थात ज्ञान मार्ग है जिस से हम अपने ब्रह्म स्वरूप को पूर्व में ज्ञानी पुरुषो द्वारा प्राप्त अनुभवों को जानकर आगे बढ़े। ज्ञान स्वयं में ब्रह्म की प्राप्ति नही, जब तक जीव अपना संबंध प्रकृति से कायम रखता है, वह प्रकृति के आधीन का ही जीव है और जिस दिन वह अपने स्वरूप को पहचान लेता है, प्रकृति उस अधीन हो जाती है।

भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को अध्यात्म और ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान देने का निश्चय संसार के लिए मार्ग प्रशस्त करने उद्देश्य किया। अर्जुन को अपने आध्यात्मिक ज्ञान पर अहंकार था, जो हम आज भी अनेक ज्ञानी पुरुषो में देखते है। उस के आध्यात्मिक ज्ञान को सही दिशा देने की आवश्यकता आज भी समाज के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी महाभारत काल में थी। सनातन कभी पुराना या अनुपयोगी नही हो सकता, वेद सनातन है, वो उस काल में जितने सत्य थे, आज भी उतने सत्य है, इसलिए सनातन है। यही बात उपनिषदों और गीता के बारे में कही जाती है। जिसे ज्ञान के लिए परमात्मा की प्रेरणा होती है, प्रकृति के अज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त करने की छटपटाहट होती है, वही वेदों, उपनिषदों और गीता के ज्ञान की ओर बढ़ता है।क्योंकि प्रकृति भी अपना कार्य इतनी कुशलता से करती है कि अच्छे अच्छे ज्ञानी पुरुष भी अपने अज्ञान को ही ज्ञान मान कर संसार के सृष्टि यज्ञ चक्र में परमात्मा की लीला का हिस्सा बन कर रह जाते है।

भगवान के श्रीमुख से ब्रह्म के ज्ञान की गीता को हम आत्मसात करते हुए अर्जुन की भांति आगे जिज्ञासा के साथ पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2. 23-24 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.25॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

"avyakto 'yam acintyo 'yam,
avikāryo 'yam ucyate..I
tasmād evaṁ viditvainaṁ,
nānuśocitum arhasi"..II

भावार्थ :

यह आत्मा अव्यक्त, अदृश्य, अचिंतनीय, अकल्पनीय, अविकारणीय और अपरिवर्तनीय कहा जाता है, इस प्रकार आत्मा को अच्छी तरह जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है॥ २५॥

Meaning:

This (eternal essence) is imperceptible, this is incomprehensible, this is unchanging, it is said. Therefore, having known this, it is not worthy of grief.

Explanation:

Let's take stock of where we are. In the second chapter, Shri Krishna covers 4 main topics: 1) Informing Arjuna that his logic and reasoning was incorrect 2) Explaining the correct logic and reasoning to Arjuna 3) Providing practical guidance to implement this correct logic and reasoning 4) Describing the attributes of a person who follows this teaching.

We are still exploring the second topic, and this shloka marks the end of the argument that Shri Krishna began in shloka 17. The argument was whether the eternal essence can slay or be slain. Shri Krishna, in this shloka, concludes the argument by saying the following:

"Arjuna, associate yourself with the eternal essence and not the body. The eternal essence is eternal and imperishable; it cannot slay or be slain. Therefore, do not grieve for the opposing army's warriors on their imminent death. Their bodies will perish anyway, so you shouldn't grieve for what is bound to perish. The eternal essence which is common between them and you is imperishable, so you should not grieve for that either. Therefore you have no reason to grieve at all."

Let's look further. If something is imperceptible, that means it is beyond the realm of our sense organs. If something is incomprehensible, it is beyond the realm of the intellect. If something is unchanging, then no physical effort will have an impact on it. We are dealing with something that is not of this material world, it is beyond it.

Atma is free from sabda, sparsa, rupa, rasa & gandha. These five properties belong to matter. They belong to the five elements.If you remember tatva bodha, akasa has got sabda; vayu has got sabda and sparsa; agni has got sabda, sparsa, and rupa; jalam has got sabda, sparsa, rupa and rasa; pṛthvi has got sabda, sparsa, rupa, rasa and gandha. Five elements have got these five properties. Matter alone has properties. And atma being non-material, it can never be perceived. Therefore, avyaktaḥ.

The Kaṭhopaniṣhad says:

“Beyond the senses are the objects of the senses; subtler than the objects of the senses is the mind. Beyond the mind is the intellect; and subtler than the intellect is the soul.” The material intellect can only comprehend material concepts, but can never reach the divine soul by the power of its contemplation. As a result, knowledge of the self requires external sources, which are the scriptures and the Guru.

As far as the soul's existence is concerned, no one can establish his existence experimentally beyond the proof of sruti, or Vedic wisdom. there is no source of understanding the soul except by studying the Vedas. In other words, the soul is inconceivable by human experimental knowledge. The soul is consciousness and conscious - that also is the statement of the Vedas, and we have to accept that.

Unlike the bodily changes, there is no change in the soul. As eternally unchangeable, the soul remains atomic in comparison to the infinite Supreme Soul.

The Supreme Soul is infinite, and the atomic soul is infinitesimal. Therefore, the infinitesimal soul, being unchangeable, can never become equal to the infinite soul, or the Supreme Personality of Godhead. This concept is repeated in the Vedas in different ways just to confirm the stability of the conception of the soul. Repetition of something is necessary in order that we understand the matter thoroughly, without error.

In the next few shlokas, Shri Krishna provides a simpler alternative of logic and reason to Arjuna, after which the teaching takes a turn towards more practical and concrete topics.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन द्वारा मोह, अहम, भय और कायरता से युद्ध में उपजे शास्त्र ज्ञान द्वारा युक्ति से अपनी निराशा को तर्कसंगत बताना, यह प्रतीत देता था कि वह अपना युद्ध नही करने का निर्णय दे चुका है। इसलिए एक कुशल प्रवक्ता और गुरु होने के नाते अर्जुन के ज्ञान को उस के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं बताते हुए, भगवान श्री कृष्ण पहले यह बताते है कि वह किस प्रकार से गलत है, फिर श्लोक 17 से बताते है, सही ज्ञान क्या है।

किसी भी वस्तु को परखने के पंच महाभूतो में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की ज्ञानेंद्रिय की सहायता ली जाती है किंतु आत्मतत्व अव्यक्त है, इसलिए इन सब से परे है।

आत्मा के स्वरूप को भगवान् यहाँ और अधिक स्पष्ट करते हैं। यहाँ प्रयुक्त शब्दों के द्वारा सत्य का निर्देश युक्तिपूर्वक किया गया है।

अव्यक्त पंचमहाभूतों में जो सब से अधिक स्थूल है जैसे पृथ्वी उस का ज्ञान पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। परन्तु जैसे जैसे सूक्ष्मतर तत्त्व तक हम पहुँचते हैं वैसे यह ज्ञात होता है कि उस का ज्ञान पांचों प्रकार से नहीं होता। जल में गंध नहीं है और अग्नि में रस नहीं है तो वायु में रूप भी नहीं है। इस प्रकार आकाश सूक्ष्मतम होने से दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वभावत जो आकाश का भी कारण है उस का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं हो सकता। अत हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अव्यक्त है।

इन्द्रियगोचर वस्तु व्यक्त कही जाती है। अत जो इन्द्रियों से परे है वह अव्यक्त है। यद्यपि मैं किसी वृक्ष के बीज में वृक्ष को देखसुन नहीं सकता हूँ और न उसका स्वाद स्पर्श या गंध ज्ञात कर सकता हूँ तथापि मैं जानता हूँ कि यही बीज वृक्ष का कारण है। इस स्थिति में कहा जायेगा कि बीज में वृक्ष अव्यक्त अवस्था में है। इस प्रकार आत्मा को अव्यक्त कहने का तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य विषय नहीं है। उपनिषदों में विस्तारपूर्वक बताया गया है कि आत्मा सब की द्रष्टा होने से दृश्य विषय नहीं बन सकती।

अचिन्त्य आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है उसी प्रकार यहाँ वह अचिन्त्य है कहकर यह दर्शाते हैं कि मन और बुद्धि के द्वारा हम आत्मा का मनन और चिन्तन नहीं कर सकते जैसे अन्य विषयों का विचार सम्भव है। इस का कारण यह है कि मन और बुद्धि दोनों स्वयं जड़ हैं। परन्तु इस चैतन्य आत्मा के प्रकाश से चेतन होकर वे अन्य विषयों को ग्रहण करते हैं। अब अपने ही मूलस्वरूप द्रष्टा को वे किस प्रकार विषय रूप में जान सकेंगे दूरदर्शीय यन्त्र से देखने वाला व्यक्ति स्वयं को नहीं देख सकता क्योंकि एक ही व्यक्ति स्वयं द्रष्टा और दृश्य दोनों नहीं हो सकता। यह अचिन्त्य शब्द का तात्पर्य है। अत अव्यक्त और अचिन्त्य शब्द से आत्मा को अभाव रूप नहीं समझ लेना चाहिए।

अविकारी अवयवों से युक्त साकार पदार्थ परिच्छिन्न और विकारी होता है। निरवयव आत्मा में किसी प्रकार का विकार संभव नहीं है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि आत्मा को उसके शुद्ध रूप से पहचान कर शोक करना त्याग देना चाहिए। ज्ञानी पुरुष अपने को न मारने वाला समझता है और न ही मरने वाला मानता है।

गीता में सांख्य के प्रकृति एवम पुरुष में पुरुष के असंख्य होने के सिद्धांत को मान्यता नही दी। इसी प्रकार प्रकृति यद्यपि व्यक्त रूप में दिखाई देती है किन्तु अनन्त होते हुए भी नित्य नही है। इसलिये एक परमतत्व जिसे परब्रह्म माना गया है जो इन सब से परे और प्रकृति और पुरुष दोनों का कारक है। यदि परब्रह्म नित्य, अद्रष्टा एवम अचिन्त्य है जिसे भौतिक दृष्टि से नही जाना जा सकता तो उस का वर्णन कैसे हो सकता है। उस को कैसे जाना जा सकता है क्योंकि प्रकृति से प्रदत्त इन्द्रियों की क्षमता सीमित ही है। इस के लिये उन ऋषियों एवम मुनियों के अनुभव का आधार लिया गया है जिन्होंने शुद्ध एवम बुद्ध रूप से मन एवम बुद्धि को एकाकार कर के इस का अनुभव किया है। अति भौतिकवादी या किंचित मात्र भी विकार रखने वाले जीव अनुभव तो बता सकते है किंतु उन्हें प्रमाणित नही माना गया है।

अर्जुन ज्ञानी था, उस ने शिक्षा भी ली थी, किन्तु जब मोह के साथ चिंतन कर रहा था तो उस का शास्त्र ज्ञान शुद्ध एवम बुद्ध मन या बुद्धि का नही था। भगवान द्वारा दिया यह ज्ञान अर्जुन के उस मोह का उत्तर था जिस को शास्त्रों एवम ज्ञान द्वारा उस ने स्थापित कर के यह निर्णय लिया था कि वो युद्ध नही करेगा। ज्ञान की कोई परिधि या सीमा नही होती किन्तु व्यक्ति के ज्ञान की परिधि होने से उस का निर्णय उस के सीमित ज्ञान से ही होता है। जिस ने समुद्र नही देखा हो वो तालाब के आधार पर समुद्र की कल्पना नही कर सकता वैसे ही नित्य अव्यक्त है उस को परिभाषित करना उस की सीमा तय करना है जो संभव नही किन्तु अनजान व्यक्ति को उस की सीमा से बाहर होने की अभिव्यक्ति दी जा सकती है जिस से वो तुलना करने की सोचता हो और यह हम ने पिछले दो श्लोक में पढा।

ब्रह्मज्ञान जब प्रकृति के ज्ञानेद्रियो एवम बुद्धि से प्राप्त किया जाता है, तो उसे जानने वाला प्रज्ञान ब्रह्म कहलाता है। इस ज्ञान को मन और बुद्धि से चेतन तक उतार कर धारण करता है तो वह सहसा स्वीकृत करता है तो वह अहम ब्रह्मास्मि हो जाता है और जब ब्रह्मांड के प्रत्येक तत्व को ब्रह्म स्वरूप में देखने लगता है तो उस को तत् त्वं असि अर्थात तत्वमसि ब्रह्म स्वरूप प्राप्त होता है और जब वह ब्रह्म से एकाकार हो जाता है तो अयमात्मब्रह हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म के ज्ञान को हम आगे पढ़ेंगे किंतु परब्रह्म का ज्ञान कोई दे सकता है तो वो ही दे सकता है जो परब्रह्म हो। कृष्ण परब्रह्म ही है। अर्जुन के ज्ञान तर्क का उत्तर ज्ञान से देने के बाद, आगे अर्जुन का मोह उत्सुकता में परिवर्तित हो जाता है। यही प्रवक्ता के सफल होने ही पहली शर्त है कि श्रोता के अंदर अधिक जानने की उत्सुकता उत्पन्न करे।

अतः अर्जुन के ज्ञान को प्रकाश डालने से बाद भगवान अब विस्तार से पूर्ण ज्ञान देंगे। यह भी माना जाता है कि आत्म तत्व से सर्वप्रथम मन, फिर बुद्धि ततपश्चात शरीर इद्रियां जुड़ी। इसी के साथ भावनाओ एवम विवेक का जन्म हुआ । बुद्धि एवम भावनाओ के वश में रहते कुछ विचार संस्कार बन कर हमारी रगों में बस गए जो हमारा व्यक्त्वि भी है और आदत भी। मुक्त होना इन सब से युद्ध के सामान है जिस में साधन भी यही है इन को समाप्त करना है। अंत मे जब तक मन को जीत कर अलग नही कर पाएंगे आप उस आत्म तत्व नही पहुच सकते। इस के विभिन्न मार्ग है जिन को हम आगे पढ़ेगे।

भौतिकवादी विचारकों के मत को स्वीकार करके यह मान भी लें कि आत्मा नित्य नहीं है तब भी भगवान् आगे के श्लोक में कहते हैं

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.25 ॥

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.26॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥

atha cainaṁ nitya-jātaṁ,
nityaṁ vā manyase mṛtam..I
tathāpi tvaṁ mahā-bāho,
nainaṁ śocitum arhasi..II

भावार्थ :

हे महाबाहु! यदि तू इस आत्मा को सदा जन्म लेने वाला तथा सदा मरने वाला मानता है, तो भी तू इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है॥ २६॥

Meaning:

But on the other hand, if you believe that this (eternal essence) constantly takes birth and dies, then also you should not grieve, O mighty armed.

Explanation:

Shri Krishna imparted the teaching of the eternal essence to Arjuna in the shlokas we've been seeing. Now, the teaching becomes slightly less abstract and a little more "down-to-earth" as it were. Shri Krishna understands that people like us may find it hard to comprehend the notion of imperishability. Our mind will find a hard time comprehending that something was never born/created, and something will never die/get destroyed.

For example, we may think of the Earth as relatively imperishable, but even then we know from our school geology class that it was formed billions of years ago out of cooling of gases.

There is always a class of philosophers, almost akin to the Buddhists, who do not believe in the separate existence of the soul beyond the body. When Lord Krishna spoke the Bhagavad-gita, it appears that such philosophers existed, and they were known as the lokayatikas and vaibhashikas. Such philosophers maintain that life symptoms take place at a certain mature condition of material combination. The modern material scientist and materialist philosophers also think similarly. According to them, the body is a combination of physical elements, and at a certain stage the life symptoms develop by interaction of the physical and chemical elements. The science of anthropology is based on this philosophy. Currently, many pseudo religions -- now becoming fashionable in America -- are also adhering to this philosophy, as well as to the nihilistic nondevotional Buddhist sects.

Therefore, Shri Krishna says : "O Arjuna, even if you cannot comprehend that the eternal essence is imperishable, it is ok, you can also believe that the eternal essence, which is present in human bodies, undergoes birth and death with the body". In the next few shlokas, Sri Krishna will convince Arjuna that his grief is unfounded even if he accepts that the eternal essence undergoes birth and death.

We may have a question here: Why did Shri Krishna begin his teaching of the Gita by describing the eternal essence? Isn't it a complex, abstract topic that all of us, including Arjuna, would have a hard time understanding? Couldn't he have started with something simpler?

Here's a possible answer. What is described as the eternal essence is the goal, the final result of the Gita teaching. Like a good teacher, Shri Krishna described the end goal to his students before describing the means to attain that goal. Any good teacher will always describe, elaborate upon, and glorify the end goal in the first lecture of a course. This will generate interest, curiosity, focus and dedication from the student. The student may not necessarily understand everything about that goal, but that is ok.

It seems that at the time of Shree Krishna too, versions of the Buddhist philosophy of renewed animation and non-permanence of the soul existed. Hence he is explaining that even if Arjun subscribes to this philosophy of renewed animation of the self from life to life, there is still no reason to lament. Why should one not lament? This is now explained in the next verse.

Foot note:

This verse needs to be understood in the context of the philosophical streams existing in India and their divergent understandings about the nature of self. Indian philosophy has historically comprised of twelve schools of thought. Six of these accept the authority of the Vedas, and hence they are called Astik Darshans. These are Mimansa, Vedant, Nyaya, Vaisheṣhik, Sankhya, and Yog. Within each of these are more branches—for example, the Vedānt school of thought is further divided into six schools—Adavita vada, Dwaita vada, Viśhiṣhṭadvaita vada, Viśhuddhadvaita vada, Dwaitadvaita vada, and Achintya-bhedabheda vada. Each of these has further branches, for example, Advaita vada is subdivided into Dṛiṣhṭi-sṛiṣhṭi vada, Avachchheda vāda, Bimba-pratibimba vada, Vivarta vada, Ajata vāda, etc. We will not go into the details of these schools here. Let it suffice for now to know that all these schools of thought accept the Vedas as the authority of reference. Accordingly, they all accept the eternal, unchangeable soul as the self.

The remaining six schools of Indian philosophy do not accept the authority of the Vedas. These are Charvak vada, the four Buddhist schools (Yogachar vada, Madhyamik vada, Vaibhaśhik vada, and Sautāntrik vada), and Jainism. Each of these has its own explanation for the nature of the self. Charvaka vada states that the body itself comprises the self, and consciousness is merely a product of the conglomeration of its constituents. Jainism states that the soul is the same size as the body, and hence, it is subject to change from birth to birth. The Buddhist schools of thought do not accept the existence of a permanent soul, and instead maintain that there is a stream of renewed animation from lifetime to lifetime, which ensures continuity of the individual.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान् यहाँ पक्षान्तर में अथ च और मन्य से पद दे कर कहते हैं कि यद्यपि वेदांत और आत्मा के सिद्धान्त की और सच्ची बात यही है कि देही किसी भी काल में जन्मने या मरनेवाला नहीं है, तथापि अगर तुम इस सिद्धान्त यदि असहमत हो कर भी इस से बिलकुल विरुद्ध बात भी मान लो कि देही नित्य जन्मनेवाला और नित्य मरनेवाला है तो भी तुम्हें शोक नहीं होना चाहिये। कारण कि जो जन्मेगा वह मरेगा ही और जो मरेगा वह जन्मेगा ही इस नियम को कोई भी टाल नहीं सकता। अर्थात जन्म के साथ मृत्यु किसी भी सिद्धांत में अटल है।

उच्च कोटि के ज्ञान के बाद भी धरातल के सामान्य ज्ञान की बात माने तो भी अगर बीज को पृथ्वी में बो दिया जाय तो वह फूल कर अङ्कुर दे देता है और वही अङ्कुर क्रमशः बढ़ कर वृक्षरूप हो जाता है। इस में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय कि क्या वह बीज एक क्षण भी एकरूप से रहा पृथ्वी में वह पहले अपने कठोररूप को छोड़कर कोमलरूप में हो गया फिर कोमलरूप को छोड़कर अङ्कुररूप में हो गया इस के बाद अङ्कुरूप को छोड़कर वृक्षरूप में हो गया और अन्त में आयु समाप्त होने पर वह सूख गया। इस तरह बीज एक क्षण भी एकरूप से नहीं रहा प्रत्युत प्रतिक्षण बदलता रहा। अगर बीज एक क्षण भी एकरूप से रहता तो वृक्ष के सूखने तक की क्रिया कैसे होती उस ने पहले रूप को छोड़ा यह उस का मरना हुआ और दूसरे रूप को धारण किया यह उस का जन्मना हुआ। इस तरह वह प्रतिक्षण ही जन्मता मरता रहा। बीज की ही तरह यह शरीर भी है।

26 और 27 इन दो श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने भौतिकवादी विचारकों का दृष्टिकोण केवल तर्क के लिए प्रस्तुत किया है। इस मत के अनुसार केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्ञान का साधन है अर्थात् इन्द्रियों को जो ज्ञात है केवल वही सत्य है। इस प्रकार

मानने पर उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन असंख्य जन्म और मृत्युओं की एक धारा या प्रवाह है। वस्तुयें निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होती हैं और उनके मत के अनुसार यही जीवन है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि जन्ममृत्यु का यह निरन्तर प्रवाह ही जीवन हो तब भी हे शक्तिशाली अर्जुन तुम को शोक नहीं करना चाहिये।

गीता अध्ययन में यह एक दम विपरीत दिशा में व्यवहारिक रूप देखेंगे। कुछ भौतिकवादी जो सिर्फ शरीर को सब कुछ मानते है एवम जिन का उद्देशय खाओ पियो और मौज करो रहता है या फिर जिन के जो प्रत्यक्ष है वो ही सत्य है और पूर्ण ब्रह्म आदि उन के कल्पना है, यह लोग प्रकृति के विभिन्न रहस्यों को खोज कर नए अविष्कार भी करते रहते है।

कृष्ण अर्जुन को उस स्तर के ज्ञान के तर्क से कर्तव्य पालन करने को कहते है क्योंकि यह तो सर्व विदित सत्य है कि जो जन्म लेगा वो मृत्यु को प्राप्त होगा। इसलिए युद्ध भूमि में स्थान के अनुसार कर्तव्य का पालन होना चाहिए और जिस उद्देश्य से सेना सहित वहां एकत्रित हुए है उस को पालन करना चाहिए।

परमब्रह्म निर्विवाद सत्य है, आत्मा सत, नित्य, अज, अविकाय और अचिन्त्य या निर्गुण है। किंतु आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों से संभव नही इस के लिये शुद्ध-बुद्ध मन की आवश्यकता है, इसलिये कुछ भौतिकवादी लोग इस को नही मानते एवम उन के अनुसार प्रकृति ही सत्य है। किंतु इस बात से कोई भी इंकार नही कर सकता कि जो जन्म लेगा वह मृत्यु को प्राप्त नही होगा। अर्जुन युद्ध भूमि में मोह वश शोक कर रहा है कि मैं इन से युद्ध नही करूँगा, किन्तु क्षत्रिय धर्म मे कर्तव्य पालन करने के किसी भी योद्धा को युद्ध नही करने का निर्णय लेने का धर्म नही है। इसलिये अपने तर्क के सब से निचले स्तर पर भी भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है कि यदि तुम इस शरीर को ही ब्रह्म समझते हो तो भी इसे अस्वीकार नही कर सकते कि जो जन्म लेता है, वह मृत्यु को प्राप्त करता ही है। अतः किसी भी ज्ञानी व्यक्ति का कर्तव्य है, जब तक जीवित है, वह अपने धर्म का पालन करे और ओज से भरा जीवन जीये। प्रवक्ता द्वारा श्रोता के विचारों का तुलनात्मक सार्थक उत्तर देना एवम उस की निंदा न करते हुए, उस को प्रेरित करना ही उस के सफल प्रवक्ता का गुण है।

व्यवहारिक जीवन मे जब सलाहकार अपने client की बात को ignore करते हुए यदि सिर्फ अपनी ही बात रखता है और अन्य तथ्यों को विचार में नही लेता है, तो वह अपने क्लाइंट का विश्वास खो देता है। अच्छा प्रवक्ता हमेशा अपने श्रोता के विचारों को भी ज्ञान के लिये सार्थक स्वरूप में उपयोग करता है।

आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि को ले कर आस्तिक सिद्धांत में छः सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त है। यह क्रमशः वैचारिक उन्नति का प्रतीक है। किंतु जो आत्मा और पुनर्जन्म को नही मानते वह भी चार्वाक, बुद्ध और जैन सिद्धांत है। इन सभी का विस्तृत अध्याय आगे हम करने वाले है। सिद्धांत कोई भी हो, जीवन को कोई भी शाश्वत या अमर नही मानता। जो जन्म लेता है उस की मृत्यु निश्चित है। इसलिए एक योद्धा को युद्ध भूमि में किसी के मरने या मारने का शोक करना, युद्ध के सैनिक दृष्टि से भी अनुचित है।

भौतिकवाद के सिद्धांत ब्रहस्पति एवम चार्वाक ऋषि के छग्यो उपनिषद, बौद्ध धर्म एवम आधुनिक विज्ञान से मिलते है जिस की भी गीता द्वारा उस युग मे ध्यान रखते हुए अर्जुन के माध्यम से शामिल किया गया तांकि विभिन्न मतांतर होने पर भी जो मूल भूत सिद्धान्त है उस को स्पष्ट किया जा सके, क्योंकि अर्जुन की प्रवृति वैसी नही। आगे के कुछ श्लोक में हमे व्यवहारिक जीवन संबंधित तर्क भी मिलेगे। भगवान श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन के शास्त्र ज्ञान के अधूरे ज्ञान को स्पष्ट करते हुए, जब उस के युद्ध नही करने के निर्णय गलत सिद्ध करते है, तो उस के विपरीत जो आत्मा या जन्म - मरण को नही मानते, उस दृष्टि कोण से भी जन्म - मृत्यु के अटल नियम से सरल भाव में भी युद्ध करने की बात कहते है। इसी को आगे और स्पष्ट करते हुए क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.26।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.27॥

जातस्त हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

"jātasya hi dhruvo mṛtyur,
dhruvaṁ janma mṛtasya ca
tasmād aparihārye 'rthe,
na tvaṁ śocitum arhasi"..II

भावार्थ :

जिस ने जन्म लिया है उस की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म निश्चित है, अतः इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है॥ २७॥

Meaning:

Since one who is born certainly dies, and one who dies certainly is born. Therefore you should not grieve over this inevitable fact.

Explanation:

In English language, there is a popular idiom, “as sure as death.” Benjamin Franklin said: “The only things certain in life are death and taxes.” The most certain thing in life is that we will meet with death one day. Psychologists categorize the fear of death as the biggest fear in life. In Patanjali’s Yog Darśhan too, abhiniveśh, or the instinctive urge to survive at all costs, is mentioned as a trait of the material intellect. But for one who has taken birth, death is inevitable. So when something is inevitable, why lament over it?

In the previous shloka, Shri Krishna told Arjuna: The Battle of Kurukshetra, being the will of the Supreme, was an inevitable event, and to fight for the right cause is the duty of a kshatriya. Why should he be afraid of or aggrieved at the death of his relatives since he was discharging his proper duty? He did not deserve to break the law, thereby becoming subjected to the reactions of sinful acts, of which he was so afraid. By avoiding the discharge of his proper duty, he would not be able to stop the death of his relatives, and he would be degraded due to his selection of the wrong path of action.

Accept the choiceless situation, is one of the important lessons of Gita. And accept with understanding and not with murmuring, grumbling, crying, making other people also miserable. Not that way. Accept with maturity. Without complaint. Without irritation.Without getting angry with the whole world. When I do not accept a choiceless situation, I become angry with everyone. Even God and the planet and the world. These are all non-acceptance. And suppose a person says: I would love to accept but I am not able to accept what to do. I want to but I am not able to. Then what should I do. That is only one way; because you cannot change the choiceless situation is not going to change. If I am not prepared, there is only way out, that is prepare yourselves. If I am not prepared, learn to prepare and what is learning to prepare; first assimilate this fact by meditating on this fact; by dwelling on this fact; you assimilate and in addition to that, take the help of devotion of Lord; after-all according to Vedanta Lord is nothing but your own higher potential or power, parā prakṛti; it is called. By praying to the Lord, I am tapping my own immunity system; psychological

immune system, my own inner power, my own inner potential, I am tapping. Therefore, by wisdom and surrender; by assimilation and surrender; strengthen the mind so that you can accept all choiceless situations.

Even if you think that the eternal essence undergoes birth and death, you should still not grieve. He continues the argument in this shloka.

The notion that birth eventually results in death, and death eventually results in birth is sometimes difficult for us to accept emotionally, but at the intellectual level, most of us acknowledge and accept it. I remember watching a TV show that showed a time lapse (high speed) video of a rodent's corpse decaying into the soil, and small plants and flowers emerging from the soil shortly thereafter. I thought that it very vividly and visually illustrated the cyclical nature of birth and death.

If we look at this example closely, we conclude that the physical body of the animal transformed into the raw material for the body of the flowers and plants. And although we could not see it, we can guess that the eternal essence of the animal "died" and is now "born" as the life force that sustains the plants and flowers.

Therefore we would not grieve for death the animal's body, nor for the death of the life force in it, because both were born again after they died. Similarly, Shri Krishna wanted Arjuna not to grieve for the imminent death of his kinsmen.

Remember the story of Mahabharat, in which yaksha ask 60 questions from yudhisther to leave his brother, he asked What is the most surprising thing in this world?"

Yudhisthar replied:"At every moment people are dying. Those who are alive are witnessing this phenomenon, and yet they do not think that one day they will also have to die. What can be more astonishing than this?"

Shree Krishna explains in this verse that life is inescapably a dead end, and so a wise person does not lament over the inevitable.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भौतिकवादी नास्तिक लोगों का मत है कि बिना किसी पूर्वा पर कारण के वस्तुएँ उत्पन्न नहीं होती हैं। आस्तिक लोग देह से भिन्न जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक ही जीव विकास की दृष्टि से अनेक शरीर धारण करता है जिससे वह इस दृश्य जगत् के पीछे जो परम सत्य है उनको पहचान सकें। दोनों ही प्रकार के विचारों में एक सामान्य बात यह है कि दोनों ही यह मानते हैं कि जीवन जीवन-मृत्यु की एक शृंखला है।

इस प्रकार जीवन के स्वरूप को समझ लेने पर निरन्तर होने वाले जन्म और मृत्यु पर किसी विवेकी पुरुष को शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि जन्म जितना सत्य है, उतना ही सत्य मृत्यु है।

जैसे इस बात को सब जानते हैं कि सूर्य का उदय हुआ है तो उस का अस्त होगा ही और अस्त होगा तो उसका उदय होगा ही। इसलिये मनुष्य सूर्य का अस्त होने पर शोकचिन्ता नहीं करते। ऐसे ही हे अर्जुन अगर तुम ऐसा मानते हो कि शरीर के साथ ये भीष्म द्रोण आदि सभी मर जायँगे तो फिर शरीर के साथ जन्म भी जायँगे। अतः इस दृष्टि से भी शोक नहीं हो सकता।

भगवान् ने इन दो (छब्बीसवें-सत्ताईसवें) श्लोकों में जो बात कही है वह भगवान् का कोई वास्तविक सिद्धान्त नहीं है। अतः अथ च पद देकर भगवान् ने दूसरे (शरीर शरीरी को एक मानने वाले) पक्ष की बात कही है कि ऐसा सिद्धान्त तो है नहीं पर अगर तू ऐसा भी मान ले तो भी शोक करना उचित नहीं है।

इन दो श्लोकों का तात्पर्य यह हुआ कि संसार की मात्र चीजें प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से पहले रूप को छोड़ कर दूसरे रूप को धारण करती रहती हैं। इस में पहले रूप को छोड़ना यह मरना हो गया और दूसरे रूप को धारण करना यह जन्मना हो गया। इस प्रकार जो जन्मता है उसकी मृत्यु होती है और जिस की मृत्यु होती है वह फिर जन्मता है यह प्रवाह तो हरदम चलता ही रहता है। इस दृष्टि से भी क्या शोक करें।

अब आगे के दस श्लोक सामान्य मनुष्य का दृष्टिकोण बताते हैं। भगवान् शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं कार्यकारण के सम्बन्ध से युक्त वस्तुओं के लिए शोक करना उचित नहीं है। गीता का पठन उन सभी तर्क को ध्यान में रख कर किया है जो सामान्य से लेकर अत्यंत चिन्तनवान व्यक्ति इस जीवन के प्रति करते है। मुख्य चिंतन का विषय यह भी की क्या आज का जीवन श्लोक 26-27 के अनुसार ज्यादा जिया जा रहा है,

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

त्रयोवेदस्य कर्तारौ भण्डधूर्तनिशाचराः ।

(स्रोत: ज्ञानगंगोत्री, संकलन एवं संपादन: लीलाधर शर्मा पांडेय, ओरियंट पेपर मिल्स, अमलाई, म.प्र., पृष्ठ 138)

चार्वाक आदि भौतिक ऋषि भी कुछ हुए जो आत्मा, परमात्मा आदि को नकारते रहे, जो है वह यही जीवन है, मनुष्य जब तक जीवित रहे तब तक सुखपूर्वक जिये । ऋण करके भी घी पिये । अर्थात् सुख-भोग के लिए जो भी उपाय करने पड़ें उन्हें करे । दूसरों से भी उधार लेकर भौतिक सुख-साधन जुटाने में हिचके नहीं । परलोक, पुनर्जन्म और आत्मा-परमात्मा जैसी बातों की परवाह न करे । भला जो शरीर मृत्यु पश्चात् भष्मीभूत हो जाए, यानी जो देह दाहसंस्कार में राख हो चुके, उसके पुनर्जन्म का सवाल ही कहां उठता है । जो भी है इस शरीर की सलामती तक ही है और उसके बाद कुछ भी नहीं बचता इस तथ्य को समझकर सुखभोग करे, उधार लेकर ही सही । तीनों वेदों के रचयिता धूर्त प्रवृत्ति के मसखरे निशाचर रहे हैं, जिन्होंने लोगों को मूर्ख बनाने के लिए आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य जैसी बातों का भ्रम फैलाया है ।

यह दर्शन लोकायतिक और वैभाषिक लोगो का है। बौद्ध धर्म का भी दर्शन भी ऐसा ही है। उन के अनुसार शरीर भौतिक तत्वों का संयोग की ऐसी अवस्था है, जिस में जीवन के लक्षण विकसित हो जाते है। आधुनिक विज्ञान भी इसी पर कार्य कर के टेस्ट ट्यूब बेबी या कृत्रिम प्रजनन क्रिया से जन्म देता है किंतु प्रकृति अन्य विकार वृद्धि, क्षय एवम मृत्यु पर किसी का कोई अधिकार नही है। जो जन्मा है, वह मृत्यु को प्राप्त होगा ही। फिर शोक कैसा।

इसलिए नास्तिक दर्शन शास्त्र के अनुसार भी जन्म और मृत्यु अटल है। फिर विभिन्न परिस्थितियों में जब कोई मनुष्य पहुंच जाए तो उस के पास विकल्प भी क्या है, या तो वह पलायन करे या फिर अपने कर्तव्य धर्म का पालन करे। युद्ध भूमि में अर्जुन को परिस्थितियों ने पहुंचाया, उस के विरुद्ध उस के पितामह, गुरु, मित्र और बांधव युद्ध के तैयार परिस्थितियों में खड़ा किया। वह जानता है प्रकृति के नियम से कोई भी अमृतत्त्व से परिपूर्ण नही है। वेदांत के पुनर्जन्म के सिद्धांत को छोड़ भी दे तो भी इस जन्म में भी उस का कर्तव्य क्षत्रिय धर्म के अनुसार इस समय युद्ध करने का ही है।

गीता जीवन के प्रत्येक सिंद्धांत को सम्पूर्ण रूप से आगे बढ़ती है फिर चाहे वह भौतिकवाद ही क्यों न हो, अतः यह दो श्लोक यद्यपि गीता के मूल उपदेश का हिस्सा न होते हुए भी, अर्जुन के लिये एक उपदेश ही है कि युद्ध भूमि में उसे अपना कर्तव्य धर्म का पालन करना ही चाहिए।

शोक उसी का कीजिये जो अनहोनी होय।अनहोनी होती नहीं, होनी है सो होय।।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.27 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.28॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

"avyaktādīni bhūtāni,
vyakta-madhyāni bhārata..I
avyakta-nidhanāny eva,
tatra kā paridevanā"..II

भावार्थ :

हे भरतवंशी! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट रहते है और मरने के बाद भी अदृश्य हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही इन्हे देखा जा सकता हैं, अत: शोक करने की कोई आवश्यकता नही है? ॥ २८॥

Meaning:

All bodies are latent in the beginning, they manifest in the middle, O Bhaarata. In the end, they will become latent again, so why should you grieve about this.

Explanation:

This is yet another important and profound shloka with layers and layers of meaning on birth and death. Let's try to understand it to the best of our ability.

Sage Narad instructed Yudhishthir along similar lines, in Śhrīmad Bhāgavatam:

Whether you consider the personality to be an eternal soul or to be a temporary body, or even if you accept it as an inconceivable mixture of soul and body, you should not lament in any way. The cause for lamentation is only attachment that arises out of illusion."

In the material realm, each individual soul is bound by three bodies—gross body, subtle body, causal body.

Gross body: Consists of the five gross elements of nature—earth, water, fire, air, and space.

Subtle body: Consists of eighteen elements—five life-airs, five working senses, five knowledge senses, mind, intellect, and ego.

Causal body: Consists of the account of karmas from endless past lives, including the sanskārs (tendencies) carried forward from previous lives.

At the time of death, the soul discards its gross body, and departs with the subtle and causal bodies. God again gives the soul another gross body according to its subtle and causal bodies, and sends the soul into a suitable mother's womb for the purpose. After the soul gives up one gross body, there is a transitional phase before it receives a new gross body. This could be a few seconds in duration or a few years long. So before birth, the soul existed with the unmanifest subtle and causal bodies. After death, it still exists in the unmanifest state. It only becomes manifest in the middle. So death is no reason for grief.

Let us look at some examples.The first example, which is an oft-quoted one, is the seed example. We know that we can hold the seed of a tree, say a mango tree, in the palm of our hand - it is that small. We also know that if we provide the seed with the right climate, soil, water and fertilizer, it will grow into a tall mango tree. The blueprint of the tall tree is present in that small little seed. In other words, the mango tree is latent until the seed is planted. In time, when the seed transforms into a sapling, and then into a tree, we can say that the tree has manifested out of the seed. And in the due course of time, the tree will eventually transform into wood or paper for human consumption, or get burnt and become one with the soil, or something else.

I have to add the example of the flowerpot firecracker.

For those unfamiliar with it, the flowerpot firecracker is a fist-sized conical shape with a wick on top. After the wick is lit, the firecracker shoots up a dazzling fireworks display in the shape of a fountain, sometimes up to 100 feet tall. This display lasts for about 30-60 seconds. Here we can say that the fireworks display was latent in the firecracker, it came into existence when the wick was lit, and it ended when the gunpowder was exhausted and eventually absorbed in the air. To make it even more relevant, sometimes a hundred or so of these flowerpots are lit in succession, so that as one ends, another one begins.

Finally, here's a somewhat different example. I used to play Beatles songs in a band. We would rehearse most of the Beatles popular songs beforehand. When we began our performance in the club, we would ask the audience to request a song, which we would end up performing.

Therefore, the song was latent in our memory, it would come into existence when we played it, and it would end soon thereafter, after having travelled into the listener's ears, and hopefully into their minds. Also, each time we played it, it would sound just a little different.

What's common in all the 3 examples? In each case there was a beginning where something was hidden or latent, then something happened that caused it to come into existence, and eventually there came a time when that thing no longer existed. In effect, the birth, existence and death of a tree is no different than the "birth", "existence" and "death" of the fireworks display or the song. Birth, existence and death are modifications rather than standalone events, therefore one should not grieve when someone or something comes to an end. It just transforms into something else.

Krishna is explaining the phenomenon of birth and death, because when we understand birth and death very clearly; the sting, the impact of those two or their capacity to hurt us will be radically reduced. After all, ignorance creates lot of projections. Somebody had nicely said: Ignorance is the darkroom in which all the negatives are developed. Think of it! Ignorance is the darkroom in which all the negatives are developed. In our mind also, all raga dvesha, kāmaḥ, krōdhaḥ, lōbhaḥ
are very well developed, because it is तमसा व्याप्त tamasā vyāptam, because of ignorance.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व दो श्लोक में आत्मा को शाश्वत एवम शरीर को नश्वर और शोक न करने योग्य बताने के बाद, इस श्लोक से लेकर आगे के कुछ श्लोकों में संसार के सामान्य मनुष्य के दृष्टिकोण से अर्थात भौतिकवाद से समस्या को अर्जुन के समक्ष बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। इन दस श्लोकों में श्रीकृष्ण समस्या का स्पष्टीकरण सामान्य व्यक्ति की दृष्टि एवं बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत करते हैं।

जो आदि और अन्त में नहीं होता वह बीच में भी नहीं होता है यह सिद्धान्त है । देखने सुनने और समझने में आनेवाले जितने भी प्राणी (शरीर आदि) हैं वे सब के सब जन्म से पहले अप्रकट थे अर्थात् दीखते नहीं थे। ये सभी प्राणी मरने के बाद अप्रकट हो जायँगे अर्थात् इनका नाश होने पर ये सभी नहीं में चले जायँगे दीखेंगे नहीं। ये सभी प्राणी बीच में अर्थात् जन्म के बाद और मृत्यु के पहले प्रकट दिखायी देते हैं। जैसे सोने से पहले भी स्वप्न नहीं था और जगने पर भी स्वप्न नहीं रहा ऐसे ही इन प्राणियों के शरीरों का पहले भी अभाव था और पीछे भी अभाव रहेगा। परन्तु बीच में भावरूप से दीखते हुए भी वास्तव में इन का प्रतिक्षण अभाव हो रहा है।

इस भौतिक जगत् में कार्यकरण का नियम अबाधरूप से कार्य करते हुए अनुभव में आता है। कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है। सामान्यत कार्य व्यक्त रूप में दिखाई देता है और कारण अव्यक्त रहता है। अत सृष्टि का अर्थ है वस्तुओं का अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आ जाना। यही क्रम निरन्तर नियमपूर्वक चलता रहता है।

यद्यपि हम विस्तृत रूप में आगे पढ़ेंगे, किंतु संक्षिप्त में यह जान ले की आत्मा जैसे ही प्रकृति से संयोग करती है तो अहम उत्पन्न होता है, यही अहम बुद्धि और मन द्वारा ज्ञानेद्रियों और कर्मेंद्रियों की 10 तन्मात्राओ और पांच पंच महाभूतो की तन्मात्राओ से मिल कर 18 तत्व का सूक्ष्म शरीर धारण करता है। यही सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर अर्थात कर्मफल,संस्कार, वासना आदि के बंधन में बार बार भौतिक शरीर धारण करता है, जिसे हम जन्म कहते है और भौतिक शरीर को त्यागना मृत्यु कहलाता है। अर्थात जीव जन्म लेने से पूर्व भी सूक्ष्म शरीर के रूप में था और शरीर नष्ट हो जाने के बाद भी सूक्ष्म शरीर के रूप में रहेगा। भौतिक शरीर दृश्यमान है, इसलिए अदृश्य का प्रकट होना सूक्ष्म शरीर द्वारा भौतिक शरीर का धारण करना और मृत्यु अर्थात भौतिक शरीर का सूक्ष्म शरीर का त्यागना ही अदृश्य होना है, किंतु जीव पहले भी होता है और बाद में भी रहता है।

तत्वदर्शी जानता है कि प्रकृति के पंच महाभूतो से उत्पन्न शरीर में मोह, ममता, अहंकार, भय आदि का होना, प्रकृति का विकार ही है, क्योंकि शरीर का जन्म लेना या छूटना मृत्यु नही है और यह विकार भी शरीर के साथ ही नष्ट हो जाए है, इसलिए ज्ञानी लोग इस का शोक नही करते।

अतः जीवन मृत्यु के बाद भी रहता है जिसे हम भूत, प्रेत, पितर, देव आदि स्वरूप में जानते है। यह प्रलय काल में भी समाप्त नहीं होता। मृत्यु के बाद के बारे में भी गीता में क्या कहा है, आगे पढ़ेंगे।

अतः हम कह सकते है कि इस प्रकार आज का व्यक्त इस के पूर्व कल अव्यक्त था वर्तमान में वह व्यक्त रूप में उपलब्ध है परन्तु भविष्य में फिर अव्यक्त अवस्था में विलीन हो जायेगा। इस का अर्थ यह हुआ कि वर्तमान स्थिति अज्ञात से आयी और पुन अज्ञात में लीन हो जायेगी। ऐसा समझने पर दुख का कोई कारण नहीं रह जाता क्योंकि एक चक्र के आरे निरन्तर घूमते हुए नीचे भी आते हैं तो केवल बाद में ऊपर उठने के लिए ही। यहां व्यक्त एवम अव्यक्त का अभिप्रायः इन्द्रियों से गोचर होना है। क्योंकि जो नित्य है वह तो पहले भी था और बाद में भी रहेगा।

उदाहरणार्थ स्वप्न के पत्नी और शिशु पहले अव्यक्त थे और जागने पर फिर लुप्त हो जाते हैं तो एक ब्रह्मचारी को उस पत्नी और शिशु के लिए शोक करने का क्या कारण है जिस के साथ उस का विवाह कभी हुआ ही नहीं था और जिस शिशु का कभी जन्म ही नहीं हुआ था

भौतिक विज्ञान कहता है कि जन्म से मृत्यु तक किसी भी जीव की कोशिकाएं बनती और बदलती रहती है। यही सतत क्रिया ही जीवन है यदि कोशिकाएं बनना एवम बदलना बन्द हो जाये तो जीवन समाप्त हो गया। अतः जो कल था वह आज नही है और जो आज है वह कल नही रहे है। किंतु भौतिक विज्ञान भी कहता है कि कुछ भी न तो बनता है और न ही नष्ट होता है। जो भी सामने दिखता है वह पदार्थ के ऊपर ताप, दवाब और मिश्रण की प्रक्रिया है, जिस से पदार्थ एक स्वरूप से दुसरे स्वरूप में बदल जाता है।

यदि जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा इस जगत् की उत्पत्ति और लय का चक्र निरन्तर एक पारमार्थिक नित्य अविकारी सत्य के रूप में ही चल रहा है तो क्या कारण है कि उस सत्य को बारम्बार बताने पर भी हम समझ नहीं पाते श्रीशंकराचार्य के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण यह विचार करते हैं कि इस सत्य को न समझने के लिए अर्जुन को दोष देना उचित नहीं है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं इस आत्मा का साक्षात् अनुभव कर के उसे यथार्थ में जानना कठिन है। तुम्हें ही मैं दोष क्यों दूँ जबकि इस का कारण अज्ञान सब के लिए समान है ।

श्लोक 26 एवम 27 में पूर्ण भौतिकवाद को ले कर समय एवम स्थान के अनुसार कार्य करने की सलाह दी गयी थी। अब दोनों ही मतों में यह बताया गया है कि शरीर या देह नश्वर है, किस का नष्ट होना कोई भी नही रोक सकता अतः इस शरीर को हम सत्य नही कह सकते।

भौतिकवाद के अनुसार शरीर का निर्माण जल, थल, वायु एवम अग्नि चार तत्व से रसायनिक प्रक्रिया से होती है जिसे आज भी विज्ञान टेस्ट ट्यूब बेबी द्वारा सिध्द कर रहा है और अग्नि यानि गति तत्व के अभाव में यह नष्ट हो जाती है, वैदिक शरीर की रचना पांच तत्व इस मे आकाश को सम्मलित कर के मानते है जिस में आत्म तत्व प्रवेश नए वस्त्र की भांति धारण करता है और फिर वस्त्र नष्ट होने पर त्याग देता है। दोनों ही परिस्थितियों में शरीर नाशवान है अतः इस का दुःख नही होना चाहिए। यह जो भी दिख रहा है वो वास्तविक नही है, परिवर्तन शील होने से स्वप्न के समान सत्य भी नही है।

परिवर्तनशील जगत में जो नित्य एवम शाश्वत नही है उसे सत्य मानना या उस के विचलित होना सही नही है। फिर जो इस को देख रहा है या समझ रहा है या अनुभव कर रहा है, उस तत्व को पहचानना आवश्यक है, जिसे हम आत्मज्ञान भी कहते है।

अब आगे भगवान् आत्म तत्व की अलौकिकताका वर्णन करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.28।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.29॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

āścarya-vat paśyati kaścid enam,
āścarya-vad vadati tathaiva cānyaḥ..I
āścarya-vac cainam anyaḥ śṛṇoti,
śrutvāpy enaṁ veda na caiva kaścit..II

भावार्थ :

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है तथा कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई-कोई तो इसके विषय में सुनकर भी कुछ नहीं समझ पाता है ॥ २९॥

Meaning:

Some perceive this (eternal essence) as a wonder, and similarly indeed, others speak of it as a wonder; it is a wonder that some hear about this, and after hearing about it, some understand this and some do not.

Explanation:

Shri Krishna was getting ready to conclude the topic of the eternal essence. Therefore, he wanted to remind Arjuna about it, and also instill a sense of deep curiosity and interest in him. In this shloka, Shri Krishna did both of those things.

Four types of spiritual seekers are pointed out here. Firstly, there are seekers who have heard about the eternal essence through the Gita or through other means. Usually, most of them will hear about it and forget about it. But there will be some that will become interested in it, and will want to hear more - this is the second category. Of those seekers, some will try to gain an intellectual understanding about it and having done so, will be so enthralled with it that they will keep speaking about it to other people. This is the third category.

But the most devoted and advanced seekers will ultimately perceive the eternal essence directly, and the perception would have occurred without any sense organs. When this happens, there would be no words to describe it. The closest one could come to describing it is when we see something so wonderful that it renders us speechless, like a breathtaking painting or a waterfall.

Every human being is knowingly or unknowingly looking for only certain fundamental goals in life. one may want success in business; another may want success in politics, another may want to extend his family; even though the goals are superficially different, fundamentally, the goals are the same i.e. sense of fulfilment in life, the second basic goal is a sense of discovery of security And finally, discovery of happiness; thus fulfilment, security, happiness etc. are the basic goals that everyone has. And according to Vēdānta all these basic goals are represented by one word, i.e. ātma, or Brahman. In fact, Brahman or ātma is another word for fulfilment. It is another word for security. It is another word for happiness. Therefore, a person knowingly or unknowingly is seeking what? ātma alone. And what is the greatest wonder in that seeking? The goal that is ātma which is sought after by everyone happens to be the very nature of the seeker. So the sought, that is the goal; which is called peace, security, fulfilment, etc. which is otherwise called ātma, the ātma happens to be one's own intrinsic self. In fact, in Sanskrit, the word ātma means Self; and therefore the greatest wonder is that everyone is seeking himself or herself without knowing that he is seeking himself or herself.

All the time, we should remember, ātma is not an object that is being talked about but it is the very subject about which Krishna is talking. Therefore looking for the ātma is the basic mistake; this is called **objectification orientation**. In Sanskrit it is called परोक्ष बुद्धि parokṣha buddhiḥ. **Objectification orientation**: you imagine some mysterious Brahman; mysterious truth and look for some mysterious thing to happen in your meditation. Some people say that they saw some ring, ring, etc. I saw flash appearing and disappearing; all the time we expect something to happen; either in the form of an event or in the form of an object and whatever you experience is not ātma because, it is an object. And when I negate everything, you tend to conclude that if you negate everything, then it must be शून्यम śūnyam; nothing is there.

The soul, being a fragmental part of God, is more amazing than the things of the world because it is transcendental to material existence. Just as God is divine, its fragment, the soul, is also divine. For this reason, mere intellectual prowess is not enough to comprehend the soul, since the existence and nature of the soul are difficult to grasp. The Kaṭhopaniṣhad states:

“A teacher who is self-realized is very rare. The opportunity to hear instructions about the science of self-realization from such a teacher is even rarer. If, by great good fortune, such an opportunity presents itself, students who can comprehend this topic are the rarest.” Hence, an enlightened teacher is never discouraged when, despite sincere efforts, the majority of the people are either not interested in, or cannot understand the science of the soul.

Note that the meter has changed in this verse to indicate its importance.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन के कुछ उद्देश्य यही होते है कि वह अपने आप को जानना और समझना चाहता है, वह जिस विषय में रुचि रखता हो, उस में सफलता की इच्छा रखता है, दूसरा सामान्य उद्देश्य सुरक्षा है जिस में स्वयं और परिवार फिर समाज और देश की बात करता है और तीसरा उद्देश्य वह आनंद चाहता है। इन सब के लिए वह अपने को तलाश कर रहा है। जब उसे यह कहा जाए कि जिसे वह तलाश रहा है, वो और कोई नही उस की आत्मा अर्थात खुद की पहचान को तलाश रहा है तो उसे आश्चर्य के साथ विश्वास भी नही होता। आत्मा को जान पाना ही वास्तविक सफलता, सुरक्षा और आनंद है। इस के लिए हम लोग आध्यात्मिक जगत से भौतिक जगत में और भौतिक जगत से आध्यात्मिक जगत में भटकते रहते है। इसलिए जब गीता या वेदों द्वारा आत्मा स्वयं को जानने की बात की जाती है जिस से उसे सफलता, सुरक्षा और आनंद की प्राप्ति स्थायी मिल सके तो इसे वह आश्चर्य की तरह देखता है, वर्णन करता है, सुनता है या फिर सब कर के भी समझ नही पाता। वास्तव में सफलता, सुरक्षा और आनंद अपने को जानने और पहचानने का विषय है, जिसे आत्म तत्व से जाना जा सकता है और आश्चर्य यही है कि जो स्वयं में उपस्थित है, उसे हम भुला कर, लापरवाह होकर, अरुचिकर और महत्वपूर्ण न समझ कर नही ध्यान देते और सांसारिक वस्तुओं में खोजने लगते है। जब की सांसारिक वस्तुएं साधन है, साध्य नहीं।

कोई ध्यान लगा कर,कोई मूर्ति बना कर पूजा द्वारा, कोई कर्म से और कोई योग, सन्यास और यज्ञ याग से इस को जानने और करने में लगा है तो कोई कुछ भी करने और मानने को तैयार नहीं। व्यक्ति आत्मा को वस्तु की भांति स्वयं से अलग खोजता है, कभी ॐ की ध्वनि में, कभी दीपक के प्रकाश में, कभी किसी घटना में, यह सब परोक्ष बुद्धि के लक्षण है। जो स्वयं है, वह बाहर अपने को खोजता है, यही आत्मा के विषय में आश्चर्य है क्योंकि जब कोई बताए भी तो विश्वास नही करता, मानता भी नही है। उसे लगता है, वह जो कर रहा है वही सत्य है। जो स्वयं प्रकाशमान आत्मा है, वह ही प्रकृति के अज्ञान में भ्रमित हो कर, स्वयं को बाहर प्रकृति में खोज रहा है। जिस ने खोजना बंद कर दिया, जिस ने अपने अज्ञान को मिटा दिया, उस ने अपने को भी प्राप्त कर लिया। आत्मा अर्थात अपने को खोजना, हरेक जीव अपने अपने तरीके और बुद्धि से करता है।

गीता का यह श्लोक कठोपनिषद (1.2.7) से मिलता है। आत्मा की अनुभूति लेने वाले चार प्रकार के प्राणी बताए गए है। जिस की रामसुखदास जी ने विस्तार से वर्णन किया है। आत्मा आत्म चिंतन का विषय है एवम मन बुद्धि एवम इन्द्रियों द्वारा इस को सिर्फ समझ सकते है किंतु इस को प्राप्त नही हो सकते। अतः जिन्होंने इसे प्राप्त किया वो मौन है किंतु जिन्होंने इस मार्ग पर आगे बढे वो सिर्फ दिशा निर्देश है, मंजिल तो स्वयं को प्राप्त करनी होती है।

प्रथम

इस देहि अर्थात आत्मा को कोई आश्चर्य की तरह जानता है। तात्पर्य यह है कि जैसे दूसरी चीजें देखने सुनने पढ़ने और जानने में आती हैं वैसे इस देही का जानना नहीं होता। कारण कि दूसरी वस्तुएँ इदंता से (यह करके) जानते हैं अर्थात् वे जानने का विषय होती हैं पर यह देही इन्द्रिय मनबुद्धि का विषय नहीं है। इस को तो स्वयं से अपनेआप से ही जाना जाता है। अपने आप से जो जानना होता है वह जानना लौकिक ज्ञान की तरह नहीं होता प्रत्युत बहुत विलक्षण होता है।

पश्यति पद के दो अर्थ होते हैं नेत्रों से देखना और स्वयं के द्वारा स्वयं को जानना। यहाँ पश्यति पद स्वयं के द्वारा स्वयं को जानने के विषय में आया है।जहाँ नेत्र आदि करणों से देखना (जानना) होता है वहाँ द्रष्टा (देखनेवाला) दृश्य (दीखनेवाली वस्तु) और दर्शन (देखनेकी शक्ति) यह त्रिपुटी होती है। इस त्रिपुटी से ही सांसारिक देखना जानना होता है। परन्तु स्वयं के ज्ञान में

यह त्रिपुटी नहीं होती है अर्थात् स्वयं का ज्ञान करणसापेक्ष नहीं है। स्वयं का ज्ञान तो स्वयं के द्वारा ही होता है अर्थात् वह ज्ञान करणनिरपेक्ष है।

जैसे आईने के सामने बैठ कर स्वयम को देखे और सोचे कौन किस को देख रहा है। मैं हूँ ऐसा जो अपने होनेपन ज्ञान है इस में किसी प्रमाण की या किसी करण की आवश्यकता नहीं है। इस अपने होनेपन को इदंता से अर्थात् दृश्यरूप से नहीं देख सकते। इसका ज्ञान अपने आपको ही होता है। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य या बुद्धिजन्य नहीं है। इसलिये स्वयं को (अपनेआपको) जानना आश्चर्यकी तरह होता है।

स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं। अन्नजलसे बना हुआ स्थूलशरीर है। यह स्थूलशरीर इन्द्रियोंका विषय है। इस स्थूल शरीर के भीतर पाँच ज्ञानेन्द्रियों पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच प्राण मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं है प्रत्युत बुद्धि का विषय हैं। जो बुद्धि का भी विषय नहीं है जिस में प्रकृति स्वभाव रहता है वह कारण शरीर है। इन तीनों शरीरों पर विचार किया जाय तो यह स्थूल शरीर मेरा स्वरूप नहीं है क्योंकि यह प्रतिक्षण बदलता है और जानने में आता है। सूक्ष्म शरीर भी बदलता है और जानने में आता है अतः यह भी मेरा स्वरूप नहीं है। कारण शरीर प्रकृतिस्वरूप है पर देही (स्वरूप) प्रकृति से भी अतीत है अतः कारण शरीर भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह देही जब प्रकृति को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तब यह अपने आप से अपने आपको जान लेता है। यह जानना सांसारिक वस्तुओं को जानने की अपेक्षा सर्वथा विलक्षण होता है इसलिये इसको आश्चर्यवत् पश्यति कहा गया है।

द्वितीय

यहाँ भगवान् ने कहा है कि अपने आप का अनुभव करने वाला कोई एक ही होता है कश्चित् और आगे सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में भी यही बात कही है कि कोई एक मनुष्य ही मेरे को तत्त्व से जानता है। इन पदों से ऐसा मालूम होता है कि इस अविनाशी तत्त्व को जानना बड़ा कठिन है दुर्लभ है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। इस तत्त्व को जानना कठिन नहीं है दुर्लभ नहीं है प्रत्युत इस तत्त्वको सच्चे हृदय से जानने वाले की इस तरफ लगने वाले की कमी है। यह कमी जानने की जिज्ञासा कम होनेके कारण ही है।

ऐसे ही दूसरा पुरुष इस देही का आश्चर्य की तरह वर्णन करता है क्योंकि यह तत्त्व वाणी का विषय नहीं है। जिस से वाणी भी प्रकाशित होती है वह वाणी उस का वर्णन कैसे कर सकती है जो महापुरुष इस तत्त्व का वर्णन करता है वह तो शाखा चन्द्र न्याय की तरह वाणी से इस का केवल संकेत ही करता है जिस से सुनने वाले का इधर लक्ष्य हो जाय। अतः इसका वर्णन आश्चर्य की तरह ही होता है।

सब के सब अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुष उस तत्त्व का विवेचन कर के सुनने वाले को उस तत्त्व तक नहीं पहुँचा सकते। उस की शंकाओं का तर्कों का पूरी तरह समाधान करने की क्षमता नहीं रखते। अतः वर्णन करने वाले की विलक्षण क्षमता का द्योतन करने के लिये ही यह अन्यः पद दिया गया है।

तृतीय

दूसरा कोई इस देही को आश्चर्य की तरह सुनता है। तात्पर्य है कि सुननेवाला शास्त्रों की लोक लोकान्तरों की जितनी बातें सुनता आया है उन सब बातों से इस देही की बात विलक्षण मालूम देती है। कारण कि दूसरा जो कुछ सुना है वह सब का सब इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदिका विषय है परन्तु यह देही इन्द्रियों आदिका विषय नहीं है प्रत्युत यह इन्द्रियों आदि के विषय को प्रकाशित करता है। अतः इस देही की विलक्षण बात वह आश्चर्य की तरह सुनता है।

यहाँ अन्यः पद देने का तात्पर्य है कि जाननेवाला और कहनेवाला इन दोनों से सुननेवाला (तत्त्व का जिज्ञासु) अलग है।

चतुर्थ

इस को सुन कर के भी कोई नहीं जानता। इस का तात्पर्य यह नहीं है कि उसने सुन लिया तो अब वह जानेगा ही नहीं। इस का तात्पर्य यह है कि केवल सुन करके (सुनने मात्र से) इस को कोई भी नहीं जान सकता। सुनने के बाद जब वह स्वयं उस में स्थित होगा तब वह अपने आप से ही अपने आप को जानेगा। शास्त्रों पर श्रद्धा स्वयं शास्त्र नहीं कराते और गुरुजनों पर श्रद्धा स्वयं गुरुजन नहीं कराते किन्तु साधक स्वयं ही शास्त्र और गुरुपर श्रद्धा विश्वास करता है स्वयं ही उन के सम्मुख होता

है। अगर स्वयं के सम्मुख हुए बिना ही ज्ञान हो जाता तो आज तक भगवान् के बहुत अवतार हुए हैं बड़े बड़े जीवन्मुक्त महापुरुष हुए हैं उनके सामने कोई अज्ञानी रहना ही नहीं चाहिये था। अर्थात् सब को तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिये था पर ऐसा देखने में नहीं आता। श्रद्धाविश्वासपूर्वक सुनने से स्वरूप में स्थित होने में सहायता तो जरूर मिलती है पर स्वरूप में स्थित स्वयं ही होता है। अतः उपर्युक्त पदों का तात्पर्य तत्त्वज्ञान को असम्भव बताने में नहीं प्रत्युत उसे करण निरपेक्ष बताने में है।

मनुष्य किसी भी रीति से तत्त्व को जानने का प्रयत्न क्यों न करे पर अन्त में अपने आप से ही अपने आप को जानेगा। श्रवण मनन आदि साधन तत्त्व के ज्ञान में परम्परागत साधन माने जा सकते हैं पर वास्तविक बोध करण निरपेक्ष (अपने आप से) ही होता है।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता प्रत्युत देखना होता है जो कि व्यवहार में उपयोगी है। स्वयं के द्वारा जो जानना होता है वह दो तरहका होता है एक तो शरीर संसार के साथ मेरी सदा भिन्नता है और दूसरा परमात्मा के साथ मेरी सदा अभिन्नता है। दूसरे शब्दों में परिवर्तनशील नाशवान् पदार्थों के साथ मेरा किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है और अपरिवर्तनशील अविनाशी परमात्मा के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। ऐसा जानने के बाद फिर स्वतः अनुभव होता है। उस अनुभव का वाणी से वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ तो बुद्धि भी चुप हो जाती है।

प्रस्तुत श्लोक यह स्पष्ट करता है तत्वदर्शन लिख कर, पढ़ कर, सुनकर, या देख कर नही होता है। यह इन्द्रियों से अगोचर है, इसलिये इस तत्व को जानना तभी सम्भव है जब स्वयम ही मन को शुद्ध एवम बुद्ध किया जाए। कल्पनातीत विषय को समझना, पढ़ना, मनन करना सभी आश्चर्यजनक ही है।

अब तक देह और देही का जो प्रकरण चल रहा था उस का आगे के श्लोक में उपसंहार करते हैं। श्लोक 30 से आत्मा के विषय मे अपना उपदेश समाप्त करते हुए आगे के कुछ श्लोक अर्जुन को सामान्य एवम व्यवहारिक ज्ञान पर दिए गए है वो युद्ध भूमि को इंगित कर के है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.29।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.30॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

'dehī nityam avadhyo 'yaṁ,
dehe sarvasya bhārata..I
tasmāt sarvāṇi bhūtāni,
na tvaṁ śocitum arhasi"..II

भावार्थ :

हे भरतवंशी! इस आत्मा का शरीर में कभी वध नहीं किया जा सकता है, अत: तुझे किसी भी प्राणी के लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है ॥३०॥

Meaning:

This eternal and imperishable body-dweller dwells in all bodies, O Bhaarata. Therefore, you should not grieve for any or all beings.

Explanation:

With this shloka, Shri Krishna concludes the topic of the eternal essence. Now, having followed the teaching so far, we would probably have some questions. Let's try to address some of them.

The lesson, the first lesson, is that the body is mortal subject to old age, disease and death. We do have a lot of power over these things to some extent; but we cannot conquer these three things. Old age is inevitable; disease is inevitable; and even if we avoid these two, death is inevitable. And once we are born here, we should be ready to accept this fact. And the most unfortunate thing is we do not know when the death is.

Mortality we are ready to accept. But as lonas it is taking place elsewhere. But what is really required is extend the law to everyone; whether it is close me or far away from me And therefore Krishna says: You should never grieve over any living being; over the death of any living being; over the old age of any living being; whatever help you can do to alleviate the pain you do, and if you can try to extend the life by giving medicine etc. If that is also possible, we should. After all everybody is perishable, therefore, why should I give medicine, do not ask. Be careful. Do not say that. Therefore that is not the argument. What is my duty, Krishna is going to tell. We are going to discuss the duty in the following verses. My duty is helping the person to be happy and comfortable and make him survive as long as possible and in spite of all my efforts, when the death comes, then I am supposed to accept it as what? A fact of life. Therefore, never grieve. And grief is not going to change a fact. Grief is never going to change a fact.

So if we were to ask ourselves "I have studied the Gita for a while now, what is the message in a nutshell so far?". Or in management-speak "What is the net-net?". It is this shloka. Therefore, even if we may not remember all the shlokas about the eternal essence, we should not forget this shloka.

Here's another question: "We have covered the entire first chapter, as well as some part of the second chapter. Where is God in all of this?" We have purposely avoided the word "God" in our discussions because Shri Krishna has not yet uttered that word in any teaching so far. As we proceed through the Gita, Shri Krishna will bring up this topic at the appropriate time. For now, if we go to a place of worship like a temple, we can still continue to pray to God, knowing that the eternal essence is an integral part of God as well.

The pragmatist among us would ask "All this abstract stuff is well and good, how do we apply it in our daily life?". And the answer is - stay tuned! The topics will become more practical starting with the next shloka. All we need to remember is the examples from these shlokas: the eternal essence is like the sun, actionless and changeless. It is like the water that pervades the entire cloth. And it is like the car-dweller who occupies and leaves the car once it is old.

Lord Krishna wants to remove Arjuna's sorrow caused by attachment and also the Lord wants to persuade Arjuna to fight the dhārmic war; dharma yuddḥam and for this purpose, he is trying to convince Arjuna from different levels of discussion. First he took up the philosophical angle and that is adhyātmika dṛṣṭi; and he elaborately discussed ātma-anātma vivēka. And his argument was from the standpoint of ātma, there is no question of anybody killing anyone,because ātma is eternal; and from the standpoint of anātma or body, mortality of the body has to be accepted. Ātma is never mortal and anātma is ever mortal. And the one who owns up the immortality of ātma and the one who accepts the mortality of the body, that person is a wise man. And therefore Arjuna you should accept the mortality of Bhīṣma śarīram, Drōṇa śarīram, etc. and once you learn to accept that; there

is no cause for grief at all. This was the discussion up to verse No.30. And now from philosophical level, Lord Krishna is coming down to ethical or moral level which I called dhārmica dṛṣṭi. From verse No.31 up to verse No.33, it is ethical angle and Lord Krishna points out that from dhārmica dṛṣṭi also, Arjuna can and should fight the war.No doubt karma śāstra says ahiṁsa paramō dharma. Non-violence is the duty, is a value to be followed by all. But at the same time, the same dharma śāstras says that ahiṁsa is a sāmānya dharma, a general value, which has got exceptions; that means there are exceptional cases where violence is allowed; not only it is allowed, it becomes the duty of a ruler. Similarly, with regard to satyam also, truthfulness is the general rule; but there also they give exception in certain cases, when a person tells a lie, in extreme conditions or आपद्धम ापaddharmaḥ; we have got a set of values called āpaddharmaḥ, in crisis situation, asatyam is also accepted.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यहाँ ग्यारहवें श्लोक से तीसवें श्लोकतक का जो प्रकरण है यह विशेषरूप से देही देह, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, अविनाशी-विनाशी इन दोनों के विवेक के लिये अर्थात् इन दोनों को अलगअलग बताने के लिये ही है। कारण कि जब तक देही और देह अलग अलग है यह विवेक नहीं होगा तब तक कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग आदि कोई सा भी योग अनुष्ठान में नहीं आयेगा। इतना ही नहीं स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिये भी देही-देह के भेद को समझना आवश्यक है। कारण कि देह से अलग देही न हो तो देह के मरने पर स्वर्ग कौन जायगा अतः जितने भी आस्तिक दार्शनिक हैं वे चाहे अद्वैतवादी हों चाहे द्वैतवादी हों किसी भी मत के क्यो न हों सभी शरीरी-शरीर के भेद को मानते ही हैं। यहाँ भगवान् इसी भेद को स्पष्ट करना चाहते हैं।

गीता उसी भाषा मे पढ़ी जानी चाहिये जिस में समझ मे आये। संस्कृत, हिंदी या अंग्रेजी या जिस भी भाषा मे अनुवादित हो। किन्तु कोई भी भाषा मे व्याकरण, शब्द अलंकार या भाषा के अर्थो की खूब सुरती गीता के अर्थ को स्पष्ट नही करती जब तक मन के अंदर इस को मनन नही किया जाए। लोहा चाहे कितना भी तपा लो, वह लोहा ही रहेगा, चाहे द्रव के रूप में ही हो या लोह अयस्क में। इसलिये शाब्दिक ज्ञान कितना भी पढ़ लो, सुन लो यहां तक कंठस्थ भी कर लो, सांसारिक ही रहेगा।

इस प्रकरण में भगवान् ने जो बात कही है वह प्रायः सम्पूर्ण मनुष्यों के अनुभवकी बात है। जैसे देह बदलता है और देही नहीं बदलता। अगर यह देही बदलता तो देह के बदलने को कौन जानता पहले बाल्यावस्था थी फिर जवानी आयी कभी बीमारी आयी कभी बीमारी चली गयी इस तरह अवस्थाएँ तो बदलती रहती हैं पर इन सभी अवस्थाओं को जानने वाला देही वही रहता है। अतः बदलने वाला और न बदलनेवाला ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसलिये भगवान् ने इस प्रकरण में आत्मा-अनात्मा, ब्रह्म-जीव प्रकृति-पुरुष, जड-चेतन माया-अविद्या आदि दार्शनिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया है । कारण कि लोगों ने दार्शनिक बातें केवल सीखने के लिये मान रखी हैं उन बातों को केवल पढ़ाई का विषय मान रखा है। इस को दृष्टि में रखकर भगवान् ने इस प्रकरण में दार्शनिक शब्दों का प्रयोग न कर के देह-देही, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, विनाशी-अविनाशी शब्दों का ही प्रयोग किया है। जो इन दोनों के भेद को ठीकठीक जान लेता है उस को कभी किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं हो सकता। जो केवल दार्शनिक बातें सीख लेते हैं उनका शोक दूर नहीं होता।

एक छहों दर्शनों की पढ़ाई करना होता है और एक अनुभव करना होता है। ये दोनों बातें अलगअलग हैं और इन में बड़ा भारी अन्तर है। पढ़ाई में ब्रह्म ईश्वर जीव प्रकृति और संसार ये सभी ज्ञानके विषय होते हैं अर्थात् पढ़ाई करनेवाला तो ज्ञाता होता है और ब्रह्म ईश्वर आदि इन्द्रियों और अन्तःकरणके विषय होते हैं। पढ़ाई करनेवाला तो जानकारी बढ़ाना चाहता है विद्या का संग्रह करना चाहता है पर जो साधक मुमुक्षु जिज्ञासु और भक्त होता है वह अनुभव करना चाहता है अर्थात् प्रकृति और संसार से सम्बन्धविच्छेद कर के और अपने-आपको जानकर ब्रह्म के साथ अभिन्नता का अनुभव करना चाहता है ईश्वरके शरण होना चाहता है।

नित्य एवम अनित्य के संबंध में श्री कृष्ण के यह वचन अर्जून के उस मोह रूपी अहंकार का उत्तर है जिस में उस ने शास्त्रों एवम पूर्वजो की मान्यतायों का सहारा ले कर युद्ध नही करने की ठान ली थी। वो इन की हत्या नही करना चाहता था। अर्जुन भी ज्ञानी था, उस ने भी यह आत्मा-अनात्मा सब सुन-पढ़ और याद कर रखे थे, किन्तु युद्ध भूमि में कर्तव्य पालन में वह मोह

ग्रस्त हो गया, क्योंकि वह ज्ञान को आत्मसात नही कर पाया था एवम युद्ध भूमि में अपने क्षत्रिय धर्म का पालन न करते हुए पलायन करने को तैयार था। अतः सर्व प्रथम उस के ज्ञान को प्रकाश दिखाना आवश्यक था।

अन्य दृष्टिकोण से आप को अर्जुन की जगह मुक्ति पाने के लिए खड़े होने को कहा था। और इस प्रकार के आत्म ज्ञान से निश्चय ही आप या तो आश्चर्य चकित होंगे, या संतुष्ट न हो कर और अधिक ज्ञान की और जुड़ेंगे, या फिर स्वयं ज्ञानवान हो कर अन्य को गीता दर्शन देना शुरू करेंगे या फिर इस को मनन करेगे। श्लोक 29 के अनुसार आत्मज्ञान आत्मा का बोध तो करवा देता है किंतु आत्मसात नही करता। आत्मसात होने के लिए अभी भी कंही न कही द्वेत भाव एवम संसार जुड़ा रहता है, गीता में अभी तक ईश्वर ने स्वयं की प्रकट न करते हुए सिर्फ ज्ञान दिया है और आत्म सात होने के लिए यह भूमिका मात्र है क्योंकि जब तक निर्लिप्त हो पूर्णतय हम ईश्वर की शरण नही लेते एवम इन्द्रियों, बुद्धि एवम मन को वश में नही करते, हमारे अंदर का अहम यह स्वीकार नही करेगा और गीता एक पाठ्यक्रम की भांति हमे प्राप्त होगी।

शंकराचार्य जी कहते है कि मनन करने पर भी जो आत्म ज्ञान होता है, उसे प्राप्त करनेवाला अहम जीवित ही रहता है। यह अहम बताता है कि तुम ब्रह्मज्ञानी हो, यही ब्रह्मज्ञान भ्रमज्ञान है जब तक अहम साथ मे है। मुक्ति या मोक्ष में जब आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है तो इस प्रकार ब्रह्मसन्ध के समस्त कार्य परमात्मा के ही कर्म होते है क्योंकि वहाँ अहम है ही नही।

लिंग शरीर के लक्षण की सिद्धि के लिए मन में और बुद्धि में , क्रम से चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव जानना चाहिए । इस तरह लिंग शरीर सत्तरह अवयवों वाला न होकर, उन्नीस अवयवों वाला हो जायेगा ।।

जैसे संकल्प आदि मन के धर्म हैं , वैसे ही चिन्तन भी मन का धर्म है । इसलिए मन में ही चित्त का अन्तर्भाव भले प्रकार से सिद्ध होता है ।।

बुद्धि में शरीर आदि के प्रति अत्यंत दृढ भाव / संस्कार दीखते हैं-- 'मैं दुःखी हूँ , मैं सुखी हूँ इत्यादि ' ; जिससे बुद्धि में अन्तर्भाव का मानना युक्त अहंकार प्रतीत होता है ।।

उपर्युक्त विवेचना से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि अहंभाव अर्थात कर्तापना बुद्धि का अज्ञान है और करणपना मन का अज्ञान है । कर्तापना और करणपना -- इन दोनों प्रकारों के अज्ञानों के वश में होने से जीव जन्म - मरणरूप संसार-चक्र में फंसा रहता है ।।

महत्वपूर्ण यही है देह नश्वर है किंतु सृष्टि के कर्तव्य कर्म के अनिवार्य भी, इस की रक्षा करना, इस को सही और सत्वगुण युक्त रखना, बीमार पड़ने पर औषधि लेना और स्वास्थ्यवर्धक भोजन लेना भी उतना ही आवश्यक है, जितना आत्मा के ज्ञान को जानना। बिना देह के ज्ञान भी अपूर्ण है। इसलिए प्राणी मात्र से सहयोग और सेवा भाव से रहना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। सृष्टि यज्ञ चक्र की आवश्यकता को समझ कर जो मनुष्य परमात्मा के कार्य में लगता है, वह कर्मयोगी है।

आध्यात्मिक दृष्टि कोण से आत्मा को जाने लेने के बाद, भगवान श्री कृष्ण आगे के दस श्लोक पूर्णतः व्यवहारिक एवम सामाजिक व्यक्ति को क्या करना चाहिये के विषय में अर्जुन के अज्ञान को स्पष्ट करते है। गीता में हर दृष्टिकोण से आप को परमात्मा तैयार करेंगे बस परमात्मा को अर्जुन की भांति सुने एवम मनन करे।

ध्यान रखे आत्म तत्व नित्य है और देह, इंद्रियां, बुद्धि एवम मन अनित्य। नित्य की इस के पार जा कर प्राप्त किया जा सकता है किंतु इस अनित्य शरीर के द्वारा ही। अतः हर कदम हमे ऊंचाई की ओर ही बढ़ाना है, कैसे यह हम हरि मुख से आगे सुनेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.30।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.31॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

"sva-dharmam api cāvekṣya,
na vikampitum arhasi..I
dharmyād dhi yuddhāc chreyo 'nyat,
kṣatriyasya na vidyate"..II

भावार्थ :

हे अर्जुन! क्षत्रिय होने के कारण अपने धर्म का विचार करके भी तू संकोच करने योग्य नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म के लिये युद्ध करने के अलावा अन्य कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है ॥३१॥

Meaning:

Furthermore, you should not be disturbed when you consider your duty, because there is no other glory for a warrior that a righteous war.

Explanation:

Arjuna should take to this war. And for this alone, Krishna is approaching from three different levels; I said in the introduction, the first level, philosophical level, in Sanskrit it is called adhyātmika dṛṣṭi; the second level is ethical level; that is dhārmica dṛṣṭi; the final level is empirical level; that is loukika dṛṣṭi.

Shri Krishna now begins a fresh topic in these next few shlokas. He deals with the issue of svadharma, or one's own duty. It is important to remember that although Shri Krishna has addressed these shlokas to a mighty warrior, each of us has to interpret what they mean for us.

So, what exactly is one's duty? In this context, it is not something we have to do because someone else is forcing us, or because the so-called caste system says so.

Swa-dharma is one’s duty as an individual, in accordance with the Vedas. There are two kinds of swa-dharmas, or prescribed duties for the individual—para dharma, or spiritual duties, and apara dharma, or material duties. Considering oneself to be the soul, the prescribed duty is to love and serve God with devotion. This is called para dharma. However, since a vast majority of humankind does not possess this spiritual perspective, the Vedas also prescribe duties for those who see themselves as the body. These duties are defined according to one’s āśhram (station in life), and varṇa (occupation). They are called apara dharma, or mundane duties.

Duty is work that one enjoys doing, has the aptitude and training for doing, and is not illegal or unethical. The practice of medicine becomes a svadharma for a doctor when he or she finds joy in the work, has completed medical training, and uses it for the betterment of society. Education becomes svadharma for students when they find joy in attending classes and studying for exams.

Note that the same person could have more than one svadharma. For example, a woman could be a mother at home, and executive at work.

One may ask, "I have the training and aptitude for my profession. I certainly do not perform any illegal activities. But I don't find joy in my work. It is a drudgery for me, I only do it so that I can earn a living. How do I find joy in my work?".

Shri Krishna has anticipated this question and will give us the trick for addressing this question very soon.

Let's also understand why Shri Krishna chose to introduce the topic of svadharma right after concluding the topic of the eternal essence. As we saw earlier, most of us are not at the advanced stage of spirituality where we have the ability to perceive the eternal essence in all beings, even though we may have an abstract or theoretical understanding of it by now. We are people with professions, jobs, careers and responsibilities. We are not in a position to retire to a monastery. Most of our day is spent in work.

Knowing this, Shri Krishna is gently introducing us to a more practical method of accessing the eternal essence. In this method, we can continue to lead our daily lives and still orient ourselves to accessing that eternal essence. As a side effect of this, we will also find joy and fulfillment in our work.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीव और आत्मा का वर्णन करने के बाद प्राकृत धर्म का वर्णन आवश्यक है। प्रकृति में जीव आयु एवम कर्म से विभिन्न आश्रम और वर्ण के अनुसार अपने कर्तव्य को करता हुआ, कर्म करता है। स्वयं की रक्षा, अपने स्वजनों की रक्षा और पालन और समाज में मिल कर रहना, उस का प्राकृत धर्म है। इस लिए अर्जुन प्रकृति में एक क्षत्रिय है और वह युद्ध भूमि में अपने हितों और धर्म के पालन के खड़ा है। यहां उस का तत्कालीन धर्म क्या होगा?

यह स्वयं परमात्मा का अंश है। जब यह शरीर के साथ तादात्म्य कर लेता है तब यह स्व को अर्थात् अपने आप को जो कुछ मानता है उस का कर्तव्य स्वधर्म कहलाता है। जैसे कोई अपने आप को ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र मानता है तो अपने अपने वर्णोचित कर्तव्यों का पालन करना उस का स्वधर्म है। कोई अपने को शिक्षक या नौकर मानता है तो शिक्षक या नौकर के कर्तव्यों का पालन करना उस का स्वधर्म है। कोई अपने को किसी का पिता या किसी का पुत्र मानता है तो पुत्र या पिता के प्रति किये जानेवाले कर्तव्यों का पालन करना उस का स्वधर्म है।

यहाँ क्षत्रिय के कर्तव्य कर्म को धर्म नाम से कहा गया है । क्षत्रिय का खास कर्तव्य कर्म है युद्ध से विमुख न होना। अर्जुन क्षत्रिय हैं अतः युद्ध करना उन का स्वधर्म है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि अगर स्वधर्म को ले कर देखा जाय तो भी क्षात्र धर्म के अनुसार तुम्हारे लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है। अपने कर्तव्य से तुम्हें कभी विमुख नहीं होना चाहिये।

धर्ममय युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिये दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है अर्थात् क्षत्रिय के लिये क्षत्रिय के कर्तव्य का अनुष्ठान करना ही खास काम है । ऐसे ही ब्राह्मण वैश्य और शूद्र के लिये भी अपने अपने कर्तव्य का अनुष्ठान करने के सिवाय दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है।

अर्जुन ने सातवें श्लोक में प्रार्थना की थी कि आप मेरे लिये निश्चित श्रेयकी बात कहिये। उस के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि श्रेय (कल्याण) तो अपने धर्म का पालन करने से ही होगा। किसी भी दृष्टि से अपने धर्म का त्याग कल्याणकारक नहीं है। अतः तुम्हें अपने युद्धरूप धर्म से विमुख नहीं होना चाहिये।

आत्मा नित्य, अजर, अजन्मा है कहने के बाद, इस का अर्थ यह कदापि नही लिया जा सकता कि कोई भी किसी को कभी भी मार दे, क्योंकि आत्मा तो मरती नही, शरीर मरता है। गीता का यह श्लोक आसमान से धरती तक उतरने जैसा है। श्लोक 11 से 30 तक नित्य एवम अनित्य की उच्च कोटि की बातों के बात कृष्ण का एकदम से सांसारिक बात पर आना क्यों जरूरी है। सदाहरण सा यह वाक्य कितना गहन अर्थ लिए है यह हम आगे पढ़ेगे। समाज मे धर्म सत्य, अहिंसा, दया एवम

सर्व मानव जाति के कल्याण का परिचायक है, समाजिक व्यवस्था में किसी की हत्या करना जघन्य अपराध ही माना गया। किन्तु कीर्ति, रक्षा एवम धर्म के नियमो के बलिदान होना किसी भी क्षत्रिय का वर्ण व्यवस्था का कर्तव्य धर्म है। इसलिये युद्ध भूमि में एक बार खड़े हो जाने के बाद पलायन करना स्वधर्म का पालन नही करना है। देश की सीमा की रक्षा करने वाले सैनिक को क्षत्रिय ही माना गया है। यही बात प्रत्येक वर्ण व्यवस्था के जीव पर लागू होती है क्योंकि कर्म का चयन प्रकृति करती है, जीव तो अकर्ता ही है।

जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध नकारा नही जा सकता। जीव प्रकृति के साथ कर्ता या अकर्ता का सम्बंध बनाता है, यह जीव पर निर्भर है किंतु प्रकृति जिस नियति के जीव को निमित बनाती है वही वर्ण व्यवस्था में उस का कर्तव्य धर्म है, वहाँ से पलायन करना, स्वयं को कर्म के बंधन में रखने के समान ही है।

युद्ध भूमि में शत्रु का विनाश न कर के अनेक राजा लोगो ने शत्रु पर दया एवम अहिंसा दिखाई जिस के दुष्ट प्रवृति के शत्रु ने पुनः प्रबल हो कर, उन का ही नाश किया। अतः अर्जुन का युद्ध भूमि में शत्रु के साथ मोह उस के क्षत्रिय धर्म के अनुकूल नही है।

हम में से सभी गीता का अध्ययन कर रहे है अभी तक ज्ञान के आधार पर हम ने इसे पढा किन्तु इस को जीवन मे कैसे उतारे इस की प्रथम सीढ़ी का यह श्लोक गीता के रचयिता वेदव्यास के महान ज्ञान की परिचायक है। हमे हमारा लक्ष्य या परिचय देने के बात की हम उस नित्य के अंश है जो अविभाजित, अजन्मा, एवम शास्वत है। किंतु हम प्रकृति के प्राणी शरीर, इन्द्रियो, बुद्धि एवम मन के वश में है, अपने ज्ञान, अनुभव एवम भावनाओ पर कार्य करते है । प्राकृतिक आवश्यकताओं, रोटी, कपड़ा और मकान एवम पद, लोकप्रियता, सम्मान आदि के लिए जीते है अतः कृष्ण हमे कहते है कि यहां प्रथम सीढ़ी अपने धर्म का पालन समय एवम स्थान के अनुसार करो। धर्म मंदिर की घंटी बजाने वाला नहीं, जन हित मे आप जो भी कार्य करते है वो ही स्वधर्म है, विद्यार्थी है तो पढ़ाई करे, व्यापारी है तो व्यापार करे, सैनिक है तो युद्ध भूमि में डटे रहे और नौकरी पेशा है तो नौकरी करे। वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित व्यवस्था थी जिस बाद में जन्म पर आधारित किया गया और बुराई के तौर पर उभरी। स्वामी विवेकानंद जी ने भी कहा है कि पूजा और मंदिरों में जाने की अपेक्षा युवा को खेल के मैदान और अखाड़ों में जा कर अपने शरीर को बलिष्ठ बनाना ज्यादा श्रेष्ठ है। यदि आप अपने सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, व्यापारिक एवम व्यवहारिक जीवन में कर्मठ, उत्साहित, ईमानदार और समर्पित नही है, आप में करुणा, दया, अन्याय का विरोध करने की क्षमता नही है, आप स्वार्थ और लोभी जीवन जीते है तो आप अपने प्रथम लौकिक धर्म का ही पालन नहीं करते तो आध्यात्मिक जीवन का पालन भी नही कर सकते, फिर वेद, उपनिषद, गीता पढ़ने या पूजा - पाठ, यज्ञ आदि कितना भी करे, आप अपने को ही धोखा दे रहे है। दैवीय संपदा और आसुरी संपदा भी हम आगे पढ़ेंगे, जो हमारे जीवन चरित्र का ही आवश्यक भाग है।

आगे भक्ति योग, कर्मयोग एवम ज्ञान योग एवम जीवन शैली पर कृष्ण क्रमश समझाएंगे की किस प्रकार हम अपने वास्तविक नित्य स्वरूप को प्राप्त करसकते है। गीता जीवन शैली है, और इस को अपनाने से ही हम नित्य स्वरूप को प्राप्त होते है।

गीता युद्ध यानि संघर्ष की पृष्ठ भूमि में लिखी है अतः युद्ध की बाते की गई है वो आप को आप के कर्तव्य के लिए है क्योंकि मुक्ति को प्राप्त करना ही युद्ध है।

युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हुए भगवान् अन्य कारण आने वाले श्लोक में बताते हैं ।

।। हरि ॐ तत सत ।। 02.31 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.32॥

यदृच्छया चोपपन्नां स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

"yadṛcchayā copapannaḿ,
svarga-dvāram apāvṛtam..I
sukhinaḥ kṣatriyāḥ pārtha,
labhante yuddham īdṛśam"..II

भावार्थ :

हे पार्थ! वे क्षत्रिय भाग्यवान है जिन्हे ऐसे युद्ध के अवसर अपने-आप प्राप्त होते है जिस से उन के लिये स्वर्ग के द्वार खुल जाते है ॥३२॥

Meaning:

Fortunate are those warriors who will fight such a war, O Paartha. Indeed, it is like a door to heaven that has opened without any effort.

Explanation:

As we can see, the Bhagavad Gita is a call to action, not to inaction. When people are exposed to lectures on spirituality, they often question, “Are you asking me to give up my work?” However, verse after verse, Shree Krishna is giving Arjun the reverse instruction. While Arjun wishes to abandon his duty, Shree Krishna repeatedly coaxes him to discharge it.

The proper discharge of one’s occupational duties is not a spiritual act in itself, and it does not result in God- realization. It is merely a virtuous deed with positive material rewards. Shree Krishna brings his instructions a step lower and says that even if Arjun is not interested in spiritual teachings, and wishes to remain at the bodily platform, then also his social duty as a warrior is to defend righteousness.

Any singer or musician will look forward to performing in a large auditorium like Carnegie Hall rather than perform in a small 20 seat theatre. A doctor who genuinely cares about saving lives will tirelessly and joyfully work extra hard if she is handling an emergency room with a huge number of patients rather than serving only 1-2 patients a day.

In other words, a person performing his or her svadharma would always prefer working hard towards a challenging assignment rather than simply pulling along in a mediocre one. Shri Krishna pointed this out to Arjuna by reminding him that a true warrior would look forward to the challenge of fighting the Kaurava army, which was filled with world-renowned warriors.

We shall not forget that opportunity to prove the capacity and ability is not come in life on regular basis. But only courageous person grapes the opportunity where others lost in thinking or in fear.

How is this relevant to us? Our work should give us joy, our work should be its own reward. If we have chosen a profession that feels like drudgery, if we feel that any new work given to us is a chore rather than a challenge, if all we can do is complain, then we should re-examine whether we are really following our svadharma, or we are qualified to do something else.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता कर्म प्रधान ग्रंथ है, यहां उपदेश सन्यास लेने की बात करने वाले शिष्य को सन्यास नही लेते हुए, कर्तव्य कर्म की दीक्षा दी जा रही है। इसलिए अध्यात्म से सामाजिक लोक ज्ञान तक भगवान अर्जुन को अपना कर्तव्य कर्म ही करने को कहते है। प्रकृति क्रियाशील है, भूत के गर्त में अनेक लोग आते गए और समा गए, जिन्होंने लोकसंग्रह के लिए कार्य किया, उन्हे ही आने वाली पीढ़ी में सम्मान मिला, जिन्होंने देश की रक्षा और आजादी के लिए अपने प्राणों की आहुति दी, उन के लिए कहा जाता है कि उन के लिए स्वर्ग के द्वारा हमेशा खुले रहते है।

क्षत्रिय शब्द का तात्पर्य यहाँ जन्म से निश्चित की हुई क्षत्रिय जाति से नहीं है। यह व्यक्ति के मन की कतिपय विशिष्ट वासनाओं की ओर संकेत करता है। क्षत्रिय प्रवृति का व्यक्ति वह है जिस में सार्मथ्य और उत्साह का ऐसा उफान हो कि वह दुर्बल और दरिद्र लोगों की रक्षा के साथ संस्कृति के शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण, अपने प्राणों की परवाह किए बिना, कर सके। हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार ऐसे नेतृत्व के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को स्वयं ही संस्कृति का विनाशक और आक्रमणकारी नहीं होना चाहिये।

किन्तु अधर्म का प्रतिकार न करने की कायरतापूर्ण भावना भी हिन्दुओं की परम्परा नहीं है। जब भी कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त हो तो क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे इसे स्वर्ण अवसर समझ कर राष्ट्र का रक्षण करें। इस प्रकार के धर्मयुद्ध स्वर्ग की प्राप्ति के लिए खुले हुए द्वार के समान होते हैं। ऐसा धर्ममय युद्ध जिन को प्राप्त हुआ है वे क्षत्रिय बड़े सुखी हैं।

यहाँ सुखी कहने का तात्पर्य है कि अपने कर्तव्य का पालन करने में जो सुख है वह सुख सांसारिक भोगों को भोगने में नहीं है। सांसारिक भोगों का सुख तो पशुपक्षियों को भी होता है। अतः जिन को कर्तव्य पालन का अवसर प्राप्त हुआ है उन को बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिये।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए वेदान्त के सर्वोच्च सिद्धांत से उतर कर भौतिकवादियों के स्तर पर आये और उस से भी नीचे के स्तर पर आकर वे जगत् के एक सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी परिस्थिति का परीक्षण करते हैं।

परोपकार, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा के साथ साथ धर्म अपनी सभ्यता एवम संस्कृति की रक्षा भी करने हेतु संघर्ष एवम युद्ध तक करने की आज्ञा देता है जिस से आगे मानव जाति का कल्याण हो। अर्जुन इस युद्ध से पीछे हट रहा है जब कि युद्ध दुर्योधन के हट से शुरू हुआ जिस में उस ने बनवास से लौटे पांडव को उन की भूमि लुटाने से मना कर दिया। अतः यह युद्ध अर्जुन ने नही चुना था, यह युद्ध दुर्योधन के अधर्म के विरुद्ध था। क्षत्रियो के जीवन मे महान लक्ष्य की पूर्ति के अवसर कभी कभी आते है, जिस में वह अपने जीवन को किसी की रक्षा के दावे पर लगा देते है। देश की रक्षा के लिये मरने वाला सैनिक स्वर्ग का अधिकारी होता है क्योंकि उस ने अपना जीवन का त्याग महान कार्य के लिये किया है। यही बात सरल रूप में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के समक्ष रखते है।

हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि प्रकृति किसी उच्चतम कार्य को करने का मौका कभी कभार ही किसी व्यक्ति तो देती है। साहसी और उद्यमी उस अवसर में अपनी योग्यता सिद्ध करते है जब कि अधिकतर वह मौका डर कर या विचार आदि करने में गवां देते है।

इन विभिन्न दृष्टिकोणों से वे अर्जुन को यह सिद्ध कर दिखाते हैं कि उस का युद्ध करना उचित है। इतिहास गवाह है कि श्रीमद्भगवद् गीता जैसे ग्रंथो की प्रेरणा से मुगल काल से अंग्रेजो तक स्वाधीनता की लड़ाई में अपने प्राणों की आहुति देने वाले वीरों में नवयुवक, सभी वर्ग के स्त्री - पुरुषो और साधु - सन्यासियो थे। सिख गुरुओं, स्वार्थ स्वामी रामदास आदि की कथाएं आज भी प्रेरणा देती है। अर्जुन की आशंका युद्ध के कारण वर्णसंकर जाति के उत्पन्न होने की शंका भी निर्मूल नही थी। आज भी ऐसे लोग दीमक की भांति हिंदू धर्म को चाट रहे है किन्तु जिस धर्म की ध्वजा सहिष्णुता, दया, अहिंसा, समानता और वसुदेव कुटुम्बकम पर आधारित हो, उसे कौन झुका या मिटा सकता है।

आज के युग मे भी जब भी किसी मनुष्य को किसी भी कार्य की करने का अवसर मिले तो उसे पूर्ण निपुणता से करना चाहिए क्योंकि स्वधर्म यही कहता है। हर मनुष्य जब किसी को ज्ञान देता है तो वो ब्राह्मण का कार्य कर रहा है, जब परिवार, मित्र या देश की रक्षा कर रहा है तो क्षत्रिय, जब बाजार में मोल भाव कर के सामान खरीद या बेच रहा है या कोई सौदे की तैयारी कर रहा है तो वैश्य एवम जब सेवा दे रहा है तो शुद्र। कालांतर में सेवा भाव की निम्न सिद्ध करने की कोशिश की गई जब कि स्वधर्म की यह चार अवस्था जन्म से नही कर्म से निश्चित की जाती थी। यह भी विस्तार से गीता में हम आगे पढ़ेंगे।

किन्तु यदि हम अपने स्वधर्म को निपुणता से पूरे मन के साथ करते है तो ही हम कर्मयोगी बनेंगे एवम सफल होंगे। यहाँ सफल होने का अर्थ समय निकल जाने से बाद यह अफसोस न होना की यदि मैने उस समय ध्यान दिया होता तो यह नही होता।

युद्ध न करने से क्या हानि होती है इसका आगे के चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।।2.32 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.33॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

"atha cet tvam imaṁ dharmyaṁ,
saṅgrāmaṁ na kariṣyasi..I
tataḥ sva-dharmaṁ kīrtiṁ ca,
hitvā pāpam avāpsyasi"..II

भावार्थ :

किन्तु यदि तू इस धर्म के लिये युद्ध नहीं करेगा तो अपनी कीर्ति को खोकर कर्तव्य-कर्म की उपेक्षा करने पर पाप को प्राप्त होगा ॥३३॥

Meaning:

On the other hand, if you do not undertake this righteous war, then by forsaking your duty and valour, you will incur sin.

Explanation:

A part from philosphy, now on the basis of social behaviour as per Dharm shastra, If a warrior chooses to become non-violent on the battlefield, it will be dereliction of duty, and hence, classified as a sinful act. Hence, Shree Krishna states that if Arjun abandons his duty, considering it to be repugnant and troublesome, he will be committing a sin. The Parāśhar Smṛiti states:

“The occupational duty of a warrior is to protect the citizens of the country from oppression. This requires the application of violence in appropriate cases for the maintenance of law and order. He should thus defeat the soldiers of enemy kings, and help rule the country according to the principles of righteousness.”

The word "sin" could mean several things to several people. Let us understand the meaning used here. If you live in society anywhere, in a city, town, village etc. you are always bound by certain laws. If you conduct an act that goes against the law, then it is called a crime. Stealing a car, for example, is a crime.

Similarly, if someone does not perform their svadharma or duty, or does something counter to their svadharma, it is equivalent to a crime under a cosmic or universal law. That crime is termed as a sin.

Sin is divided into two part, one not doing the work which a person has to do according to situation, varana, aashram and on other hand doing the work which are prohabitated in Dharm shastra like drinking liquor, prostitution etc.

Therefore, Shri Krishna urges Arjuna and us to consider the repercussions of not conducting our svadharma as Arjun denied to do war against his own kins.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यदि तुम इस युद्ध से विरत हो जाओगे तो न केवल स्वधर्म और कीर्ति को ही खो दोगे वरन् निश्चय रूप से पाप के भागीदार भी बनोगे। अधर्मियों का प्रतिकार न करना निरपराध व्यक्ति की हत्या करने के समान ही घोर पाप है।

धर्म शब्द का विवेचन पहले किया जा चुका है। प्रत्येक प्राणी पूर्वार्जित वासनाओं के साथ किसी देह विशेष में विशेष प्रयोजनार्थ इस जगत् में जन्म लेता है। वह विशेष प्रयोजन इन वासनाओं का क्षय करके स्वस्वरूप को पहचानना है। प्रत्येक व्यक्ति जिन वासनाओं के साथ जन्म लेता है वहीं उसका स्वधर्म स्वभाव कहलाता है। अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रिय का है जिसका विशेष गुण आदर और यशपूर्ण शौर्य है।

मृत्यु से पूर्व कर्म- कार्य- कारण के सिंद्धांत के अनुसार यदि कोई अतृप्त इच्छा या वासना रह जाति है या कर्ता भाव से कर्म करने से अहम जुड़ा रहता है तो पुनः जन्म में उस को पूर्ण करना ही स्वधर्म है। कबीर, रेदास, बाल्मीक, विट्ठल जैसे अनेक संत स्वधर्म का पालन कर के ही मोक्ष को प्राप्त हुए।

वासना क्षय के लिए जीवन में प्राप्त इन अवसरों को खो देना विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना है। यदि इनका क्षय न हुआ तो मनुष्य के मन पर वासनाओं का दबाव बढ़ता जाता है क्योंकि पूर्वार्जित वासनाओं के साथ नएनए संस्कार भी एकत्र होते जाते हैं। प्राप्त क्षण में भले ही अर्जुन युद्ध भूमि से भाग जाये परन्तु बाद में इस अवसर को खो देने का पश्चात्ताप ही उसको होगा क्योंकि इस प्रकार का पलायन उसके उस क्षत्रिय स्वभाव के सर्वदा विपरीत है जिसे युद्ध में ही चिर शान्ति प्राप्त हो सकती है।

जिस बालक में कला के प्रति स्वभाविक रुचि और प्रवृत्ति है वह कभी सफल व्यापारी नहीं बन सकता। पुत्र प्रेम के कारण यदि मातापिता अपनी इच्छाओं काे अपने पुत्र पर थोप देते हैं तो यह देखा जाता है कि ऐसे बालक का व्यक्तित्व बिखरा हुआ रहता है।

इस तरह के उदाहरण विश्व में प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाते हैं और विशेषकर आध्यात्मिक क्षेत्र में। बहुत से व्यक्ति थोड़े से दुख और कष्ट के आघात से क्षणिक वैराग्य के कारण ईश्वर की खोज में गृह त्यागकर जंगलों में चले जाते हैं किन्तु वहाँ जीवन भर वे अशान्ति और दुख ही पाते हैं। मन में विषयोपयोग की वासनाएँ होती है जो पारिवारिक जीवन में पूर्ण की जा सकती हैं। परन्तु गृह त्यागकर हिमालय की कन्दराओं में बैठने से न तो वे इन वासनाओं को ही पूर्ण कर पाते हैं और न ईश्वर का ध्यान उनके लिए सम्भव होता है। स्वभाविक है कि उनके मन में विक्षेप बढ़ते जाते हैं जिन्हें पाप कहते हैं।

पूर्ण रूप से व्यवहारिक एवम सामाजिक दृष्टिकोण से अर्जुन के इस युद्ध को न करने के निर्णय का उत्तर देते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है कि क्षत्रिय होते हुए यदि तुम युद्ध से विमुख होंगे तो कीर्ति तो जाएगी ही, साथ मे स्वधर्म का पालन न करने का पाप भी लग जायेगा। कुछ लोग कहते है कृष्ण अर्जुन को अपने ही भाइयो एवम स्वजनों के विरुद्ध युद्ध के लिये उसका रहे है, जब कि सत्य यही है भगवान श्री कृष्ण ही अंत मे समझौते के लिये गए थे और सिर्फ पांच गांव तक के लिये समझौता करने को तैयार थे। युद्ध दुर्योधन की महत्वाकांक्षाओ के कारण पांडवो पर थोपा गया है, क्योंकि उन के साथ अन्याय हो रहा है इसलिये उन के साथ भी सेना खड़ी है। कौरव की सेना कौरव के प्रति मजबूरी में बंधी थी किन्तु स्वेच्छा से सेना पांडव के साथ थी, इसलिये यह सेना ज्यादा उत्साहित थी। इसलिये यहां कर्तव्य धर्म, स्वधर्म के पालन का प्रश्न था। जीव संसार मे अपयश या पाप के लिये नही जीता, वह सम्मान के साथ कोई पाप कर्म किये बिना जीना चाहता है।

हिन्दू धर्म के अनुसार अपने आत्मस्वरूप को भूलकर मनुष्य जो गलतियाँ या अनुचित कर्म करता है उन्हें पाप कहते हैं। वह समस्त कार्य जिस में स्वार्थ, हिंसा, घृणा, कपट, ईर्ष्या, दुसरो को अनुचित कष्ट देना और अपने कर्तव्य धर्म का पालन न करना आदि आदि सामाजिक नियमो के धर्म शास्त्र में पाप माने गए है।

पाप धर्म के अनुसार अपने स्वधर्म का पालन न करना और आज देश के कानून को न मानना के बराबर है। जो भी कार्य आगे हमे क्षोभ दे कि यह गलत किया वो भी पाप है।

आज व्यापारी हो कर कालाबाजारी, विद्यार्थी हो कर पढ़ाई से चोरी, नेता हो कर देश की सेवा न करते हुये भ्रष्टाचार सभी तो पाप है। सनातन धर्म में उत्पन्न होने के बावजूद यदि आप अपने धर्म के प्रति जागरूक नही है, आप स्वार्थ और लोभ में विधर्म का साथ देते है, तो भी यह पाप है। आप यदि सरकारी या सामाजिक विश्वत पद हो कर, उस सरकार के कानून या नियम या संस्था के तय नियमो का पालन नहीं करते तो यह भी पाप है।

विषयोपभोग के लिए मनुष्य के द्वारा सुख प्राप्ति के प्रयत्नों के कारण मन में विक्षेप उत्पन्न होना स्वाभाविक है और यही पाप है क्योंकि इसमें आनन्द स्वरूप आत्मा का विस्मरण है।

जगत में सम्मान और कीर्ति का महत्व बताते हुए अर्जुन को आगे के श्लोक में कृष्ण जी कहते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.33।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.34-36॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्ति र्मरणादतिरिच्यते ॥34।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥35।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥36।।

"akīrtiṁ cāpi bhūtāni,
kathayiṣyanti te 'vyayām..I
sambhāvitasya cākīrtir,
maraṇād atiricyate"।।34।।

"bhayād raṇād uparataṁ,
maṁsyante tvāṁ mahā-rathāḥ..I
yeṣāṁ ca tvaṁ bahu-mato,
bhūtvā yāsyasi lāghavam"।।35।।

"avācya-vādāṁś ca bahūn,
vadiṣyanti tavāhitāḥ..II
nindantas tava sāmarthyaṁ,
tato duḥkhataraṁ nu kim"।।36।।

भावार्थ :

लोग सदैव तेरी बहुत समय तक रहने वाली अपकीर्ति का भी वर्णन करेंगे और सम्मानित मनुष्य के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है ।

जिन-जिन योद्धाओं की दृष्टि में तू पहले सम्मानित हुआ है, वे महारथी लोग तुझे डर के कारण युद्ध-भूमि से हटा हुआ समझ कर तुच्छ मानेंगे।

तेरे शत्रु तेरी सामर्थ्य की निंदा करते हुए तुझे बहुत से कटु वचन भी कहेंगे, तेरे लिये इससे अधिक दुःखदायी और क्या हो सकता है?॥३४-३६॥

Meaning:

Moreover, everyone will also speak about your infamy forever. This will be a great sorrow, worse even than death, for an honourable person.

Great warriors will believe that you disengaged from the war due to cowardice. Even though they once regarded you highly, they will now look down upon you.

Your enemies will say many unspeakable things about you. They will condemn your prowess. What could be a greater sorrow than this?

Explanation:

Leaving philosphy aside, Shri krishana starts teaching social importance to do take part in this war for the reasons of prestige.

For respectable people, social prestige is very important. The particular guṇas (modes of nature) of warriors make respect and honor especially important for them. For them, dishonor is worse than death. Shree Krishna reminds Arjun of this, so that if he is not inspired by superior knowledge, he may at least be inspired by inferior knowledge.

Many societies in the world observe the norm that a warrior who runs away from the battlefield out of cowardice is ostracized from society. That could be the extent of dishonor inflicted upon Arjun if he avoided his duty.

Just before the start of the battle, if Arjun were to retire from the battlefield, these gallant warriors wouldn't know that affection for his relatives had inspired him to flee. They would consider him a coward, and assume that he had abstained from the war in dread of their prowess. uses the word nindataḥ which means "to vilify." Avāchya vādān means the use of harsh words such as "Eunuch." Arjun's enemies, like Duryodhan, would say many unbecoming things about him, such as, "Look at that impotent Arjun fleeing from the battlefield like a dog with its tail between its legs."

Aristotle said that to make an argument forceful, convincing and persuasive, one has to incorporate three elements: ethos, logos and pathos, or in other words, emotion, logic and the reputation of the speaker. After having using logic in his teaching, Shri Krishna uses a call to emotion as a tool of persuasion.

We can learn so much from the way Shri Krishna builds and delivers his arguments to Arjuna, not just from the teaching itself. Whenever we have to make a presentation at work, or want to convince our spouse or our parents of something that is important to us, it is always better to a mix of logic and emotion in our arguments rather than just chose one or the other.

This argument you will find often given in the scriptures; in Ramayaṇa, Dasaratha refuses to give boon to Kaikeyi because he is ready to sacrifice everything but he does not want to sacrifice Rama. Kaikeyi uses all the arguments; all arguments fail. Ultimately, Kaikeyi gives one argument and that argument is all your forefathers have kept their words; they are all known for their vakya paripalanam. Entire Raghu vansa is known for vakya paripalanam, such a blotless glory they have maintained; if you withdraw your words, eat your own words, you will be the first person to bring a blot in your entire family. Do you want to sacrifice the name that you enjoy or do you want to go down the history as one who brought a blot in the blotless family of Raghu vansa? The moment that apamana word was given Dasaratha relents and says: Does not matter; he allows.

Similarly Kansa. He decides to kill Devaki because when asariri comes and tells that Devaki's 8th son will be his killer. Vasudeva uses all the arguments to dissuade Kaṁsa and fails. All the arguments fails Ultimately the powerful argument is this. So your family has got wonderful name and fame, and down the history your name will go as the killer of your own sister; out of a fear of a son to be born. Do you want such an apamana? The moment the word apamana is given, Kaṁsa puts the sword inside.

।। हिंदी समीक्षा ।।

एक प्रसिद्ध सम्मानित वीर के लिए अपकीर्ति मरण से भी अधिक होती है। श्रीकृष्ण अर्जुन को दुविधा त्याग कर युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन का पक्ष धर्म और न्याय का होने पर भी उस का युद्ध से पलायन कायरता का लक्षण है। भगवान् के शब्दों में अर्जुन के प्रति सहानुभूति अन्तर्निहित है क्योंकि वे जानते हैं कि भावावेग में शूरवीर अर्जुन भी मन से दुर्बल होकर हतोत्साहित हो सकता है। भावी इतिहास में तो तुम्हारी अपकीर्ति बनी रहेगी ही परन्तु वर्तमान में भी शत्रु पक्ष के ये महारथी तुम्हारा उपहास करेंगे। इस भ्रातृहन्ता युद्ध से तुम्हें जो दुख है उसे न समझकर वे तो यही मानेंगे कि तुमने भय और कायरता के कारण युद्ध से पलायन किया है। इस प्रकार का अनादरपूर्ण कायरता का आरोप कोई भी वीर पुरुष सहन नहीं कर सकता विशेषरूप से जब अपने ही तुल्य बल के शत्रुओं द्वारा वह किया गया हो।

किसी भी वीर पुरुष के अपकीर्ति, अपमान जनित उपहास और अपवचन से बढ़ कर कोई भी निंदीय कार्य नही हो सकता। पूरी जिंदगी वह कुल की मर्यादा के लिए व्यतीत करता है इसलिए उस की रक्षा के लिए उस के जीवन का भी मूल्य नहीं। छोटे बच्चे तक परीक्षा में फेल या कम अंक आने पर आत्महत्या मां - पिता या समाज का अपमान और अपनी प्रतिष्ठा के चक्कर में कर लेते है।

रामायण काल में रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाए पर वचन न जाई में दशरथ तक में कैकई के वर के लिए प्राण तक दे दिए। कंस तक ने देवकी की हत्या लोक निंदा के भय से नही की।

यह देखकर कि अर्जुन के मन में इन तर्कों का अनुकूल प्रभाव पड़ रहा है श्रीकृष्ण उसको युद्ध से पलायन करने में जो दोष हैं उन्हें और अधिक स्पष्ट करके दिखाते हैं। लोकनिन्दा युद्ध से पलायन का आरोप इतिहास में अपकीर्ति इनसे बढ़कर एक सम्मानित व्यक्ति के लिये और अधिक दुख क्या हो सकता है।

युद्ध भूमि में युद्ध के लिए सांसारिक ज्ञान को देखते हुए यह वचन व्यवहारिक जगत में जब भी मोह या भय के कारण जब भी हम अपने कर्तव्य से भागते है तो इन्हें याद करना चाहिए। श्लोक 26 से 36 तक का गीता का ज्ञान अर्जुन के मोह एवम भय को ध्यान में रख कर दिया गया सांसारिक ज्ञान है। गीता में कृष्ण प्रवक्ता के Aristotle के तीन शब्द ethos, logos एवम pathos यानी प्रवक्ता में संस्कार, भावना एवं श्रोता को अपने वचन से सहमत कराने के गुण होना चाहिए। अर्जुन की

युद्ध की भावना मोह एवम भय से टूटी थी जिस को उस ने शास्त्र ज्ञान से बल दे कर निर्णय लिया कि इस युद्ध मे वो मर जाये किन्तु युद्ध नहीं करेगा। पहले श्लोक 11 से 25 तक ज्ञान, फिर 26-27 मोह, 28-36 उस की कीर्ति को बल देते हुए उस को पुनः युद्ध के लिए कहना, एक अच्छे प्रवक्ता के गुण बताता है।

Ethos शब्द प्रवक्ता के अधिकृत वचन का द्योतक है अर्थात प्रवक्ता को जिस विषय पर बोलना है उस का समुचित ज्ञान होना जरूरी है। यदि यह उस मे नही है तो श्रोता का उस पर विश्वास नही होगा।

Logos अपने वाक्यो एवम वचन को तर्क सम्मत बनाना जिस से श्रोता उसको समझ सके। तर्क के द्वारा किसी वस्तु या ज्ञान को सही या उचित सिद्ध करना एक सरल प्रवृति है।

Pathos प्रवक्ता को श्रोता है भावुक कमजोरियों का सही सही आकलन कर लेना चाहिए। क्योंकि भावुकता वह शक्ति है जो इंसान को वह सब करवा सकती है जो वह बुद्धिमत्ता पूर्ण हो कर सोच कर नही कर सकता। भला विवेक रहते कोई आदमी आत्महत्या कर सकता है?

हमारे जीवन मे जब भी हम से बड़े या छोटे सहमत न हो तो हम Aristotle के सिंद्धांत न पालन करते हुए सीधा भावना या आदेश का आचरण करते है और परिवार में यह असहमति बनी रहने से आगे परिवार में कटुता लाती है।

श्लोक 11-36 हमे हमारे भावना वश लिए निर्णय को पुनः विचारने को कहता कि ज्ञान एवम हमारे संस्कार, हमारी भावना और कीर्ति को देखते हुये समय और स्थान के अनुसार सही निर्णय लेना चाहिए।

कर्म त्याग, अहिंसा, दया, मोह उन्ही को शोभा देता है जो सामर्थ्यवान हो। डरपोक, निर्बल, निर्धन, आलसी व्यक्ति यदि यह बातें करे तो यह संसार उसे नकार देता है। अतः अपने को पहले शक्तिशाली होना को सिद्ध करना आवश्यक है।

आगे हम कर्मयोग यानी एक योगी की भांति किस प्रकार हम अपने कार्य करे पढ़ेगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 02.34-36 ।।

।। विशेष ।। Ethos, Logos and Pathos: The Structure of a Great Speech ।। 2. 34-36।।

“A speech is like a love affair. Any fool can start it, but to end it requires considerable skill.”

— Lord Mancroft

The structure of a great oral argument has been passed down through the ages, starting with Aristotle. Not only is it an incredibly valuable skill to have, it’s important to know how you’re being persuaded when you’re a part of the audience. So using Sam Leith’s Words Like Loaded Pistols as our guide, let’s discuss Aristotle’s three modes of persuasion: Ethos, Logos, and Pathos.

But before we get into the specifics of the three modes, we need to decide on the structure of our argument itself. How? By doing the work required to have an opinion.

This phase is referred to as invention, but it’s not about making something up, it’s more about the information gathering or research phase of your work.

Invention is doing your homework: thinking up in advance exactly what arguments can be made both for and against a given proposition, selecting the best on your own side, and finding counterarguments to those on the other.

This research phase should not be limited to the subject matter, it should also include your audience. If there is one theme that resonates throughout Leith's book, it's that you must know your audience; their interests, prejudices and expectations. Without that grounding, you're already setting yourself up for failure. (In other words, your moving speech on why we all need to take a social media holiday may not resonate at the Twitter shareholder meeting.)

Ethos is about establishing your authority to speak on the subject, logos is your logical argument for your point and pathos is your attempt to sway an audience emotionally. Leith has a great example for summarizing what the three look like.

Ethos: 'Buy my old car because I'm Tom Magliozzi.' Logos: 'Buy my old car because yours is broken and mine is the only one on sale.' Pathos: 'Buy my old car or this cute little kitten, afflicted with a rare degenerative disease, will expire in agony, for my car is the last asset I have in the world, and I am selling it to pay for kitty's medical treatment.'

Ethos

The first part of ethos is establishing your credentials to be speaking to the audience on the specific subject matter. It's the verbal equivalent of all those degrees hanging up in your doctor's office. And once you've established why you are an authority on the subject, you need to build rapport. Ethos, when everything is stripped away, is about trust.

Your audience needs to know (or to believe, which in rhetoric adds up to the same thing) that you are trustworthy, that you have a locus standi to talk on the subject, and that you speak in good faith. You need your audience to believe that you are, in the well-known words, 'A pretty straight kind of guy.'

So if you're a politician and you're speaking about reforming the legal system, it's great to be a lawyer or a judge, but it's even better to be a lawyer or a judge who comes from the same community as your audience. Between two speakers with identical credentials, the more closely relatable one will win the audience.

You'll even see a reverse ethos appeal at times, an attack on an opponent which questions their credentials and trustworthiness and serves to alienate them from the audience. To head that off, it's best to establish your ethos early on, both to give your attackers more of a challenge and to create a hook for your logos to hang on.

Logos

Here's how Leith describes logos, the next link in the chain:

If ethos is the ground on which your argument stands, logos is what drives it forward: it is the stuff of your arguments, the way one point proceeds to another, as if to show that the conclusion to which you are aiming is not only the right one, but so necessary and reasonable as to be more or less the only one.

Think of this as the logic behind your argument. You want your points to seem so straightforward and commanding that your audience can't conceive of an alternative.

Aristotle had a tip here: He found that the most effective use of logos is to encourage your audience to reach the conclusion to your argument on their own, just moments before your big reveal. They will relish in the fact that they were clever enough to figure it out, and the reveal will be that much more satisfying.

Another logos trick used often is the much abused syllogism.

The syllogism is a way of combining two premises and drawing a fresh conclusion that follows logically from them. The classic instance you always hear quoted is the following: All men are mortal. Socrates is a man. Therefore, Socrates is mortal.

While you need to take care with the syllogisms you use — false syllogisms can lead to obvious logical fallacies — they can be a powerful tool for helping your audience draw certain conclusions.

Aristotle also advocated the use 'commonplaces', or accepted premises shared with the audience. The best arguments are soaked in them.

Associated with these general topics are 'commonplaces' (topos is Greek for a 'place'). Any form of reasoning has to start from a set of premises, and in rhetoric those premises are very often commonplaces. A commonplace is a piece of shared wisdom: a tribal assumption. In the use of commonplaces, you can see where logos and ethos intersect.

Commonplaces are culturally specific, but they will tend to be so deep-rooted in their appeal that they pass for universal truths. They are, in digested form, the appeal to 'common sense.' You get nowhere appealing to commonplaces alien to your audience.

The wise persuader starts from one or two commonplaces he knows he has in common with his audience – and, where possible, arrives at one too.

Your use of commonplaces is also a good point to interject pathos, as many of these common beliefs can illicit an emotional response. Let's dig into pathos.

Pathos

Your logical argument will be that much more persuasive if it's wrapped up with a good dose of emotion. Because of the way we use the word pathos in the modern world, you may be thinking of something dramatic and sad. But pathos is more nuanced than that; it can be humor, love, patriotism, or any emotional response.

The key here once again is to know your audience. If you are trying to evoke a sense of anger or sadness regarding mankind's role in the decline of the honeybee, you might not get the response you want from the bee allergy support group.

You can even invoke pathos by admitting a wrong. (We all make mistakes…) This can be a clever way to put your opponent off balance.

This is the figure, called paromologia in the Greek, where you concede, or appear to concede, part of your opponent's point. It turns what is often necessity to advantage, because it makes you look honest and scrupulous, takes the wind out of your opponent's sails, and allows you to shift the

emphasis of the argument in a way finally favorable to you. It's the equivalent of a tactical retreat, or of the judo fighter using an opponent's momentum against him.

Another tool you can use with pathos is something the ancients called aposiopesis.

Aposiopesis – a sudden breaking off as if at a loss for words – can be intended to stir pathos. And even where something appears merely decorative – a run of alliteration or a mellifluously turned sentence – it serves to commend the speech more easily to memory, and to give pleasure to the audience. Delight is an end, as well as a means.

And we can't forget joy and laughter. A well received joke can help you both connect with the audience (ethos) and bring home the pathos appeal.

The joke can do more than just perk up a drowsing audience. It can be a powerful rhetorical tool. It participates in the pathos appeal inasmuch as it stirs an audience's emotions to laughter – but more importantly, it participates in the ethos appeal, inasmuch as laughter is based on a set of common assumptions. As Edwin Rabbie argues in 'Wit and Humour in Roman Rhetoric,' 'Jokes usually presuppose (even rest on) a significant amount of shared knowledge.

Ultimately, the three modes of persuasion are interconnected. It's helpful not to think of them in a linear way but more like three overlapping circles. If you can create something with ethos, logos, and pathos peppered throughout, and tie it all into your audience's belief system, you will have a very strong argument.

While Aristotle's three persuasive appeals make appearances throughout the book, there is so much more to Words Like Loaded Pistols. Leith goes into depth regarding the five parts of rhetoric and the three branches of oratory. He also spend considerable time explaining the different figures, also known as the 'flowers of rhetoric, which can be thought of as the literary weapons you can use in your war of words. If you have an interest in making your own presentations or speeches better, or in understanding the techniques a speaker is using when you are in the audience then this book is definitely worth the read. In the meantime check out our post on Wartime Rhetoric for some inspiration.

।। हरि ॐ तत् सत् ।। विशेष 34 - 36 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.37॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

"hato vā prāpsyasi svargaṁ,
jitvā vā bhokṣyase mahīm..I
tasmād uttiṣṭha kaunteya,
yuddhāya kṛta-niścayaḥ"..II

भावार्थ :

हे कुन्तीपुत्र! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा और यदि तू युद्ध जीत गया तो पृथ्वी का साम्राज्य भोगेगा, अत: तू दृढ-संकल्प करके खड़ा हो जा और युद्ध कर ॥३७॥

Meaning:

If you are killed, you will obtain heaven; and if you win, you will enjoy this earth. Therefore, O Kaunteya, arise and decide to engage in war.

Explanation:

Here Shri Krishna makes yet another plea to Arjuna not to shirk away from duty. This time, however, the message is more specific - Shri Krishna does not want Arjuna to resort to inaction or stasis.

Here Shri Krishna is saying : "Arjuna, regardless of whether you win or lose, the outcome will always be favourable. But the longer you keep pondering over your fight or not-to-fight dilemma, the further you move away from action towards inaction. Under no circumstances is inaction permissible. Therefore, fight!"

Shree Krishna is giving instructions at the level of occupational duties. He explains to Arjun about the two possibilities arising from the performance of his duty. If Arjun becomes victorious, a kingdom on Earth awaits him, and if he is forced to lay down his life in the discharge of his duty, he will go to the celestial abodes.

When faced with tough situations, our natural instinct is to move away from action towards inaction.There is always a hesitation, sometimes procrastination. And usually, this hesitation is caused by a fear of failure, or fear of trying something that we have not done before.

But Shri Krishna advises us that as long as we are performing actions that are aligned to our svadharma, our duty, action is always preferable to inaction or procrastination. The outcome of performing an action in accordance with our duty will always be favourable.

So what are the three levels. adhyatmika dristi; dharmica dristi ; and loukika dristi. philosophically speaking, you have to fight; ethically speaking you have to fight; from worldly angle, to save your honour, you have to fight. And therefore, Arjuna fight this war. And now having given all these arguments, Krishna gives one advice to Arjuna: How to fight this war. Because we have got duties and generally we divide the duties into two types; one is pleasant duty and the other is often unpleasant duty. That is why whenever there is a function, they will say that it is my pleasant duty; to introduce the speaker, etc. or it is my pleasant duty to give the vote of thanks, etc. The words pleasant duty makes it clear that there is another duty called unpleasant duty. How to do the pleasant duty every body knows. One need not talk about it. Because it is pleasant. But the problem is with unpleasant duty. Therefore how one should do the so- called unpleasant duty; how should you do that: that is given in the 38th verse:

Footnotes:

1. In common usage, Dharma means religion, so sva- dharma could mean "one's religion". And so, this verse has the potential to be translated as "everyone should fight a war for one's religion". This

is a misinterpretation. If one really is a warrior (in the army, navy etc.) then they should definitely fight for their country. But if one is not a warrior by profession, there is no need to fight.

।। हिंदी समीक्षा ।।

एक उत्तम प्रवक्ता होने के नाते युद्ध भूमि में आत्मविश्वास खोए अर्जुन को आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से पुनः युद्ध के लिए तैयार करना ही मार्गदर्शक और गुरु का कार्य है।

इस युद्ध में अर्जुन का पक्ष धर्म का होने से युद्ध करना उसके लिये सभी दृष्टियों से उचित था। युद्ध में मृत्यु होने पर उस वीर को स्वर्ग की प्राप्ति होगी और विजयी होने पर वह पृथ्वी का राज्य वैभव भोगेगा। मृत्योपरान्त धर्म के लिये युद्ध करने वाले पराक्रमी शूरवीर की भांति भी स्वर्ग का सुख भोगेगा। इसलिये अब तक जितने भी तर्क दिये गये हैं उन सबका निष्कर्ष इस वाक्य में है युद्ध का निश्चय कर तुम खड़े हो जाओ। हिंदी कहावत है, दोनो हाथो में लड्डू अर्थात जीतो तो राज्य का सुख और हारे तो स्वर्ग का सुख।

जिस परिस्थिति विशेष में गीता का उपदेश दिया गया है उसके सन्दर्भ में युद्ध करने की सलाह न्यायोचित हैं परन्तु सामान्य परिस्थितियों में श्रीकृष्ण के इस दिव्य आह्वान का अर्थ होगा कि सभी प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं को त्याग कर मनुष्य को अपने जीवन संघर्षों में आने वाली चुनौतियों का सामना साहस तथा दृढ़ता के साथ विजय के लिये करना चाहिये। मनुष्य को किसी भी हालत में प्राप्त कर्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिये। प्रत्युत उत्साह और तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। कर्तव्य का पालन करने में ही मनुष्य की मनुष्यता है। इस प्रकार गीता का उपदेश किसी व्यक्ति विशेष के लिये न होकर सम्पूर्ण विश्व की मानव जाति के लिये उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होगा।

श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को बार बार परिवार के लोगो से युद्ध के लिए बोलना जल्दी से गले नही उतरता। अतः महाभारत के युद्ध भूमि के पृष्ठता की ओर देखते है। दुर्योधन एक मोह, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या एवम अहंकारी व्यक्ति था जिस पर प्रभाव उस के मामा शकुनि का था, जो कल Aristotle के सिद्धांत के अनुसार दुर्योधन का प्रभावशाली प्रवक्ता था किंतु संस्कार रहित। इसलिए उस ने यह माहोल तैयार कर लिया था कि ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र को राज्य उन के अंधत्व के कारण नही मिला, किंतु अभी तत्कालीन राज्य उस के पिता के पास है, इसलिए वह ही राज्य का अधिकारी है। क्योंकि पांडव जंगल में पांडू को श्राप के बाद जन्मे थे, इसलिए उन का कुरुवंशी होना भी संदेह युक्त है। छल से राज्य हारने के बाद, जब पांडव 12 वर्ष का वनवास एवम एक वर्ष का अज्ञातवास कर के लौटे तो दुर्योधन को उन का राज्य लौटा देना था। किंतु लोभ, मोह, ईर्ष्या, कपट के कारण उस ने ऐसा नही किया। पांडव युद्ध नही चाहते थे इसलिये समझौता करने को तैयार थे। श्री कृष्ण भी युद्ध नही चाहते थे इसलिए वे उन के मध्यस्थ बन कर भी गए एवम समझौते पर पांच गांव तक भी झुक गए किन्तु दुर्योधन के सुई के बराबर भी जगह नही देने से युद्ध की सुरुवात हुई। कृष्ण ने कभी भी युद्ध के लिए नही कहा और युद्ध दुर्योधन की जिद्द एवम बाकी लोगो के चुप्पी का नतीजा था। दुर्योधन यह भूल गया कि धृतराष्ट्र का राज्याभिषेक नही हुआ था, वे पांडू की जगह एक ट्रस्टी बन कर गद्दी पर बैठे थे। राज्य राजा भरत के नियमानुसार योग्य व्यक्ति को दिया जाता था, उस दृष्टि से युधिष्ठिर ही अधिक योग्य थे। उस ने हमेशा स्वार्थ में पांडव के साथ छल और कपट अपने मामा शकुनि के बहकावे में आ कर किया। अतः यह अन्याय के विरुद्ध न्याय का युद्ध था और इसे धर्म युद्ध कहा गया। हिंसा किसी भी निर्णय का अंतिम है, भगवान राम ने भी रावण को सीता को लौटाने के लिए अंगद को भेज कर एक अंतिम अवसर दिया था, कृष्ण ने भी दुर्योधन को एक अवसर ऐसा ही दिया। अर्जुन कुरुक्षेत्र में युद्ध करने नही आया, अपने अधिकार को नही देने के कारण लाया गया। इस लिए युद्ध उस का चयन नही है, उस का कर्तव्य धर्म है।

भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के कारण कौरव के पक्ष में स्वधर्म निभा रहे थे, द्रोणाचार्य अपने सेवा धर्म और कर्ण अपने मित्र धर्म के स्वधर्म को निभा रहा था। इन तीनो को युद्ध मे जीतने की कोई अभिलाषा नही थी क्योंकि तीनो मानते थे वो अन्याय के पक्ष में केवल अपने अपने स्वधर्म के कर्तव्य का पालन कर रहे है। तीनो की ज्ञानी पुरुष थे किंतु स्वधर्म से बंधे हुए। तीनो जानते थे जो कार्य दुर्योधन कर रहा है वह धर्मोचित नही है। इसलिए तीनो पूरा युद्ध अकेले जीतने का सामर्थ्य रखते हुए भी, युद्ध में अपने अपने तरीके से मृत्यु को ही धर्म के स्वरूप में स्वीकार करते है। अतः अर्जुन को स्वधर्म को जानना जरूरी था।

धर्म न्यायोचित सात्विक वृति से लिए कार्य को कहते है एवम स्वधर्म समय एवम स्थान के अनुसार कर्तव्य पालन को कहते है। जरूरी नही की स्वधर्म के पालन करते वक्त आप अपने धर्म का भी पालन कर रहे हो। प्रत्येक व्यक्ति का समय, स्थान, पद और व्यक्ति विशेष से संबंध के आधार पर (पति, पिता, पुत्र, भाई और संबंधी, स्वामी और नौकर आदि) विभिन्न स्वधर्म हो सकते है किंतु धर्म उस का एक ही होगा।

स्वधर्म के पालन करने वाला हमेशा अपनी हार या जीत के लिए नही कार्य करता, वो सिर्फ अपना कर्म करता है, यदि हार गया तो कीर्ति को भोगेगा और जीत गया तो राज को। कर्मयोग का कर्म करने का प्रथम सिद्धान्त स्वधर्म का पालन करना ही है वो भी बिना किसी फल की आशा से। दुर्योधन मोह, लोभ में ग्रसित हो कर युद्ध कर रहा है वो स्वधर्म का पालन नही कर रहा। कृष्ण एक सारथी एवम सखा के रूप में अर्जुन के साथ उस को मार्ग दर्शन दे कर स्वधर्म का पालन कर रहे है उन्हें कौरव से कोई वैर नही जिस के लिए वो अर्जुन को युद्ध के लिए उसका रहे है। संजय सेवा धर्म का पालन कर के गीता या महाभारत की धृष्ट राष्ट्र को सुना रहे है किंतु वो भी किसी की विजय या पराजय में लिप्त नही।

स्वधर्म आज भी हमारे हर कार्य के लिए महत्वपूर्ण है, एक नागरिक, एक व्यावसायिक, एक व्यापारी, एक पिता या पारिवारिक व्यक्ति के नाते। यह मोह, लोभ, ईर्षा, द्वेष या छल कपट से लिप्त न हो कर समय एवम स्थान के अनुसार किया हुआ कर्तव्य का पालन होता है। संकट में पड़े परिवार के व्यक्ति के साथ खड़े होना चाहे वो गलत भी हो स्वधर्म है किंतु उस के गलत काम ने सहभागी नही होना धर्म है।

स्वधर्म के पालन की सलाह यहाँ पूर्णतयः धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र एवम सामाजिक परिवेश में दी गई है। क्योंकि यह अर्जुन के अंदर के मोह एवम युद्ध न करने के निर्णय के बदलाव के लिये जरूरी है। जबतक श्रोता अपने पूर्व के निश्चय पर अडिग रहेगा तबतक उसे आप कितना भी ज्ञान दे, वह उस से पीछे नही हटेगा। सांसारिक, भावनात्मक या तर्क युक्त निश्चय को पहले समभाव में लाना जरूरी है जिस से श्रोता में अधिक सुनने की जिज्ञासा हो और फिर वह निर्णय ले।

अर्जुन एक क्षत्रिय योद्धा है, युद्ध मे खड़े सैनिक की भांति उस का कर्तव्यधर्म अपने वर्णाश्रम के अनुसार युद्ध ही करना है, चाहे जीत हो या मृत्यु, दोनो स्थिति में उसे धर्मशास्त्र के अनुसार स्वर्ग या धरती का सुख मिलेगा। किन्तु युद्ध न करने से अपकीर्ति, निंदा एवम कायरता का बोझ उसे उठाना पड़ेगा। युद्ध व्यक्तिगत स्वार्थ या आकांक्षाओ के लिये नही किया जाता, यह परिस्थितियों के कारण उत्पन्न स्थिति का सामना करने हेतु किया जाता है।

गीता कभी भी, कही भी अपने बंधु बांधव की हत्या के नही कहती, यह कर्तव्य धर्म के पालन का ग्रंथ है, कर्तव्य पालन के कर्म में कर्ता को अपने कर्तव्य को समझना और उस को किस प्रकार सम्पन्न करना जिस से उस की मानसिक और आत्मिक अवस्था एक स्थितप्रज्ञ की भांति शांत और विचलित रहे, इसी को जानना ही निष्काम कर्म योग है, जिस की भूमिका हम ने अब तक पढ़ी।

धर्म और स्वधर्म के मध्य किस प्रकार निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म करना चाहिए,जिस से शास्त्र और शस्त्र ज्ञान से निपुण अर्जुन जैसी स्थिति हमारी भी कभी न हो, यह श्री कृष्ण से हम सुनेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.37 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.38॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

"sukha-duḥkhe same kṛtvā,
lābhālābhau jayājayau..I
tato yuddhāya yujyasva,

naivaṁ pāpam avāpsyasi"..II

भावार्थ :

सुख या दुख, हानि या लाभ और विजय या पराजय का विचार त्याग कर युद्ध करने के लिये ही युद्ध कर, ऐसा करने से तू पाप को प्राप्त नही होगा॥३८॥

Meaning:

Treat joy or sorrow, gain or loss, victory or defeat with equanimity, and then engage in war. By doing so, you will not incur sin.

Explanation:

This is one of the most important shlokas in the second chapter, and perhaps in the entire Gita. In essence, Shri Krishna instructed Arjuna to maintain equanimity, an "even keel" attitude, not just in war, but in any circumstance in life.

Shree Krishna now moves deeper into the science of work. Arjun had expressed his fear that by killing his enemies he would incur sin. Shree Krishna addresses this apprehension. He advises Arjun to do his duty, without attachment to the fruits of his actions. Such an attitude to work will release him from any sinful reactions.

Let us take stock of where we are. We had seen that Shri Krishna was covering 4 main topics: 1) Informing Arjuna that his logic and reasoning was incorrect 2) Explaining the correct logic and reasoning to Arjuna 3) Providing practical guidance to implement this correct logic and reasoning 4) Describing the attributes of the individual who follows this teaching. We are currently in the set of shlokas covering topic 2 - the correct reasoning and logic.

After the first sub- topic of the eternal essence concluded, we explored the second sub-topic of svadharma. Shri Krishna is now about to conclude this sub-topic by pointing us to the ultimate goal of our spiritual efforts.

As somebody was telling that previously they thought that Intelligence Quotient, called IQ is responsible for the success of a person but later they are finding that more than IQ what a person requires is EQ. You know what EQ. Emotional quotient is. EQ in Gita is called samatvam.Therefore he says: सुखदुखे समे कृत्व sukhaduḥkhē samē kṛtvā prepare yourselves to build your EQ.

The entire Vedah is divided into two portion; religion and philosophy. Religion is a way of life; philosophy is the right view of life. If a person has to efficiently act in the world, most important characteristic is learning to be balanced in mind; therefore, samatvaṃ as karma yoga is being introduced in this sloka which will be elaborated in the later verses;

Having reoriented ourselves with the scheme of the second chapter, lets now examine the current shloka. On first glance, the lesson in this shloka seems unapproachable and impossible to carry out, to some extent.

We encounter joy, sorrow, victory, defeat, gain and loss almost everyday, even several times a day. And each time we encounter any of these situations, we get emotionally and sometimes even physically affected by them. At work, a meeting with your boss does not go well. But on another day, your boss gives you an exemplary speech on a project well executed. How can we possible treat these as equal?

Shri Krishna fully understands this point. Here, he only lays out the ultimate goal for us: the goal of equanimity, or treating each and every life situation equally without getting agitated. Now that we know what the goal is, he will gently guide us through a path of practical advice throughout the rest of the teaching in the Gita.

Anyone who has completely surrendered unto Krishna, Mukunda, giving up all other duties, is no longer a debtor, nor is he obliged to anyone -- not the demigods, nor the sages, nor the people in general, nor kinsmen, nor humanity, nor forefathers." (Bhag. 11.5.41)

if I expected a person to come and help and if he does not help me, I can look at the situation from two angles; I can find fault with that person, who cheated me, or I can find fault with myself, that I expected such a thing to happen. That I was not prepared to face the other thing. In my lack of preparation, is exposed by this bitter experience. That is why somebody nicely said. Adversity introduces a person to himself. Every adversity exposes my limitations.

The samatvaṁ is very important because a person's thinking power will be functional when the mind is samaḥ. When the mind is विषमः viṣamaḥ, disturbed, the first thing what happens is the discriminative power goes, for not only the decisions will go wrong; still worse, the man will lose the capacity to learn from every experience. As they say, the very life is like a university. That every experience can teach us a lesson; especially tragic experiences teach much more than happy experiences. As they say, a knife can be sharpened only when it is rubbed against a rough surface. When the knife is rubbed against a sponge, nothing happens but when it is rough surface; it increases the shine and sharpness. Similarly, we can learn much more from adverse circumstances than happy circumstances and if I have to learn valid lessons from such experiences, I should be able to have a relatively calm mind and therefore, Krishna emphasises the capacity to maintain the emotional balance is the most important virtue that is required.

So as we read the rest of the second chapter, if we think we have lost sight of the goal, let's remember this shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सम्पूर्ण गीता के साररूप इस द्वितीय अध्याय में सांख्ययोग के पश्चात् इस श्लोक में कर्मयोग का दिशा निर्देश है।

यह श्लोक गीता के प्रमुख श्लोकों में एक है जिसे याद रखना चाहिये। इसी अध्याय में आगे भक्तियोग का भी संक्षेप में संकेत किया गया है।

यह प्रथम अवसर है जब श्रीकृष्ण इस श्लोक में आत्मोन्नति की साधना का स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं। इसलिये इस का सावधानीपूर्वक अध्ययन गीता के समस्त साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

अर्जुन को यह आशंका थी कि युद्ध में कुटुम्बियों को मारने से हमारे को पाप लग जायगा, पर भगवान् यहाँ कहते हैं कि पाप का हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत अपनी कामना है। अतः कामना का त्याग कर के तू युद्ध के लिये खड़ा हो जा। कृष्ण अर्जुन को

कर्तव्य पालन के लिये युद्ध करने को कह रहे थे, युद्ध दुर्योधन भी कर रहा है, द्रोण, भीष्म, कर्ण और अनेक महारथी कर रहे है किंतु जिस युद्ध को अर्जुन से कृष्ण करने को कह रहे है, उस को अब स्पष्ट करते है।

शरीर मन और बुद्धि इन तीन उपाधियों के माध्यम से ही हम जीवन में विभिन्न अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। इन तीन स्तरों पर प्राप्त होने वाले सभी अनुभवों का समावेश इस श्लोक में कथित तीन प्रकार के द्वन्द्वों में किया गया है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को सुख और दुख के रूप में अनुभव करना बुद्धि की प्रतिक्रिया है लाभ और हानि ये मन की कल्पनायें हैं जिस कारण वस्तु की प्राप्ति पर हर्ष और वियोग पर शोक होना स्वाभाविक है भौतिक जगत् की उपलब्धियों को यहाँ जयपराजय शब्द से सूचित किया है। श्रीकृष्ण का उपदेश यह है कि मनुष्य को इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में सदैव मन के सन्तुलन को बनाये रखना चाहये। इसके लिये सतत जागरूकता की आवश्यकता है। मनुष्य को पंडित अर्थात विवेकशील और धीर हो कर समभाव होना चाहिये।

बुद्धिमत्ता या ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ अवश्य कहा गया है किंतु मात्र ज्ञान से व्यवहारिक जीवन सफल नहीं होता, सफलता के लिए भावनात्मक नियंत्रण भी आवश्यक है। यही वेदों एवम गीता में समत्व भाव है। जिस ने अपनी भावनाओं को नियंत्रित करना सीख लिया, वही कर्तव्य कर्म भी बिना सुख - दुख, लाभ - हानि, सफलता - असफलता आदि के कुशलता पूर्वक कर सकता है।

समुद्र स्नान के इच्छुक व्यक्ति को समुद्र स्नान करने की कला ज्ञात होनी चाहिये अन्यथा समुद्र की उत्तुंग तरंगे उस व्यक्ति को व्यथित कर देंगी और उसे जल समाधि में खींच ले जायेंगी किन्तु बड़ी लहरों के नीचे झुकने और छोटी लहरों पर सवार होने की कला जो व्यक्ति जानता है वही समुद्र स्नान का आनन्द उठा सकता है। यह आशा करना कि समुद्र की लहरें शान्त हो जायें अथवा स्नान के समय कष्ट न पहुँचाये अपनी सुविधा के लिये समुद्र को उसके स्वरूप का त्याग करने के आदेश देने के समान है किन्तु अज्ञानी पुरुष जीवन में यही चाहता है कि किसी प्रकार की समस्यायें उसके सामने न आयें जो सर्वथा असम्भव है। जीवन के समुद्र में सुख दुख लाभहानि और जय पराजय की लहरें उठना अनिवार्य है अन्यथा पूर्ण गतिहीनता ही मृत्यु है। जीवन में जितना हम विपरीत परिस्थितियों में सीखते है, उतना हम अनुकूल परिस्थितियों में नही सीख पाते।

यदि जीवन का स्वरूप ही एक उफनते तूफानी समुद्र के समान है तो उसमें उठती उत्तुंग तरंगों के आघातों अथवा गहन गह्वरों से विचलित हुये बिना जीवन जीने की कला हमको सीखनी चाहिये। इन उठती हुई तरंगों में किसी एक के साथ भी तादात्म्य स्थापित कर लेना मानो समुद्र की सतह पर उसके साथ इधरउधर बहते जाना है और न कि उस प्रकाश के स्तम्भ के समान स्थिर रहना है जो वहीं विक्षुब्ध लहरों के बीच निश्चल खड़ा रहता है और जिसकी नींव समुद्र तल की चट्टान पर निर्मित होती है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रेरित करते हैं किन्तु साथ में इस समत्व भाव का उपदेश भी देते हैं अन्यथा कर्म में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति अनेक अवसरों पर अपनी ही नकारात्मक प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। मन के इस समभाव के होने पर ही मनुष्य वास्तविक स्फूर्ति और प्रेरणा का जीवन जी सकता है और ऐसे व्यक्ति की उपलब्धियां ही सच्ची सफलता की आभा से युक्त होती हैं।

यह सुविदित तथ्य है कि सभी कार्य क्षेत्रों में जो कर्म स्फूर्ति और प्रेरणा युक्त होते हैं उनकी अपनी ही दैवी चमक होती है जिनकी न प्रतिकृति हो सकती है और न ही उसे बारम्बार दोहराया जा सकता है। किसी भी कार्य क्षेत्र का व्यक्ति चाहे वह कवि हो या कलाकार चिकित्सक हो या वक्ता जब अपनी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि या कृति प्रस्तुत करता है तब वह सर्वसम्मति से प्रेरणा का कार्य ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार हम जब दैवी प्रेरणा के आनन्द से अविभूत कोई कार्य कर रहे होते हैं तब हमारी कल्पनायें विचार और कर्म अपनी एक निराली ही सुन्दरता से ओतप्रोत होते हैं जिन्हें एक यन्त्र के समान पुन दोहराया नहीं जा सकता।

प्रसिद्ध चित्रकार दा विन्सी अपनी श्रेष्ठ कृति मन्द स्मितवदना मोनालिसा का चित्र दोबारा चित्रित नहीं कर सका महाकवि कीट्स की लेखनी उड़ते हुये बुलबुल के गान को दूसरी बार नहीं लिख पायी बीथोवेन पियानों पर फिर एक बार वही मधुर स्वर झंकृत नहीं कर सका भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन के प्रार्थना करने पर युद्ध के पश्चात् दोबारा गीता सुनाने में अपनी असमर्थता स्वीकार की।

पाश्चात्य विचारकों के लिये प्रेरणा संयोग की कोई रहस्यमय घटना है जिस पर मानव का कोई नियन्त्रण नहीं रहता जबकि भारतीय मनीषियों के अनुसार दैवी प्रेरणा का जीवन मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है जिसे वह अपने आत्मस्वरूप के साथ पूर्णतया तादात्म्य स्थापित करके जी सकता है। समत्व भाव का वह जीवन जहाँ हम जीवन में आने वाली परिस्थितियों से

अप्रभावित अपने मन और बुद्धि के साक्षी बनकर रहते हैं अहंकार की विस्मृति के क्षण हैं और तब हमारे कर्म उषकाल की जगमगाती आभा से समृद्ध होते हैं। सामान्य मनुष्य की धारणा होती है कि अहंकार के अभाव में हम कार्य करने में अकुशल या असमर्थ बन जायेंगे परन्तु यह मिथ्या धारणा है। प्रेरणा की आभा ही सामान्य सफलता को भी महान् उपलब्धि की ऊँचाई तक पहुँचाती है।

प्राचीन हिन्दू योगियों ने एक साधना का आविष्कार किया जिसके अभ्यास से मन और बुद्धि की युक्तता एवं समता सम्पादित की जा सकती है। इस साधना को योग कहते हैं। वैदिक काल के लोगों को इसका ज्ञान था तथा इसका अभ्यास करके वे योगी का जीवन जीते थे। उन्होंने असाधारण उपलब्धियों को अर्जित करके राष्ट्र के लिये स्वर्णयुग का निर्माण किया।

भारत जैसे देश में वैदिक काल में निश्चित ही आस्तिक दर्शन प्रचलित होगा परन्तु उसकी उपयोगिता जीवन के सभी क्षेत्रों में समान रूप से है। यदि उसकी सार्वक्षेत्रीय उपयोगिता न हो तो वह वास्तविक अर्थ में दर्शन ही नहीं है। अधिक से अधिक उसे किसी श्रेष्ठ पुरुष का जीवन विषयक मत माना जा सकता है जिसका सीमित उपयोग हो किन्तु तत्त्वज्ञान के रूप में वह कभी स्वीकार नहीं हो सकता।

अब तक के उपदेश में भगवान् ने वे सभी आवश्यक तर्क अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत किये जिनको समझकर प्राप्त परिस्थितियों में स्वबुद्धि से उचित निर्णय लेने में वह समर्थ हो सके। सभी भौतिक परिस्थितियों के मूल्यांकन में केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ही अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति या चुनौती का मूल्यांकन आध्यात्मिक दृष्टि के साथसाथ बुद्धि के स्तर पर तर्क मन के स्तर पर नैतिकता और भौतिक स्तर पर परम्परा और सामाजिक रीति रिवाज की दृष्टि से भी करना आवश्यक है। इन सब के द्वारा बिना किसी विरोधाभास के यदि किसी एक सत्य का संकेत मिलता है तो निश्चय ही वह दिव्य मार्ग है जिस पर मनुष्य को प्रत्येक मूल्य पर चलने का प्रयत्न करना चाहिये।

केवल नैतिकता की भावना से युद्ध की ओर देखने से अर्जुन उस परिस्थिति को उचित रूप में समझ नहीं सका। शत्रुपक्ष में खड़े अपने ही बन्धुबान्धवों को विनष्ट करना नैतिकता के विरुद्ध था। किन्तु भावावेशजनित मन की भ्रमित अवस्था में उसने अन्य दृष्टिकोणों पर विचार नहीं किया जिससे वह पुन संयमित हो सकता था। ऐसे अवसर पर जो करने योग्य है वही करता हुआ अर्जुन भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है। श्रीकृष्ण उसके मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर जीवन के सभी दृष्टिकोणों को उसके सामने प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण मनुष्य को प्राप्त विवेकशील बुद्धि की भूमिका निभाते हैं जो कठोपनिषद् की भाषा में देहरूपी रथ का योग्य सारथि है।

इस प्रकार आध्यात्मिक बौद्धिक नैतिक और पारम्परिक दृष्टियों से विचार करने के पश्चात् पूर्व के श्लोक में भगवान अर्जुन को युद्ध करने की सम्मति देते हैं। जिस भावना से कर्म करना चाहिये उसका विवेचन इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने किया है। शरीरादि अनात्म उपाधियों के साथ तादात्म्य करने से जो चिन्तायें विक्षेप व्याकुलतायें होती हैं उनसे ऊपर उठकर सभी विषम परिस्थितियों में समभाव में स्थित होकर कर्म करना चाहिये।

मन के समत्व भाव में रहने से जीवन की वास्तविक सफलता निश्चित होती है। इसके पूर्व हम देख चुके हैं कि जीवन में किस प्रकार पूर्व संचित वासनायें क्षीण हो सकती हैं। जगत् में सभी जीव अपनीअपनी वासनाओं का क्षय करने के लिये ही विभिन्न शरीर धारण किये हुये हैं। इस प्रकार वृक्ष पशु अथवा मनुष्य सभी वासनाओं के भण्डार हैं।

सब परिस्थितियों में समभाव में स्थित हुआ मन वासनाओं के निस्सारण का मार्ग बनता है। यह द्वार जब अहंकार और स्वार्थ से अवरुद्ध होता है तब वासनाक्षय के स्थान पर असंख्य नयी वासनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं। द्वन्द्वों के कारण हुआ विक्षेप अहंकार के जन्म और वृद्धि के कारण है। कर्मयोग की भावना से कर्म करते हुये जीवन जीने पर अन्तकरण की शुद्धि प्राप्त होती है। इस कर्मयोग का विस्तृत विवेचन गीता के तृतीय अध्याय में है।

तत्त्वज्ञान और सामान्यजन की दृष्टि से विचार करने के पश्चात् भगवान् अर्जुन को कर्मयोग की भावना से युद्ध करने का उपदेश देते हैं। तत्त्वज्ञान को समझ कर उसे जीवन में जीना ही व्यावहारिक धर्म है।

अनित्य का पुनः जन्म कार्य कारण के सिंद्धांत के अनुसार उन अतृप्त वासनाओ के कारण होता है जिन्हें मृत्यु के पूर्व नित्य या शरीर नही कर पाता। यह श्लोक में सम भाव रखने का उपदेश अतृप्त भावनाओ को नियंत्रित करने की ओर एक कदम आगे बढ़ाता है जिस से हम मुक्त हो कर कर्म कर सके।

इसके पश्चात् इस अध्याय में वेदान्त ज्ञान का व्यवहार में उपयोग करने के उपायों एवं साधनों का निरूपण किया है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.38 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.39॥

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

"eṣā te 'bhihitā sāṅkhye,
buddhir yoge tv imāṁ śṛṇu..I
buddhyā yukto yayā pārtha,
karma-bandhaṁ prahāsyasi"..II

भावार्थ :

हे पृथापुत्र! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञान-योग (सांख्य-योग) के विषय में कही गई और अब तू इसको निष्काम कर्म-योग के विषय में सुन, जिससे तू इस बुद्धि से कर्म करेगा तो तू कर्मों के बंधन से अपने को मुक्त कर सकेगा॥३९॥

Meaning:

This discipline of knowledge has been stated to you. Now, listen to the discipline of action. Having equipped yourself with this understanding, O Paartha, you will cast of your bonds-of-action.

Explanation:

Shri Krishna uses this shloka to conclude the theoretical topic of correct logic and reasoning, and transition on to the means of attaining that knowledge. The remaining shlokas in the second chapter are extremely practical and can be immediately used in our daily lives. They will enable us to conduct our svadharma while always keeping the attitude specified in the prior shloka : treat any situation, joyful or sorrowful, with equanimity.

The word Sankhya comes from the roots Saṅ, meaning “complete,” and khya, meaning “to know.” So Sankhya means the “complete analytical knowledge of something.” The Sankhya Darshan, which is one of the six philosophical treatises in Indian philosophy, makes an analytical enumeration of the entities in cosmos. Apart from these is puruṣh or the soul, which tries to enjoy prakṛiti, and gets bound in it.

He now says that he is going to reveal the science of working without desire for rewards. This requires detachment from the fruits of actions. Such detachment comes by practicing discrimination with the intellect. Hence, Shree Krishna has interestingly called it buddhi yog, or “Yog of the

Intellect.” In subsequent verses (2.41 and 2.44), he goes on to explain how the intellect plays an important role in bringing the mind to a state of detachment.

The word yoga comes twice in this shloka, so let's examine it more closely. Usually, we think of yoga as an ancient art of physical exercise.

However, the word yoga in the Bhagavad Gita has a different meaning. Translated into English, the meaning is a mix between the words technique and discipline. In fact, as we saw earlier, each chapter of the Gita is a yoga, or a technique and discipline, unto itself.

According to the Nirukti, or the Vedic dictionary, sankhya means that which describes things in detail, and sankhya refers to that philosophy which describes the real nature of the soul. And yoga involves controlling the senses. Arjuna's proposal not to fight was based on sense gratification. The description in the Vedas indicates that the Lord glanced over the prakriti, or nature, and impregnated it with atomic individual souls. All these individuals are working in the material world for sense gratification, and under the spell of material energy they are thinking of being enjoyers. One should therefore understand that buddhi-yoga means to work in Krishna consciousness, in the full bliss and knowledge of devotional service.

So this śloka is a transit verse. Krishna is changing from one topic to another; and Krishna points out that here, until now hey Arjuna, I talked about jnana yogaḥ. Jnana yogaḥ, atma anatma viveka, which is the main topic that has gone by from verse No.12 to 25, which is the central theme of the previous portion, viz., self-knowledge. That is discovery of the fact that I am an independent one. Discovery of self-dependence or freedom from external dependence to be happy; that self- discovery is called atma jnanam or sāṅkhyam.

There is an interesting word in the last part of this shloka - "bonds of action". It almost seems like a thick rope exists, one end tied to our leg and the other end tied to the action. What does is bondage?

An action that increases extreme attachment or hatred towards anything - an object, person or situation - "binds" us to that thing. It is similar to addiction. We may smoke a cigarette once, but unless we have high self control, we want to experience it again. This desire to repeat the experience eventually results in an addiction and we cannot live without it.

The important point here is that no action or object can bind us; it is the thought behind it that binds. For a non-smoker, a pack of cigarettes does not cause bondage. Conversely, for a smoker, just the mere sight of the pack of cigarettes prompts him to smoke. For things subtler than addiction, we can tell whether or not an action will cause bondage by checking whether it is for the service of one's selfish ego or not.

Consider an executive making a presentation to her management team. One scenario could be that she makes the presentation with the motive of getting a promotion. Another scenario could be that she makes the presentation with the motive of increasing the sales of the corporation so that it benefits all the stakeholders. In the first case, the action binds her. In the second case, it doesn't.

Alternatively, consider a musician performing on stage. If he performs with the sole motive to get applause and get nominated for an award, the action will bind him. But if he performs with the sole motive of entertaining the audience and honouring his craft, the action will not bind him.

Shri Krishna gently reveals the technique of cutting off these bindings in the rest of the chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिस प्रामाणिक विचार एवं युक्ति के द्वारा पारमार्थिक सत्य अर्थात आत्मा का ज्ञान होता है उसे सांख्य कहते हैं। सांख्य का अर्थ के आत्मा की मूल प्रकृति का सविस्तार वर्णन, जिसका उपदेश भगवान् प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करने से शोकमोह रूप संसार की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। अब श्रीकृष्ण कर्मयोग अथवा बुद्धियोग के विवेचन का आश्वासन अर्जुन को देते हैं। अर्जुन का मोह सांसारिक अर्थात कर्म से आसक्ति का था।अतः उस को भी स्पष्ट करना आवश्यक था।

ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्मविद होने तक के अनेक मार्ग हो सकते है, मुख्यतय: इसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति योग में विभाजित किया है। सांख्य में बुद्धियोग और पतंजलि योग शास्त्र को सम्मलित कर सकते है। अर्जुन एक क्षत्रीय और ज्ञानी पुरुष है और उस में सात्विक और राजसी गुणों का समावेश है। अतः ज्ञान योग तो कर्म त्याग का ही योग है तो युद्ध के कर्म को किस प्रकार किया जाए, इस की युक्ति को अध्यात्म और सांसारिक स्वरूप में बैठाना ही योग है। आत्मा के नित्य, अकर्ता और साक्षी होने से यह ज्ञान लाखो में एक दो ही समझ पाते है। इसलिए सामाजिक और सांसारिक पुरुष के सरल ज्ञान जिस से सांसारिक कार्य भी निष्काम हो कर सन्यासी भाव से कैसे किए जाए, भगवान श्री कृष्ण कर्मयोग के माध्यम से अर्जुन को समझाने की चेष्टा करते है।

अनेक लोग कर्म के नियम को भूलवश भाग्यवाद समझ लेते हैं किन्तु कर्म का नियम हिन्दू धर्म का एक आधारभूत सिद्धान्त है और इसलिये हिन्दू जीवन पद्धति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिये इस नियम का यथार्थ ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। यदि एक वर्ष पूर्व मद्रास में श्री रमण राव के किये अपराध के लिये यदि आज मुझे दिल्ली में न्यायिक दण्ड मिलता है तो इस का अर्थ यह हुआ कि उस अपराधी रमण राव और आज के सन्त चिन्मय में कुछ समानता होनी चाहिये कानून के लम्बे हाथ यह पहचान कर कि अपराधी रमण राव ही चिन्मय है दिल्ली पहुँचकर मुझे दण्ड देते हैं।

इसी प्रकार प्रकृति का न्याय अकाट्य है पूर्ण है। इसलिये हिन्दू मनीषियों ने यह स्वीकार किया कि वर्तमान में हम जो कष्ट भोगते हैं उनका कारण भूतकाल में किसी देश विशेष और देहविशेष में किये हुए अपराध ही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्वकाल का पापी और वर्तमान का कष्ट भोगने वाला कोई एक ही होना चाहिये। इसी को शास्त्र में जीव (मन और बुद्धि) कहा है और दंड कर्म फल है, जिसे भोगना प्रत्येक जीव के अनिवार्य है।

इच्छापूर्वक किया गया प्रत्येक कर्म कर्त्ता के मन पर अपना संस्कार छोड़ता जाता है जो कर्त्ता के उद्देश्य के अनुरूप ही होता है। इन संस्कारों को ही वासना कहते हैं जिनकी निवृत्ति के लिये प्रत्येक जीव विशिष्ट देश काल और परिस्थिति में जन्म लेता है। पूर्व संचित कर्मों के अनुसार सभी जीवों को दुख कष्ट आदि भोगने पड़ते हैं। मन पर पापों के चिहनांकन पश्चात्ताप पूरित क्षणों में अश्रुजल से ही प्रच्छालित किये जा सकते हैं। परिस्थितियाँ मनुष्य को रुलाती नहीं वरन् उसकी स्वयं की पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ ही शोक का कारण होती हैं। शुद्धांन्तकरण वाले व्यक्ति के लिये फिर दुख का कोई निमित्त नहीं रह जाता।

यदि हम श्लोक 11 से 30 तक पुनः ध्यान दे जिस में अनित्य एवम नित्य को परिभाषित किया गया था एवम यह बताया गया था कि देह का ही नाश होता है आत्मा का नही, और यह आत्मा पुराने वस्त्र त्याग कर नए वस्त्र धारण कर लेती है, यह ही सांख्य योग है। इस के बाद सम बुद्धि से कर्म करना कर्मयोग हमे मुक्ति की ओर ले जाने का मार्ग है। सम बुद्धि योग का अर्थ सुख दूख में समान रहना एवम कर्ता भाव से दूर रहना। हम अपनी भावनाओं, अपेक्षाओं, आशाओं और सांसारिक उद्देश्य से जकड़े रहते है। हमारा हर कार्य कारण बन कर हमारे सामने आता है और पुनः नए कार्य मे बदल जाता है। यदि यह जकड़ हटा दे तो यह कार्य कारण का चक्कर समाप्त हो जाएगा, इसे बुद्धि योग से कर्म योग कहा है जो भक्ति से सम्पन्न होता है।

हमारे पास किसी संगीत का ध्वनिमुद्रित रेकार्ड होने मात्र से हम संगीत नहीं सुन सकते। जब रेकार्ड प्लेयर पर उसे रखकर सुई का स्पर्श होता है तभी संगीत सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार मन में केवल वासनायें होने से ही दुख या सुख का अनुभव नहीं होता किन्तु अहंकार की सूई का स्पर्श पाकर बाह्य जगत् में जब वे कर्म के रूप में व्यक्त होती हैं तभी विविध प्रकार के फलों की प्राप्ति का अनुभव होता है।

पूर्व श्लोक में वर्णित समभाव में स्थित हुआ पुरुष सुखदुख लाभहानि और जयपराजय रूपी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर निजानन्द में रहता है। जिस मात्रा में शरीर मन और बुद्धि के साथ हमारा तादात्म्य निवृत्त होता जायेगा उसी मात्रा में यह कर्त्तृत्व का अहंकार भी नष्ट होता जायेगा और अन्त में अहंकार के अभाव में किसके लिये कर्मफल बाकी रहेंगे अर्थात् कर्म और कर्मफल सभी समाप्त हो जाते हैं।

जीव एवम आत्मा का ज्ञान जिसे बुद्धि योग या सांख्य योग भी कहा गया है, सुनने या पढ़ने में सरल है किंतु आत्मसात करना कठिन। जीव अपने संचित, प्रारब्ध एवम क्रियाशील कर्मो के फल से जुड़ा है। उस की आसक्ति देह के साथ होने से उस को पहले अपनी आसक्ति से मुक्त होना है। कर्म जीवन की अनिवार्यता है, इसलिये कर्मयोग को समझना जरूरी है। योग का अर्थ होता है जुड़ना और इसप्रकार युक्ति से जुड़ना की कर्म भी हो किन्तु उस के फल के प्रति कोई बंधन या आसक्ति भी न हो। गीता निष्काम कर्मयोग के मार्ग पर चलने को कहती है। आसक्ति जिसे हम आगे भी पढ़ेंगे, वह कर्म में, इस उस के फल पर, या कर्ता भाव पर या अकर्ता भाव किसी भी प्रकार से नकारात्मक या सकारत्मक दोनो प्रकार से हो सकती है। यह कुछ ऐसे ही जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म से अहम हो कर द्वेत भाव से जुड़ा है, जो ब्रह्मसंध हो ब्रह्ममय हो गया वो ही बुद्धियोगी या ज्ञानी है क्योंकि वहां जाननेवाला है ही नही, जो है ब्रह्म ही है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कोई नया और मौलिक नहीं था। उन्होंने ईसा के जन्म के पाँच हजार वर्ष पूर्व प्राचीन सिद्धांत का केवल नवीनीकरण करके मृतप्राय धर्म को पुनर्जीवित किया जो सहस्रों वर्षों पूर्व आज भी हमारे लिये आनन्द का संदेश लिये खड़ा है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.39।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.40॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवातो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

"nehābhikrama-nāśo 'sti,
pratyavāyo na vidyate..I
sv-alpam apy asya dharmasya,
trāyate mahato bhayāt"..II

भावार्थ :

इस प्रकार कर्म करने से न तो कोई हानि होती है और न ही फल-रूप दोष लगता है, अपितु इस निष्काम कर्म-योग की थोड़ी-सी भी प्रगति जन्म-मृत्यु के महान भय से रक्षा करती है॥४०॥

Meaning:

Here, there is no loss of effort, nor is there any negative result. Even a little of this knowledge protects one from the most massive fear.

Explanation:

As mentioned before, we are all set to embark upon the practical aspects of the Gita teaching.

Now, whenever we are about to begin a project, a few doubts or fears may arise in our minds. Two of the most common fears are (a) what will happen if I don't follow the steps exactly? and (b) what will happen if I make a minor mistake and the whole thing backfires?

Consider a student who has left the comfort of his home to pursue higher studies abroad. Now, he usually has to learn how to cook since his mom is not around to cook anymore. If he tries to prepare a meal, it will usually come out wrong because the steps were not followed correctly. Or worse still, it may totally backfire and yield a negative result - he may burn the food which will set off a fire alarm.

Moreover, for most Indians who hold the Gita in high reverence, we may harbour a notion that any teaching of the Gita needs to be followed to the letter, like a priest who recited mantras at a puja. And if we don't do this, we will incur sin.

Shri Krishna reassures Arjuna that the teaching of buddhi yoga is absolutely risk free. It will not result in "abhikrama-naasha" or error caused by not following the steps correctly. It will also not create "pratyavaha dosha", i.e. yielding a negative result.

Therefore, Shri Krishna informs us that there is absolutely no excuse for holding back in implementing these teachings due to fear of any sort. Even if we practice a little bit of this teaching, it protects us from the most massive fear - the fear of death.

Also, Shree Krishna says that no loss ever comes from endeavor made on this path. This is because whatever material assets we accumulate in the present life have to be left behind at the time of death. But if we make any spiritual advancement on the path of Yog, God preserves it, and gives us the fruits in the next life, enabling us to start off from where we had left. Thus, having informed Arjun about its benefits, Shree Krishna now begins instructing him about the science of working without attachment.

So in these verses, Krishna is glorifying Karma Yoga. Even though he has not clearly defined Karma Yōga, he is glorifying it. What exactly is Karma Yoga, we will be seeing later; but to put it in a nutshell, Karma Yōga is that way of life, in which we grow internally more and we give importance to inner growth more than external accomplishment. Because the basic philosophy of Gita is this: the peace of mind does not depend upon what you have; on the other hand, peace of mind depends upon what you are: This is the basic philosophy of Gita; our general misconception is that our happiness, our security, etc. depend upon what we have; and we think that the more we have the more secure we are; but Bhagavat Gita says: it is the biggest misconception. In fact, those people who have more, they alone require maximum security, greater the person, the more number of black cats So the President; he has got lot of money, position, possession; everything is there. Therefore we think that peace and security is directly proportional to what we have; Krishna says that is the biggest myth. Peace and security depends upon what type of personality you enjoy; what type of inner growth you enjoy. And in our culture, you find that some of the greatest people enjoyed greatest happiness.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सांख्य योग के बाद कर्मयोग को विस्तार से बताने से पूर्व कर्मयोग के गुण बताने का उद्देश्य निराश अर्जुन को कर्मयोग सुनने और समझने के लिए आकर्षित करने का था।

इसलिए समबुद्धि की महिमा भगवान् ने पूर्वश्लोक के उत्तरार्ध में और इस (चालीसवें) श्लोक में चार प्रकार से बतायी है (1) इस के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है (2) इस के उपक्रम का नाश नहीं होता (3) इस का उलटा फल नहीं होता और (4) इस का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महान् भय से रक्षा करनेवाला होता है। इस समबुद्धि (समता) का केवल आरम्भ ही हो जाय तो उस आरम्भ का भी नाश नहीं होता। मन में समता प्राप्त करने की जो लालसा उत्कण्ठा लगी है यही इस समता का आरम्भ होना है। इस आरम्भ का कभी अभाव नहीं होता क्योंकि सत्य वस्तु की लालसा भी सत्य ही होती है।

मनुष्य का एक भय पुनर्जन्म में किसी अन्य योनि में भी लेने का रहता है किंतु समबुद्धि से कर्मयोग से रहने वाला व्यक्ति को पुनर्जन्म मानव का ही मिलना, यह भी आश्वासन है। जिस से प्राणी अपनी मोक्ष की यात्रा जहां पूर्व जन्म में समाप्त हुई थी, वही से शुरू कर सके।

समता दो तरह की होती है अन्तःकरण की समता और स्वरूप की समता। समरूप परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। उस समरूप परमात्मा में जो स्थित हो गया उस ने संसार मात्र पर विजय प्राप्त कर ली वह जीवन्मुक्त हो गया। परन्तु इस की पहचान अन्तःकरण की समता से होती है । अन्तःकरण की समता है सिद्धिअसिद्धि में सम रहना। प्रशंसा हो जाय या निन्दा हो जाय कार्य सफल हो जाय या असफल हो जाय लाखों रूपये आ जायँ या लाखों रूपये चले जायँ पर उस से अन्तःकरण में कोई हलचल न हो सुखदुःख हर्षशोक आदि न हो। इस समता का कभी नाश नहीं होता। कल्याण के सिवाय इस समता का दूसरा कोई फल होता ही नहीं। सांसारिक वस्तु कितनी भी प्राप्त हो, समता नही प्रदान कर सकती।

किसी भी वस्तु के लगाव या आसक्ति से मन उस वस्तु, कार्य या फल के लिये लालायित रहता है। यही मन के अनुसार हो गया तो क्षणिक सुख और विपरीत हो गया तो क्षणिक दुख होता है। बन्धन लगाव का है, न कि उस कार्य, फल या वस्तु का। भगवान कर्म को कर्तव्य समझ कर करने को कहते है, जिस में लगाव नही, फिर जो भी हो उस से न दुख होगा न ही सुख। हम अपना काम बिना विचलित हुए समभाव से कर सकते है और इस प्रयास में कभी भी कोई भी विकार नही है। निष्काम होना उदासीन होना नही है। बिना फल की आशा के कर्म करना कुछ लोगो को असंभव लगता है।

उदाहरण के तौर पर वाद विवाद में कोई भाषण देने का उद्देश्य जीतना रहता है, किन्तु बिना जीतने की कामना के प्रतियोगिता में भाग लेना गलत लगता है। भगवान कहते है अपने को सामर्थ्यवान कर के पूर्ण तैयारी के साथ वाद विवाद में भाग लो, वह भी जीतने के लिये, किन्तु जीतना लक्ष्य होना चाहिये, आसक्ति नही। हारने पर दुख नही और जीतने पर खुशी नही। यही समभाव बुद्धि है।

चेतन के बंधन अहंकार, कामना एवम आसक्ति है। कामना अहंकार एवम आसक्ति की प्रथम सीढ़ी है। अतः निष्काम अर्थात कामना रहित होना आवश्यक है।

व्यवहारिक जीवन मे समबुद्धि होना कभी कभी असंभव लगता है क्योंकि सुख, दुख, मोह, माया एवम हानि लाभ विचलित करते रहते है अतः इस को समझने के लिये पूर्व के श्लोक की समझना चाहिए कि कार्य समय एवम स्थान के अनुसार अपने कर्तव्य के अनुसार करना चाहिए और समबुद्धि के लिये अपनी हार व जीत दोनों के लिये तैयार रहना चाहिए। समबुद्धि का अर्थ उदासीन होना भी नही है। गीता का यह उपदेश किसी भी कर्म काण्ड के ऊपर है जो यह दावे के साथ कहता है कि इस से हानि बिल्कुल नही, वरन हमारे व्यक्त्वि का विकास ही होगा, जितना किया उतना ही।

उन्तालीसवें श्लोक में भगवान् ने जिस समबुद्धि को योग में सुनने के लिये कहा था उसी समबुद्धि को प्राप्त करने का साधन आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.40 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.41॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाका ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

"vyavasāyātmikā buddhir,
ekeha kuru-nandana..i
bahu-śākhā hy anantāś ca,
buddhayo 'vyavasāyinām"..ii

भावार्थ :

हे कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्म-योग में दृड़-प्रतिज्ञ बुद्धि एक ही होती है, किन्तु जो दृड़-प्रतिज्ञ नही है उनकी बुद्धि अनन्त शाखाओं में विभक्त रहती हैं॥४१॥

Meaning:

Here, the thoughts of the determined are focused, O Kurunandana. The thoughts of the irresolute are many-branched and infinite.

Explanation:

One of the problems that we face while we read our scriptures is that there are countless number of spiritual sadhanas prescribed. Unlike the other religions, which appears to be very simple or simplistic; they just give you certain dos and do nots~10 commandments or something ~ therefore, it appears to be less complicated, whereas when you want to read our scriptures it seems to be very very complex. The scriptures themselves are so voluminous; the vedas, upnishadas, the ithihasas, the puraṇas, their commentaries, sub-commentaries and in all of them, varieties of sadhanas are prescribed. So in some place, they talk about puja; some place you talk about japa; some place they talk about meditation; some place they talk about bhajans; some place they talk about pilgrimage. Thus there are so many sadanas mentioned; we do not know, what are we supposed to do.

Here Krishna says, karma yogi is one who has got a clear understanding about the sadhanas that he has to practice. And that clarity regarding the means and the ends; sadhya, sadhana viṣaya niścaya jnanam. The clarity regarding the means and the ends. This is nishchyatmak Budhi.

If the ultimate destination is Delhi; but for the time being the destination is airport or railway or roadways station; that is intermediary end. And to go to the railway station, he might have to go to the auto stand or the taxi stand; and then the taxi stand becomes what? Another intermediary end. Next end is the railway station. Ultimate end is New Delhi. So he should know what is the immediate end and what is the ultimate end and that is called vyavsayatmika buddhi. It means we have sevearal immediate sadhana or ways to reach our ultimate goal. Clarity regarding what I want in life. Many people you ask, what you want, they will scratch their head; I do not know what I want; first I thought I want this and I am not very sure, this or that;

From this shloka onwards, Shri Krishna began to provide Arjuna with a practical "toolkit" of techniques that would enable him to conduct his svadharma with equanimity of mind. This shloka explains the first technique in this toolkit: maintaining constant focus on the goal prescribed in the Gita teaching.

The goal mentioned in a prior shloka is clear to all of us : equanimity of mind in any situation. So the very first thing that Shri Krishna instructs us to make a promise to ourselves that "I will only focus on one desire - that of maintaining equanimity. If it has nothing to do with my svadharma, I will not entertain that desire."

Consider an example. When Mr X visits the grocery store with a shopping list, he quickly and efficiently gets the items on the list and leaves the store. He is focused on acquiring the objects in his shopping list. But when he visits the mall or an electronics store, his mind starts entertaining "many-branched and infinite thoughts" e.g : "Oh look at this new IPod", "Can I get it cheaper here?", "When's the new HDTV coming out" etc. and eventually ends up spending over 3 hours in the mall. Therefore, focus is extremely important in any endeavour.

Attachment is a function of the mind. Its manifestation is that the mind repeatedly runs toward the object of its attachment, which could be persons, sensual objects, prestige, bodily comfort, situations, and so on. So if thoughts of some person or object repeatedly come to the mind, it is a possible indication of the mind being attached to it. However, if it is the mind that gets attached, then why is Shree Krishna bringing the intellect into the topic of attachment? Is there any role of the intellect in eliminating attachment?

These confused, confounded people have got so many ideas regarding religion and spirituality, many of them wrong ideas, many of them are incomplete ideas, and therefore bahuśakhas, multi branched. And anantasca; and infinite, because even though the fact is one, confusions are many. Errors can be many. 2+2, the right answer is only one; but how many wrong answers are there? Infinite wrong answers are there; and therefore anantasca. Up to this we saw.

Now, let's assume we focus on the one desire to maintain equanimity. How do we know whether we are on the right track? To that end, this shloka very beautifully gives us a "checklist" so that we can keep tabs on our focus. At some point every day, preferably at the end of the day, we should ask ourselves two questions and write down the answers in a journal:

1. What objects/people/situations did I keep obsessing about today?

2. How many of these obsessive thoughts did I have?

If we notice over time that the quantity of our obsessive thinking has begun to diminish, it means that our intellect is beginning to focus on the ultimate goal of the Gita teaching.

।। हिंदी समीक्षा ।।

बुद्धि शब्द के अनेक अर्थ है, जिसे हम ज्ञान, समझ, इच्छा या वासना एवम हेतु के लिये प्रयोग करते है। यहाँ बुद्धि का विशिष्ट अर्थ कार्य-अकार्य को निश्चत करने वाली प्रक्रिया को बुद्धि कहा गया है। व्यावसायिक बुद्धि वह होती है जो विभिन्न साधनों के कार्य - अकार्य के लाभ-हानि, उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि में उलझी रहती है क्योंकि यह अनेक विकल्प को सामने रख कर चलती है और प्रत्येक विकल्प में भी अनेक मार्ग खोजती रहती है। दूसरा शब्द निश्चयात्मक बुद्धि का है, जो एक उत्तम निर्णय कर के उस पर कार्यरत रहती है।

कर्मयोगी साधक का ध्येय (लक्ष्य) जिस समता को प्राप्त करना रहता है वह समता परमात्मा का स्वरूप है। उस परमात्मस्वरूप समता की प्राप्ति के लिये अन्तःकरण की समता साधन है अन्तःकरण की समता में संसार का राग बाधक है। उस राग को हटाने का अथवा परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का जो एक निश्चय है उसका नाम है निश्चयात्मक बुद्धि।

निश्चयात्मक बुद्धि एक क्यों होती है कारण कि इस में सांसारिक वस्तु पदार्थ आदि की कामना का त्याग होता है। यह त्याग एक ही होता है ।

गीता में कर्मयोग (प्रस्तुत श्लोक) और भक्तियोग के प्रकरण में तो व्यवसायात्मिका बुद्धि का वर्णन आया है पर ज्ञानयोग के प्रकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि का वर्णन नहीं आता है। इस का कारण यह है कि ज्ञानयोग में पहले स्वरूप का बोध होता है फिर उस के परिणामस्वरूप बुद्धि स्वतः एक निश्चयवाली हो जाती है और कर्मयोग तथा भक्तियोग में पहले बुद्धि का एक निश्चय होता है फिर स्वरूप का बोध होता है। अतः ज्ञानयोगमें ज्ञान की मुख्यता है और कर्मयोग तथा भक्तियोग में एक निश्चय की मुख्यता है। अर्थात ज्ञान योग में कर्ता भाव के त्याग से योग किया जाता है और कर्म एवम भक्ति योग में भोक्तभाव का त्याग कर के योग किया जाता है।

व्यवसायिक बुद्धि में निश्चय की दृढ़ता न होने से वासना, इच्छा एवम कामनाओ की तरंगें मन को टकराती रहती है और मनुष्य को विचलित करती रहती है, जिस से वह एकाग्रचित हो कर किसी कार्य को नही कर पाता।

गीता में अपने कर्तव्य के पालन करते वक्त हम यदि एक चित नही है तो हम कार्य नही कर सकते। बिना लक्ष्य के आप तीर नही साध सकते। जैसे यदि बाजार से सामान खरीदने जाते वक्त यदि हमारे पास क्या खरीदना है हमे नही मालूम तो हम भटक कर वापस आ जायेंगे। इस लिए भक्ति या कर्मयोगी को एकाग्रचित होना आवश्यक है। विवेकानंद जी के कर्मयोग के अनुसार नित्य अभ्यास से यह संभव है। क्योंकि यदि हम एक स्थान पर नित्य बैठ कर यदि हम रोज अपने आने वाले विचारों को दोहराए एवम यह निश्चित करे तो शनेः शनैः अनावश्यक विचार आने कम हो जायेगे।

अक्सर जब हम किसी कार्य को शुरू करते है तो जब तक निश्चयात्मक बुद्धि नही है तब तक हम जब भी कार्य मे कोई बाधा या अवरोध, उपलब्धि होगी हम उस पर पुनः विचार करने लगते है, जिस से उस कार्य को पूर्ण करने में बाधा उत्पन्न होने लगती है। यदि पूर्ण विचार करने के बाद पूर्ण निश्चिय के साथ लक्ष्य की ओर बढ़ा जाए तो रास्ते की उपलब्धियां या बाधाये या विभिन्न विकल्प हमे हमारे लक्ष्य से हटा नही सकते।

निष्काम कर्मयोग की साधना करने वाले योगी को भगवान श्री कृष्ण ने सांकेतिक भाषा मे योग प्रक्रिया में शुरूवात करने पूर्ण निश्चयात्मक बुद्धि को धारण करना चाहिए, कहा है।

जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग है, जिन्हे वेदों, उपनिषदों, पुराण, शास्त्रों में वर्णित किया गया है। इस के अतिरिक्त भजन, कीर्तन, जप, यज्ञ, दान, तीर्थ यात्रा आदि अनेक उपाय और पूजा पाठ, मंत्र, तंत्र भी बताए गए है। यदि एकाग्रचित्त हो कर कोई एक मार्ग पकड़ कर नही चलता तो वह जीवन भर जरा सी कठनाई में मार्ग बदल बदल कर भटकता रहता है। इसलिए कर्मयोगी को एकाग्रचित होना चाहिए। अर्जुन का चित्त युद्ध से पूर्व सेना का निरीक्षण कर के युद्ध का था किंतु जैसे ही स्वजनों को देखा, इस का चित्त युद्ध करने से भटक कर युद्ध नही करने का हो गया। गीता में युद्ध के समय युद्ध को छोड़ कर अर्जुन के मन मे विभिन्न विचारों का जन्म उस की कार्य के प्रति एकाग्रता न होना है किंतु इस का यह अर्थ नही किसी भी लक्ष्य के लिए उस के हर पहलू पर विचार न किया जाए। युद्ध नही करने का निर्णय यदि लेना है तो पहले होना था। यह किसी भी कार्य के मध्य में नही तय होना चाहिए।

इसी प्रकार लक्ष्य को तय करते वक्त उस के अतिरिक्त विचारों को यदि साथ रखेगे तो लक्ष्य नही तय कर सकते। कर्मयोगी के प्रथम मंत्र के साथ अव्यवसायी मनुष्यों की बुद्धियाँ अनन्त क्यों होती है इस का हेतु आगे के तीन श्लोकों में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.41 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.42-44॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविश्लेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥43।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥44।।

"yām imāṁ puṣpitāṁ vācaṁ,
pravadanty avipaścitaḥ..I
veda-vāda-ratāḥ pārtha,
nānyad astīti vādinaḥ"..II42II

"kāmātmānaḥ svarga-parā,
janma-karma-phala-pradām..I
kriyā-viśeṣa-bahulāṁ,
bhogaiśvarya-gatiṁ prati"..II43II

"bhogaiśvarya-prasaktānāṁ,
tayāpahṛta-cetasām ..I
vyavasāyātmikā buddhiḥ,
samādhau na vidhīyate"..II44II

भावार्थ :

हे पृथापुत्र! अल्प-ज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारिक शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते है, जो स्वर्ग की प्राप्ति, उत्तम जन्म तथा ऎश्वर्य आदि की प्राप्ति के लिये अनेक सकाम कर्म-फ़ल की विविध क्रियाओं का वर्णन करते है, इन्द्रिय-तृप्ति और ऎश्वर्यमय जीवन की कामना के कारण वे कहते है कि इससे वढ़कर और कुछ नही है। जो मनुष्य इन्द्रियों के भोग तथा भौतिक ऎश्वर्य के प्रति आसक्त होने से ऎसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हो जाते है, उन मनुष्यों में भगवान के प्रति दृड़-संकल्पित बुद्धि नहीं होती है॥४२-४४॥

Meaning:

The unwise utter flowery statements. They are only interested in the Veda-related topics, O Paartha, saying that "there is nothing else".

Those who harbour material desires, and hold heaven as the ultimate goal, perform actions that result in rebirth. They describe various actions for obtaining pleasure and power.

But, those who are extremely attached to pleasure and power, who are attracted to these (flowery words), do not possess a determined intellect, and will never achieve samaadhi.

Explanation:

The Vedas are divided into three sections. These are: Karm-kāṇḍ (ritualistic ceremonies), Jnana - kaṇḍa (knowledge section), and Upasana - kaṇḍ (devotional section). Shree krishana explained karm-kand with desire to get material comforts. To understand these three verses, Lord Krishna is going to divide all the human activities into three types as known as प्रकृति or Nature; satvika, rajasa and tamasa.

According to Krishna satvika karmas are those which will benefit the maximum number of people, which can be termed as selfless actions, which takes into account, the welfare and wellbeing of

other people; non-self- centred action. Self - less actions.Then the second type of action, Krishna mentioned is rajasa, which actions are purely individual oriented, purely self - centred action; the person is not bothered about anybody else; whether they are harmed or benefited, he does not bother, I should get the benefit. These are called selfish action; in Sanskrit, rajasa karmāṇi. And third type of actions, Krishna mentions is tamasa, in which a person is not only selfish but for the sake of fulfilling the selfish ends, he does not mind harming other people also and therefore they are krura (Cruel),which involve hurting other people. Thus harmful actions are called tamasa. Thus we can divide all the actions into three, selfless actions, selfish actions and harmful actions. It is also known as nature and we learn the same in later chapters.

People in general are not very intelligent, and due to their ignorance they are most attached to the fruitive activities recommended in the karma-kanda portions of the Vedas. The Karm-kaṇḍ section advocates the performance of ritualistic ceremonies for material rewards and promotion to the celestial abodes. Those who seek sensual pleasures glorify this section of the Vedas. They do not want anything more than sense gratificatory proposals for enjoying life in heaven, where wine and women (सुरा और सुंदरी) are available and material opulence is very common. In the Vedas many sacrifices are recommended for elevation to the heavenly planets, especially the jyotishtoma sacrifices. In fact, it is stated that anyone desiring elevation to heavenly planets must perform these sacrifices, and men with a poor fund of knowledge think that this is the whole purpose of Vedic wisdom. It is very difficult for such inexperienced persons to be situated in the determined action of Krishna consciousness. As fools are attached to the flowers of poisonous trees without knowing the results of such attractions, unenlightened men are similarly attracted by such heavenly opulence and the sense enjoyment thereof.

Shri Krishna explained the importance of focus in the prior shloka. Here, he describes the tendencies that will prevent someone from having that focus. In essence, what he is saying here is that any individual who only thinks about one material desire after another, will never reach the state of absolute equanimity. The word used in this shloka to describe that state is "samaadhi".

Most of our youth is spent in gaining worldly knowledge. In the Gita,"Vedas" can be interpreted as "all worldly knowledge" from our standpoint. This knowledge is useful for performing our svadharma through our chosen profession. But most of us end up using this knowledge as a means to fulfill a never - ending stream of material desires, that will give us more and more pleasure and power. Our goal is never svadharma itself, it is material desires. And with each material desire, the shloka says that we are reborn.

The word rebirth here has a specific meaning. Each time you harbour a new material desire, you are "reborn". This is because each new material desire prompts you towards a whole new set of selfishly motivated actions, taking the focus away from your svadharma, and in doing so, moving you away from the ultimate goal of maintaining equanimity. For example, if you want a new car, you are reborn as a "car desiring individual" who will put in extra effort to earn money for a new car. But by the time the new car arrives, several new desires have sprung up, resulting in new "rebirths".

People whose minds are attached to sensual enjoyment concern themselves with bhog (gratification), and aiśhwarya (luxury). They engage their intellects in enhancing their income and contemplating how to increase their material possessions and maximize their enjoyment.

Bewildered in this manner, they are unable to develop the firm resolve required for traversing the path to God-realization.

The Muṇḍakopaniṣhad states:

“Those, who practice the ostentatious rituals prescribed in the Vedas for enjoying the celestial pleasures of the higher abodes, think themselves to be scholars of the scriptures, but in reality they are foolish. They are like the blind leading the blind.”

Now, the shloka also mentions that such individuals hold heaven as the ultimate goal. The word "heaven" also has a specific meaning here. It does not refer to some place up in the sky. It refers to a future state where you will be happy after you fulfill your desire. But by shifting your focus towards heaven i.e. the future, you make your present moment unhappy. This kind of thinking also prompts you towards selfishly motivated action.

Therefore, these shlokas reiterate the importance of keeping a focused attitude towards maintaining equanimity, and one does that by not harbouring endless material desires.

These shlokas are the seed of the second portion of chapter sixteen of the Gita called "aasuree sampat" or the qualities of the demons.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत श्लोको में एक क्रांतिकारी कदम लिया गया है, जिस में धार्मिक रीति रिवाजों, कर्मकांडो एवम आध्यात्मिक ग्रंथो को जो लोग ईश्वरीय वाणी बता कर, पूजा-पाठ एवम कर्म कांड में लगे रहते है। उन्हें सावधान करते हुए बताया गया है कि जिस कर्मकांडो एवम आध्यात्मिक ग्रंथो को ईश्वरीय वाणी बता कर जो लोग सांसारिक सुखों या जन्नत, अप्सराओं या हूरों की प्राप्ति का नशा करते है, वह सब पाखंड है। जीवन मोक्ष के लिये है, सांसारिक क्षणिक सुखों के लिये नही।

वेदों की रचना में कर्म काण्ड, ज्ञान कांड और उपासना कांड की विधियां एवम उस से उपलब्ध फलों का वर्णन है। किंतु अज्ञानी मनुष्य का ध्यान मृत्यु से पूर्व और बाद में भी ध्यान, आकांक्षा, वासना और कामना सांसारिक सुखों तक ही सीमित है इसलिए जो सुख वह धरती में प्राप्त नहीं कर सकता, उस की कामना मृत्यु उपरांत स्वर्ग में प्राप्त कर भोगने की करता है और इस हेतु धरती में धार्मिक कर्म काण्ड करता रहता है।

वे कामनाओं में इतने रचे पचे रहते हैं कि वे कामना रूप ही बन जाते हैं। उन को अपने में और कामना में भिन्नता ही नहीं दीखती। उन का तो यही भाव होता है कि कामना के बिना आदमी जी नहीं सकता कामना के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता कामना के बिना आदमी पत्थर की जड हो जाता है उस को चेतना भी नहीं रहती। **ऐसे भाववाले पुरुष कामात्मानः हैं।**

प्रकृति के तीन गुण सात्विक, राजसी और तामसी होते है। भोग और कामना इन तीनों गुणों से ओत प्रोत होती है। सात्विक गुण सादगी और अच्छे विचार और सभी का भला सोचने वाले गुणों का प्रतीक है, जिस में सम्मान और नाम की प्रतिष्ठा की कामना रहती है, राजसी निजी सुख सुविधा को बटोरने और भोगने का गुण है जिस में किसी को नुकसान पहुंचे, यह कामना तो नही रहती किंतु अपने सुख से कोई वंचित रहे या न रहे, यह भी विचार नहीं होता। तामसी व्यक्ति सांसारिक सुख के निचले स्तर तक किसी भी हद तक जा सकता है, जिस में धोखा, चोरी, हत्या, झूठ आदि कुछ भी हो सकता है।

प्रकृति के गुणों में समबुद्धि को प्राप्त होने से पूर्व वेदों और अध्यात्म में सात्विक भौतिक सुखों की कामना से किए कर्म की भर्त्सना करना, गीता जैसे महान ग्रंथ में भगवान कृष्ण द्वारा ही संभव है जिन्होंने ने ज्ञान योग को कर्म योग से समकक्ष सिद्ध किया है।

जिन में सत्–असत् नित्य – अनित्य अविनाशी – विनाशी का विवेक नहीं है ऐसे अविवेकी मनुष्य के अनुसार वेदों की जिस वाणी में संसार और भोगों का वर्णन है, वह (वेद पुष्पित वाणी को कहा करते हैं। यहाँ पुष्पिताम् कहने का तात्पर्य है कि भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति का वर्णन करनेवाली वाणी) केवल फूल पत्ती ही है फल नहीं है।

तृप्ति फल से ही होती है फूलपत्ती की शोभा से नहीं। वह वाणी स्थायी फल देनेवाली नहीं है। उस वाणी का जो फल जन्नत या स्वर्गादि का भोग है वह केवल देखने में ही सुन्दर दीखता है उस में स्थायीपना नहीं है।

वास्तव में सांसारिक पदार्थ परमात्मा की तरफ चलने में बाधा नहीं देते प्रत्युत वर्तमान में जो भोगोंका महत्व अन्तःकरण में बैठा हुआ है वही बाधा देता है। भोग उतना नहीं अटकाते जितना भोगों का महत्व अटकाता है।

महर्षि व्यास ऐसे पहले साहसी क्रान्तिकारी थे जिन्होंने अपने काल में अत्यन्त शोचनीय पतन की स्थिति से हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान किया। क्रान्ति का वह ग्रन्थ गीता है जिस की रचना उन्होंने की। अपने काल की स्थितियों की उन के द्वारा की गयी तीव्र आलोचना भगवान् के इन शब्दों से स्पष्ट होती है जहां श्रीकृष्ण वेदों के कर्मकाण्ड को पुष्पिता वाणी कहते हैं।

यह उन लोगो पर एक व्यंग भी है जो इन धार्मिक ग्रंथों के मंत्रों का उच्चारण अर्थ सहित करते है, आश्रम चलाते है, प्रवचन करते है, अनुष्ठान, यज्ञ करते है, मंदिर आदि भी बनवाते है, किन्तु उद्देश्य अधिक से अधिक सांसारिक सुखों की या स्वर्ग की अभिलाषा रखते है। उन्हें कामनाओ की पूर्ति चाहिये, मोक्ष नही। इस प्रकार के लोग वेदों एवम ग्रंथो के मंत्रों को विभिन्न गोष्ठियों में उध्दरण की तरह सजा कर प्रस्तुत करते है, किन्तु उन का उद्देश्य सांसारिक सुखों में ही ज्यादा रहता है।

वेदों का कर्मकाण्ड उन लोगों के लिए है जो विषयोपभोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं कर्मफल पाने की इच्छा और चिन्ता के कारण जिनकी सदसद् विवेक की क्षमता खो गयी है। सर्वोच्च साध्य को भूलकर साधनभूत कर्मों में ही वे लिप्त रहते हैं।

श्री कृष्ण द्वारा जितना स्पष्ट एवम बेवाक जीवन के लक्ष्य के लिए गीता में लिखा है शायद ही कही और पढ़ने को मिले। यदि आप सांसारिक लक्ष्य बनाते है जैसे अच्छी नौकरी, पत्नी/पति, घर परिवार तो जैसे ही इस लक्ष्य की पूर्ति होगी, तुरंत ही नई इच्छाओं को जन्म होगा क्योंकि इच्छाएं कभी नही मरती एवम नए नए रूप में जन्म लेगी।

यदि आप स्वर्ग की कामना करते है जिस का वर्णन अप्सराओं, सूरा एवम ऐश्वर्य से किया है तो भी आप मुक्त नही होंगे एवम पुनः जन्म ले कर अपनी इन अपूर्ण वासनाओ को भोगेंगे।

एकाग्रता एवम सही लक्ष्य यदि प्रकृति के साथ जुड़ा है और आप स्वयं को इस संसार अनित्य के साथ जुड़ा मानते हो तो आप सुख की तलाश के लिये प्रकृति से लिप्त ही लक्ष्य को निर्धारित करेगे। किसी भी कामना से निर्धारित लक्ष्य कामना की पूर्ति के बाद दूसरी कामना में परिवर्तित होगा यह बार बार जन्म लेने के समान ही है।

अतः आप अपने नित्य को स्वीकार करते है और निष्काम भाव से लक्ष्य को तय करते है जैसे ज्ञान की प्राप्ति लोक कल्याण के लिए जिस में आप को कोई जाने यह आवश्यक नही तो ही सही लक्ष्य को प्राप्त कर के मुक्त हो सकते है। याद रखे नित्य अजन्मा, निरंतर एवम अकर्ता है और अनित्य मन, बुद्धि, शरीर एवम इन्द्रियों बना प्रकृति का एक हिस्सा है। प्रकृति के किसी भी सुख की कामना आप को प्रकृति से मुक्त नही कर सकती चाहे वो इस संसार की हो या धार्मिक ग्रंथों में रची स्वर्ग की हो।

कोई भी समाधि, ध्यान, यज्ञ, पूजा-पाठ, कर्म कांड या दैविक आराधना आप को मुक्ति नही दिला सकती, जब तक आप आसक्ति, कामना और अहम के साथ योग करते है।

पूर्व श्लोक में दृढ़ संकल्प द्वारा निश्चयात्मक बुद्धि से कार्य करने की बात की गई है, अब लक्ष्य कैसा हो यह स्पष्ट किया है कि निष्काम कर्मयोग का लक्ष्य भी सांसारिक सुखों की प्राप्ति का नही होना चाहिए। हम कृष्ण की आराधना या यज्ञ किसी भी सुख की प्राप्ति के लिये करते है जो हमे ऐशवर्य, स्वर्ग, मान-सम्मान, पद या दुखो से मुक्ति दिलाए, तो वह हमारी कर्मयोग की साधना नही होगी। कर्मयोगी अनासक्त भाव से कामना रहित होना चाहिए।

किसी बातको पुष्ट करना हो तो पहले उसके दोनों पक्ष सामने रखकर फिर उसको पुष्ट किया जाता है। यहाँ भगवान् निष्काम भाव को पुष्ट करना चाहते हैं अतः पीछे के तीन श्लोकों में सकामभाववालों का वर्णन कर के अब आगे के श्लोक में निष्काम होने की प्रेरणा करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 42-44 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.45॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

"trai-guṇya-viṣayā vedā,
nistrai-guṇyo bhavārjuna..I
nirdvandvo nitya-sattva-stho,
niryoga-kṣema ātmavān"..II

भावार्थ :

हे अर्जुन! वेदों में मुख्य रुप से प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है इसलिए तू इन तीनों गुणों से ऊपर उठ, हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से रहित तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त आत्म-परायण बन॥४५॥

Meaning:

The Vedas describe the three gunas. Transcend those gunas, O Arjuna. Free yourself from dualities, remain always in sattva, give up thinking about acquisition and preservation, and be established in the eternal essence.

Explanation:

The material energy binds the divine soul to the bodily conception of life, by its three constituent modes. These modes of material nature are sattva (mode of goodness), rajas (mode of passion), and tamas (mode of ignorance). The Vedas contain both kinds of knowledge—ritualistic ceremonies for the materially attached and divine knowledge for spiritual aspirants. When Shree Krishna tells Arjun to reject the Vedas, the statement needs to be understood in the context of the preceding and following verses. He is implying that Arjun should not be attracted by the section of the Vedas that propounds rules, regulations, and ceremonies for material rewards. Instead, he should use the divine section of the Vedic knowledge to elevate himself to the level of Absolute Truth. He suggests toolkit for the same.

The first technique in our toolkit was the art of maintaining focus to reduce the quantity of unnecessary thoughts.

Shri Krishna now provides us with the second technique in our toolkit: slowly improving the quality of our thoughts. This shloka is jam-packed with practical tips to improve our thought quality, so let's tackle this shloka part by part.

Firstly, an absolute prerequisite to improving thought quality is to be mindful of what we are thinking. Most of us tend to perform actions daily almost on autopilot. If we are not aware of what we are thinking while performing an action, we will not be able to improve the quality of our thoughts.

Therefore, the shloka advises us to think deeply about whether any action we perform is selfish, or is in service of our svadharma. Doing so repeatedly will reveal the true nature of our thoughts.

Secondly, the shloka advises us to go beyond obsessive thinking about the interplay of the 3 gunas. In a nutshell, there are 3 types of gunas or tendencies that are responsible for creating everything in this material world. Therefore, the shloka advises us to start contemplating spiritual knowledge daily, which will automatically reduce material thoughts.

Thirdly, the shloka speaks about dualities. Dualities are the positive and negative mental labels associated with thoughts - love/hate, joyful/sorrowful, pleasurable/painful etc. So practically speaking, any thought that demonstrates extreme attachment or hatred towards an object, person or situation is a poor quality thought because it strengthens the ego. Whenever we catch ourselves saying something like "I cannot live without watching TV everyday", we should be on guard. It is better to substitute that thought with something like "I enjoy watching TV, but I can live without it if I want to". Similarly, if we have a thought like "I want to kill my boss" we can start to think "My boss is difficult to work with sometimes, but he is a human being just like anyone else".

Finally, the shloka advises us to stop worrying about acquisition and preservation. Most of us are worried about two things - acquiring something, and preserving something once it is acquired. A corporate executive will keep thinking about the promotion. And once he has it, he will do all he can to make sure he holds on to his new post. But the shloka informs us that as long as we are diligently performing our svadharma, we will automatically get what we need to live a good life. Therefore,we should stop obsessing over acquisition and preservation, which is an impediment to maintaining equanimity.

Let's summarize the techniques learned so far as follows. The first technique helped us reduce the quantity of unnecessary thoughts. The second technique helps us improve the quality of our thoughts by substituting poor quality thoughts with good quality thoughts. It is helpful to maintain a diary to track the quantity and quality of our thoughts, so that we can gauge our progress. It is no different than following a disciplined approach to losing weight or quitting smoking.

This shloka is the seed of two forthcoming shlokas of the Gita - chapter fourteen, covering the topic of the three gunaas, and chapter seventeen, covering the topic of faith born of sattva, which becomes the cause for qualities conducive to dispassion.

All material activities involve actions and reactions in the three modes of material nature. They are meant for fruitive results, which cause bondage in the material world. The Vedas deal mostly with fruitive activities to gradually elevate the general public from the field of sense gratification to a position on the transcendental plane. Arjuna, as a student and friend of Lord Krishna, is advised to raise himself to the transcendental position of Vedanta philosophy where, in the beginning, there is brahma-jijnasa, or questions on the supreme transcendence. All the living entities who are in the material world are struggling very hard for existence. For them the Lord, after creation of the

material world, gave the Vedic wisdom advising how to live and get rid of the material entanglement. When the activities for sense gratification, namely the karma-kanda chapter, are finished, then the chance for spiritual realization is offered in the form of the Upanishads, which are part of different Vedas, as the Bhagavad-gita is a part of the fifth Veda, namely the Mahabharata. The Upanishads mark the beginning of transcendental life.

A question may arise here : "How can I stop thinking about the material world after I perform my svadharma? After I come home from work I need to watch TV, surf the web, watch movies, sports etc. in order to be entertained. Won't life become boring?" The answer is provided in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता का प्रारम्भ निश्चयात्मक बुद्धि रखने के साथ किया गया, फिर किसी की विषय को गहनता के साथ समझने को कहा, जिस से हम उस विषय के अलंकृत शब्दो, व्याकरण या गहन अर्थ की सिर्फ व्याख्या में ही उलझे रहे एवम उस विषय की प्रामाणिकता पर ही बहस करते रहे। अन्यथा हमारा सारा ध्यान कर्मकांड या पूजा की विशिष्ट विधि से पूर्ण करने में ही लगा रहता है।

अक्सर किसी भी पुस्तक या ज्ञान को समझने की बजाय हम उस ज्ञान को कंठस्थ कर के ही अपने अपने आप को आनंदित करते हुए पंडित मान लेते है। यह क्यों होता है, तो इस का कारण है प्रकृति के तीन गुण, जिसे वेद शास्त्रो में सत-रज-तम के नाम से जाना जाता है। परब्रह्म प्रकृति के इन तीनो गुणों से बाहर है, इसलिये इन तीनो गुणों में उलझा व्यक्ति हमेशा आन्तरिक द्वंद में रहता है। इसलिये भगवान श्री कृष्ण अगला कदम इन तीनो गुणों से ऊपर उठने का बताते है।

यहाँ वेदों से तात्पर्य वेदों के उस अंश से है जिस में तीनों गुणों का और तीनों गुणोँ के कार्य स्वर्गादि भोगभूमियों का वर्णन है। हे अर्जुन तू तीनों गुणों के कार्यरूप संसार की इच्छा का त्याग कर के असंसारी बन जा अर्थात् संसार से ऊँचा उठ जा। अर्थात हे अर्जुन, प्रथम तुम राग - द्वेष, मोह - ममता और लोभ - क्रोध आदि प्रकृति के गुणों से ऊपर उठ।

सामान्य मनुष्य मंत्र जाप, योग, यज्ञ, पूजा - पाठ और वेश भूषा से सात्विकता लाने की चेष्टा करता है किंतु उस में प्रकृति का कर्ता भाव और भोक्ता भाव बना रहता है। इस असंसारी होने का अर्थ निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेम होना है।

निर्द्वन्द्व संसार से ऊँचा उठने के लिये रागद्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित होने एवम समभाव की बड़ी भारी आवश्यकता है क्योंकि ये ही वास्तव में मनुष्य के शत्रु हैं अर्थात् उस को संसार में फँसानेवाले हैं । इसलिये तू सम्पूर्ण द्वन्द्वों से रहित हो जा।

यहाँ भगवान् अर्जुन को निर्द्वन्द्व होने की आज्ञा क्यों दे रहे हैं कारण कि द्वन्द्वों से सम्मोह होता है संसार में फँसावट होती है । जब साधक निर्द्वन्द्व होता है तभी वह दृढ़ होकर भजन कर सकता है। निर्द्वन्द्व होने से साधक सुखपूर्वक संसारबंधन से मुक्त हो जाता है। निर्द्वन्द्व होने से मूढ़ता चली जाती है । निर्द्वन्द्व होने से साधक कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं । तात्पर्य है कि साधक की साधना निर्द्वन्द्व होने से ही दृढ़ होती है। निद्वन्द व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान को समझ सकता है अन्यथा उस के लिये ज्ञान या पूजा का अर्थ स्वर्ग या सुखों की प्राप्ति ही होता है। इसलिये भगवान् अर्जुन को निर्द्वन्द्व होने की आज्ञा देते हैं।

विभिन्न अनुपातों में सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों के संयोग से प्राणियों का निर्माण हुआ है। अन्तकरण (मन और बुद्धि) इन तीन गुणों का ही कार्य है। तीन गुणों के परे जाने का अर्थ है मन के परे जाना। तांबा जस्ता और टिन से निर्मित किसी मिश्र धातु का पात्र बना हो और यदि उसमें से इन तीनों धातुओं को विलग करने के लिये कहा जाय तो उसका अर्थ उस पात्र को ही नष्ट करना होगा। उपनिषद् साधक को मन के परे जाने का उपदेश देते हैं जिससे साधक को आत्मस्वरूप से ईश्वर का परिचय होगा।

उपनिषदों के इस स्पष्ट उपदेश को यथार्थ में नहीं समझने के कारण अनेक हिन्दू लोग अपने धर्म से अलग हो गये और इसलिये गीता में पुनर्जागरण का आवाहन किया गया। औपनिषदिक अर्थ को ही यहां दूसरे शब्दों में कहा अर्जुन तुम त्रिगुणातीत बनो।

यदि कोई चिकित्सक किसी रोगी के लिये ऐसी औषधि लिख देता है जो विश्व में कहीं भी उपलब्ध न हो तो उस चिकित्सक का लिखा हुआ उपचार व्यर्थ है। इसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार के लिये त्रिगुणों के परे जाने का उपदेश भले ही श्रेष्ठ हो परन्तु कौन सी साधना के अभ्यास से उसे सम्पादित किया जाय इसका स्पष्टीकरण यदि नहीं किया गया है तो वह उपदेश निरर्थक है। ज्ञान क्रिया और निष्क्रियता ये क्रमश सत्त्व रज और तमोगुण के लक्षण हैं।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में त्रिगुणों के ऊपर उठकर असीम आनन्द में स्थित होने की साधना बतायी गयी है। पूर्व उपदिष्ट समत्व भाव का ही उपदेश यहाँ दूसरे शब्दों में किया गया है। परस्पर भिन्न एवं विपरीत लक्षणों वाले सुखदुख शीतउष्ण लाभहानि इत्यादि जीवन के द्वन्द्वात्मक अनुभव हैं। इन सब में समभाव में रहने का अर्थ ही निर्द्वन्द्व होना है इनसे मुक्त होना है। यही उपदेश श्रीकृष्ण अर्जुन को दे रहे हैं। नित्य सत्त्वस्थ तीनों गुणों में सत्व गुण सूक्ष्मतम एवं स्वभाव से शुद्ध है तथापि शोकात्मक रजोगुण और मोहात्मक तमोगुण के सम्बन्ध से उसमें अशुद्धि भी आ जाती है। मोह का अर्थ है वस्तु को यथार्थ रूप में न पहचानना (आवरण)। जिस के कारण वस्तु का अनुभव किसी अन्य रूप मे ही होता है जिसे विक्षेप कहते हैं और जिस का परिणाम है शोक। अत: सत्वगुण में स्थित होने का अर्थ विवेकजनित शान्ति में स्थित होना है। सत्त्वस्थ बनने के लिए सतत् सजग प्रयत्न की अपेक्षा है। निर्योगक्षेम यहाँ योग का अर्थ है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना और प्राप्त वस्तु के रक्षण का नाम है क्षेम। मनुष्य के सभी प्रयत्न योग और क्षेम के लिये होते हैं। अत इन दो शब्दों में विश्व के सभी प्राणियों के कर्म समाविष्ट हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित कर्मों का निर्देश योग और क्षेम के द्वारा किया गया है। मनुष्य की चिन्ताओं और विक्षेपों का कारण भी ये दो ही हैं।

निर्योगक्षेम बनने का अर्थ है इन दोनों को त्याग देना जिससे चिन्ताओं से मुक्ति तत्काल ही मिलती हैं।

निर्द्वन्द और निर्योगक्षेम बनने का उपदेश देना सरल है किन्तु साधक के लिये तत्त्वज्ञान का उपयोग तभी है जब इस ज्ञान को जीवन में उतारने की व्यावहारिक विधि का भी उपदेश दिया गया हो। इस श्लोक में ऐसी विधि का निर्देश आत्मवान भव इन शब्दों में किया गया है। द्वन्द्वों तथा योगक्षेम के कारण उत्पन्न दुख और पीड़ा केवल तभी सताते हैं जब हमारा तादात्म्य शरीर मन और बुद्धि के साथ होकर अहंकार और स्वार्थ की अधिकता होती है।

ज्ञान के इन समस्त उपदेशों को आगे हम और भी विस्तृत रूप से समझेंगे, किन्तु जब तक श्रोता की मानसिक रूप से तैयारी न हो तो ज्ञान भी देना व्यर्थ है। इसलिये अर्जुन जैसा शिष्य होना चाहिए तो अपनी शंका या संदेह का निवारण निसंकोच करे।

इन अनात्म उपाधियों के साथ विद्यमान तादात्म्य को छोड़कर इनसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप के प्रति सतत जागरूक रहने का अभ्यास ही आत्मवान अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होने का उपाय है। इस की सिद्धि होने पर अहंकार नष्ट हो जाता है और वह साधक त्रिगुणों के परे आत्मा में स्थित हो जाता है। ऐसे सिद्ध पुरुष को वेदों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वास्तव में ज्ञानी पुरुष के होने के कारण वेदवाक्यों का प्रमाणय सिद्ध होता है। समय एवम स्थान के अनुसार स्वधर्म का पालन करने के प्रथम ज्ञान के बाद दूसरा ज्ञान निःद्वन्द होना है। वेद में प्रथम चरण में प्रकृति की पूजा या वंदना है एवम प्रकृति त्रिगुणायामी यानी सत, रज एवम तम है अतः यह मन मे कुछ करके प्राप्त करने की इच्छा अवश्य रखती है। यदि यह अहम यहाँ से नही खत्म होगा तो नित्य नही प्राप्त होगा इसलिए निःद्वन्द होने को कहा है।

शब्दो को गौर कीजिये कि मुझे राजनीति से घृणा है बोलने की अपेक्षा यदि हम बोले कि मुझे राजनीति में रुचि नही है तो हम द्वेष भाव से दूर होते है।

यदि हम रामु को चोर कहे या यह कहे कि रामु के साथ हमे ज्यादा सावधान रहना चाहिये तो हम अपने चरित्र की ज्यादा निर्माण कर रहे है।

किसी विषय मे फैल होने पर रोने की बजाय अपने प्रयास को पुनः देखते हुए अधिक प्रयास करना सकारात्मक कदम है। यह सब हमे निःद्वन्द की ओर ले कर जाता है जहां हम हर परिस्थिति की स्वीकार करते हुए कोई अपेक्षा नही रखते।

अर्जुन युद्ध त्याग कर सन्यास की अपेक्षा रखता है, जब की भगवान उसे समबुद्धि से युद्ध करते हुए भी, सन्यासी की भांति कर्मयोगी की बात कह रहे है। यहां से कर्म योग के ज्ञान का प्रतिपादन भी किया जा रहा है। कर्म को त्याग कर निर्द्वंद और निर्योगक्षेम होना या कर्म करते हुए उस के आसक्ति और कामना को त्याग कर निर्द्वंद और निर्योगक्षेम होना समबुद्धि मनुष्य

के लिए एक समान है। दोनो स्थिति में त्रिगुणातित स्थिति को प्राप्त करना ही है तो कर्म त्यागना या कर्म करना दोनो में क्या उचित है यह हम आगे पढ़ेंगे।

गीता में यह शब्द छोटा किन्तु व्यवहार में सब से कठिन है जिस को आगे के अध्याय में हम विस्तार से जानेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.45 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.46॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

"yāvān artha udapāne,
sarvataḥ samplutodake..I
tāvān sarveṣu vedeṣu,
brāhmaṇasya vijānataḥ"..II

भावार्थ :

सभी तरफ़ से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय के प्रति मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है॥४६॥

Meaning:

Just like there is no use for a well when water is flooding everywhere, so does a brahmana know all the contents of the Vedas.

Explanation:

The Vedas contain 100,000 mantras, describing varieties of rituals, practices, prayers, ceremonies, and gems of knowledge. All these are given with only one aim—to help unite the soul with God.

“The goal of all the Vedic mantras, the ritualistic activities, spiritual practices, sacrifices, cultivation of knowledge, and performance of duties, is to help the soul reach the divine feet of God.”

However, just as a medicine pill is often sugar-coated to make it more palatable, similarly to attract materially-minded people, the Vedas also give material allurements. The underlying motive is to help the soul gradually get detached from the world and attached to God. Thus, one who is attaching the mind to God is automatically fulfilling the purpose of all the Vedic mantras. Shree Krishna advises Uddhav:

“The Vedas prescribe varieties of social and ritualistic duties for individuals. But those in who grasp their underlying motive, and rejecting all intermediate instructions, whole heartedly fulfill their duty toward me, I consider them to be the highest devotees.”

So one must be intelligent enough to understand the purpose of the Vedas, without being attached to the rituals only, and must not desire to be elevated to the heavenly kingdoms for a better quality of sense gratification. It is not possible for the common man in this age to follow all the rules and

regulations of the Vedic rituals, nor is it possible to study all of the Vedanta and the Upanishads thoroughly. It requires much time, energy, knowledge and resources to execute the purposes of the Vedas. The rituals and sacrifices mentioned in the karma-kanda division of the Vedic literature are meant to encourage gradual development of self-realization.

Think about your childhood. All of had a craving for toys when we were kids. But there came a stage when most of us outgrew toys because we began to think about higher things like career aspirations etc. So all toys began to look the same to us, regardless of the price, shape, size, colour, brand etc. , from a simple spinning top to an expensive model airplane.

Similarly, Shri Krishna says that once our thoughts become high quality, i.e. they pertain to our svadharma and to spiritual contemplation, then automatically we will begin to feel less need for any external entertainment and enjoyment.

Therefore, this shloka says that one who always maintains equanimity will have known all there is to know about the material world, and will begin to transcend worldly matters and knowledge.

In this shloka we notice that the word "braahmana" appears. Braahmana here does not refer to the caste system meaning. It refers to an individual who is always contemplating about brahman, which is nothing but the eternal essence that we learned about in the early part of this chapter. Also the word Veda, like in previous verses, refers to worldly knowledge.

karma yoga is an alert life, certainly energy is involved in life and therefore something must be there to tempt and therefore Krishna shows the reward and he says the reward is mōkṣa;infinite ānanda. It is worth the effort.

So through worldly achievements, money, status, position, children, wife, all these things are going to give certain ananda, certain fulfilment. Krishna does not deny that fulfilment. But what Krishna says is when you seek mōkṣa, you are not losing worldly pleasures because, all the worldly pleasures are included in mōkṣa.

Now, the two techniques prescribed so far, reducing unnecessary thoughts and improving quality of thought, were preparatory techniques. They are meant to prepare us for learning the main technique of the teaching, which is covered in the next shloka. It is probably the most famous and oft-quoted shloka in the Gita. We shall cover it in great detail.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीव का संबंध प्रकृति से कर्ता भाव और भोक्ताभाव का होता है। इसे अज्ञान कहते है। जीव का वास्तविक संबंध ब्रह्म से है, अज्ञान मिटने से ज्ञान का प्रकाश होता है और जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। प्रकृति के तीन गुण है। जिन्हे सत, रज और तम कहा जाता है। जैसे ही जीव प्रकृति के संयोग में आता है तो प्रकृति अपनी क्रियाएं शुरू कर देती है और जीव प्रकृति की क्रियाओं को कर्ता और भोक्ता भाव से ग्रहण कर के उस के फलों के बंधन में फस जाता है। वेदों में अनेक कर्म और नियम जीव को सत गुण की ओर ले जाने के लिए बने है। जिस ने योग के अभ्यास से अपने अज्ञान को मिटा दिया, उस के लिए वेदों के यह कर्मकांड कोई महत्व नहीं रखते जैसे समुंद्र के समक्ष छोटे तालाब का कोई प्रयोजन नही है।

जो महापुरुष परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो गये हैं उन के लिये वेदों में कहे हुए यज्ञ दान तप तीर्थ व्रत आदि जितने भी पुण्यकारी कार्य हैं उन सब से उन का कोई मतलब नहीं रहता अर्थात् वे पुण्यकारी कार्य उन के लिये छोटे छोटे जलाशयों की तरह हो जाते हैं। ऐसा ही दृष्टान्त आगे सत्तरवें श्लोक में दिया है कि वह ज्ञानी महात्मा समुद्र की तरह गम्भीर होता है। उसके सामने

कितने ही भोग आ जायँ पर वे उसमें कुछ भी विकृति पैदा नहीं कर सकते।वेद हमें अपने ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप का बोध कराते हैं। जब तक अविद्यायुक्त अहंकार का अस्तित्व है तब तक वेदाध्ययन की आवश्यकता अपरिहार्य है। आत्मबोध के होने पर उस ज्ञानी पुरुष के कारण वेदों का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है। गणित की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उस व्यक्ति को पहाड़े रटने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि उसके पूर्ण ज्ञान में इस प्रारम्भिक ज्ञान का समावेश रहता है।

जो परमात्मतत्त्व को जाननेवाला है और वेदों तथा शास्त्रों के तत्त्व को भी जाननेवाला है उस महापुरुष को यहाँ ब्राह्मणस्य विजानतः पदों से कहा गया है।

तावान् कहने का तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व की प्राप्ति होने पर वह तीनों गुणों से रहित हो जाता है। वह निर्द्वन्द्व हो जाता है अर्थात् उस में रागद्वेष आदि नहीं रहते। वह नित्य तत्त्व में स्थित हो जाता है। वह निर्योगक्षेम हो जाता है अर्थात् कोई वस्तु मिल जाय और मिली हुई वस्तु की रक्षा होती रहे ऐसा उस में भाव भी नहीं होता। वह सदा ही परमात्मपरायण रहता है।ध्यान देने योग्य यह है कि यहां ब्रह्म को जानने वाला शब्द का प्रयोग किया है। तत्वदर्शी होना पर्याप्त नही है, इस के लिये ब्रह्मविद होने की आवश्यकता है।

श्री कृष्ण द्वारा यह द्वितीय उपमा है प्रथम नित्य द्वारा अनित्य स्वरूप वस्त्र बदलने के बराबर बताया था।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को क्रमशः शिक्षा देते हुए उस के अहम,मोह एवम भय को समाप्त किया। अभी तक को पुनः अवलोकन करें तो हम पाएंगे

1, हर व्यक्ति को अपने स्वधर्म का पालन समय एवम स्थान के अनुसार करना चाहिए, यह उस की कीर्ति एवम मर्यादा के लिए भी आवश्यक है।

2, स्वधर्म का पालन करते हुए समबुद्धि भाव होना चाहिए एवम अपने चित्त को एक ही लक्ष्य के साथ बिना भटकाये कार्य करना चाहिए।

3 कार्य-कारण के सिंद्धांत के अनुसार किसी भी कार्य को कर्ता भाव से न करते हुए निमित हो कर करने से बंधन मुक्त कार्य करना चाहिए। कामना के साथ किये कार्य काम्य बुद्धि कार्य कहलाते है। काम्य कर्म ही हमे उन के परिणाम अर्थात फलों के बंधन में बांधते है। गीता हमे उन कर्मो के त्याग को करने की सलाह न दे कर उन के साथ जुड़ी कामना की भावना के त्याग को छोड़ने को कहती है। इसलिये जब हम कामना रहित हो कर अपने नियत कर्तव्य धर्म के अनुसार कर्म करते है तो वह स्वयम के लिये न हो कर लोकसंग्रह के लिये किये हुए कर्म कहलाते है। अतः कर्म करते ही रहना चाहिए।

4, प्रकृति के त्रिगुणात्मक रूप सत, रज एवम तम से ऊपर उठ कर पूर्ण ब्रम्ह अर्थात अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त करना चाहिये। प्रकृति के सुखों या स्वर्ग की कामना हमे पुनः जन्म मरण की ओर ले जाती है। प्रकृति के सत-रज-तम इन तीन गुणों से ऊपर उठ कर गुणातीत होना ही समबुद्धि होना है।

यदि हम गीता के क्रमशः दिए ज्ञान को समझ कर आत्मसात कर रहे है तो ही धीरे धीरे हमारा अभ्यास हमे उस मान सरोवर का बोध करवा देगा जिस के बाद हमे यज्ञ, पूजा पाठ, व्रत, उपवास, भजन आदि की आवश्यकता नही रहेगी क्योंकि यह सब हमें इस ओर ही ले जाने वाले साधन है। आप जेट से यात्रा करे या पैदल या फिर साइकिल, स्कूटर या कार से , आप की मंजिल नित्य को प्राप्त करना ही है।

चित्तशुद्धि के लिये देह, मन, बुद्धि एवम अहंकार का त्याग होना है। देह का अर्थ इन्द्रीयजनित सुख। कामना, आसक्ति एवम अहंकार यह जीव के विकार है जो उसे परब्रह्म की जगह प्रकृति के साथ बांधते है। यदि जीव अभ्यास एवम ज्ञान द्वारा इन विकारों से मुक्त हो जाता है तो उसे वेद, वेदान्त अर्थात उपनिषद आदि से और अधिक ज्ञान की आवश्यकता नही रहती। गीता में भगवान स्पष्ट रूप में चित्त शुद्धि की बात कर्मकांड आदि से ऊपर बता रहे। रोज मंदिर जाने, माला या मंत्र जपने, यज्ञ - यांग से कोई चित्त शुद्धि नही होती क्योंकि इन के पीछे भोगने की लालसा लगी रहती है। इसी यथार्थ को उदाहरण दे कर प्रस्तुत किया गया है।

उदाहरण द्वारा समझाया हुआ ज्ञान सम्पूर्ण नही होता, अतः कभी भी उदाहरण और ज्ञान को लेकर वाद-विवाद नही करना चाहिए।

अगला श्लोक गीता का सर्वाधिक प्रचारित श्लोक है। भगवान्ने उन्तालीसवें श्लोकमें जिस समबुद्धि(समता) को सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी थी अब आगेके श्लोकमें उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.46 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.47॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भुर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

"karmaṇy evādhikāras te,
mā phaleṣu kadācana..I
mā karma-phala-hetur bhūr,
mā te saṅgo 'stv akarmaṇi"..II

भावार्थ :

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में अधिकार नहीं है, इसलिए तू न तो अपने-आप को कर्मों के फलों का कारण समझ और कर्म न करने में तेरी आसक्ति भी न हो॥४७॥

Meaning:

You only have authority over action, not ever to the result. Don't be motivated by the result, and don't get attached to inaction.

Explanation:

As mentioned earlier, this shloka is probably the most known and oft-quoted shloka in the Gita. There are many chapters in the Gita that go deeper into the layers and layers of meaning packed into this shloka. Given the richness of this shloka, we shall try to understand it to the best extent possible. Since there are several messages in this shloka, let's examine the teaching part by part.

The verse gives four instructions regarding the science of work: 1) Do your duty, but do not concern yourself with the results. 2) The fruits of your actions are not for your enjoyment. 3) Even while working, give up the pride of doership. 4) Do not be attached to inaction.

Let's start with the first half of the shloka. Do your duty, but do not concern yourself with the results. We have the right to do our duty, but the results are not dependent only upon our efforts. A number of factors come into play in determining the results—our efforts, destiny (our past karmas), the will of God, the efforts of others, the cumulative karmas of the people involved, the place and situation (a matter of luck), etc. Now if we become anxious for results, we will experience anxiety whenever they are not according to our expectations. So Shree Krishna advises Arjun to give up concern for the results and instead focus solely on doing a good job. The fact is that when we are unconcerned

about the results, we are able to focus entirely on our efforts, and the result is even better than before. The chapter 18 of geeta shall more clearlify this shlok.

God is the Master of the entire creation; all moving and non- moving beings are his servants." Material consciousness is characterized by the following manner of thoughts, "I am the proprietor of all that I possess. It is all meant for my enjoyment. I have the right to enhance my possessions and maximize my enjoyment." The reverse of this is Spiritual consciousness, which is characterized by thoughts such as, "God is the owner and enjoyer of this entire world. I am merely his selfless servant. I must use all that I have in the service of God." Accordingly, Shree Krishna instructs Arjun not to think of himself as the enjoyer of the fruits of his actions.

What attitude or what understanding a karma yogi has with regard to action and results. Because in Karma Yoga, most important thing are two things. We act in the world; Karma is important. And whatever karma you do, it is going to produce a result, karmaphalam is important.

Human being alone has that power to learn from experience and also accordingly project and have appropriate goals and work for it; these are all because of human freewill, freewill means choice.

This is what the conflict between fate and freewill. Human being wants to know whether I decide my future and he wants a black and white answer; one person says I do not decide my future at all; he is called a fatalistic person; nothing is in my hand; another person says I alone determine everything; he is an arrogant person; fate is right, or freewill is right; if we ask, what should be the answer? You play a role, but you do not play the total role. Similarly, here also Krishna says; just because I say your karma phalam is not under your control, it does not mean that your efforts are useless; what I say is your efforts do contribute to determine the result; just as every alphabetic letter is important; just every individual contribution is important; just as every individual vote is important; every individual's action is important. But at the same time, but when you use the vote, it is very important, but the party that comes to the power may not be the party that you have voted for.

That is why in Sanskrit, the word puruṣārtaḥ has two meanings; one meaning is freewill; and another meaning is the human goal;both meanings are there; because where freewill is there, there alone a goal is possible, where there is no freewill, there is no question of accomplishing any goal. Therefore since freewill and goals are interconnected, in Sanskrit, one word is used both for freewill as well as goal. Thus dharma-artha-kāma-mōkṣa are also called puruṣārtaḥ, the effort that we put forth to accomplish that; that freewill is also called puruṣārtaḥ; and therefore They Puruṣārtaḥa asti. Arjuna you accept that. when He says you do not have a choice over the result, Krishna does not mean that your efforts are waste, because no effort of anyone can be a waste because, Karma should necessarily produce a result, laccording to the quality and quantity of karma.

Therefore, whenever I do any action, from minutest, biggest and appropriate result, according to the law of karma, is definitely produced. But what Krishna wants to say is: the result produced is not determined by your effort alone; your effort does contribute to the result; but the result is not determined by your effort alone; there are so many other factors which contribute to the results of action. Therefore, your effort is one of the contributory factors; your effort is neither totally useless; nor does your effort totally decide the action.

An active life also contributes to growth, a withdrawn life also contributes to growth. Therefore activity is also important, withdrawal is also important. What activity can contribute, withdrawal can never contribute and what withdrawal can contribute, activity can never contribute.That's why in our śhastra they say pravṛtti is also important; nivṛtti is also important, and therefore Krishna says in the 6th chapter, the initial stage of spiritual growth is only in action and interaction Or consider a complex task as a surgeon performing heart surgery. Take the world's best doctor trained at the world's best college, in the surgery room of the world's best hospital with the world's best surgery team. Even with all these things, that surgeon will never have a 100% success rate.

The outcome of any action is like an equation where we provide some of the variables, but not all of them. In fact, we may not even know all the variables that end up determining the outcome.

So unless we logically convince ourselves that we do not have complete control over the result of an action, we will not be able to learn the main teaching the second half of this shloka. We will tackle that teaching in the next post.

Footnotes

1. "Phala" literally means "fruit". Fruit of a result has a "seed" in it, which has the potential to generate yet another action.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत श्लोक गीता का सब से ज्यादा प्रचलित श्लोक है। इस श्लोक में कर्मयोग में चार गुणों को बताया है किंतु इन सब का अर्थ गीता के अध्याय 18 तक पढ़ने पर समझ में आता है।

कर्म में कार्य - कारण के सिद्धांत से कर्ता के अतिरिक्त अन्य तत्व होते है जो कर्म के फल को निश्चित करते है। इसलिए कहा गया है कि तेरा कर्म पर अधिकार है 2) उस के परिणाम अर्थात फल पर कोई अधिकार है 3) न ही वह किसी कार्य का हेतु अर्थात करने वाला है 4) न ही किसी कार्य से उस की आसक्ति है।

यह एक सार गंभीर संदेश के साथ ही अतः इस को हम दो भाग में विश्लेषण करते है। प्रथम भाग में कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । तक ही लेते है।

पहले के अध्ययन किये हुए कार्य कारण के सिंद्धांत को यदि समझे तो आज जो भी हमारे साथ हो रहा है वो पूर्व में किये किसी भी कार्य का परिणाम है। यदि मनुष्य एक प्राकृतिक पशु है, कोई भी जीव बिना कर्म के नही रह सकता किन्तु बुद्धि होने के कारण केवल मनुष्य अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये कार्य कर सकता है जब कि अन्य जीव कार्य कारण के सिंद्धांत के अनुसार अपने पूर्व के कर्म को पूर्ण करके विभिन्न योनि में जन्म ले कर मनुष्य योनि में आता है।

मनुष्य के पास बुद्धि होने से वो विवेक कर के अपना कार्य को निर्धारित कर सकता है। यह कार्य करने का अधिकार उस के पास है किंतु कार्य के परिणाम पर नही। जैसे आप को देहली जाना हो तो आप ट्रैन में टिकट करवा कर बैठ सकते है किंतु ट्रैन देहली पहुचे गी या कितने देरी से पहुचेगी यह आप को नही पता। कार्य कारण के सिद्धांत के अनुसार आप का उद्देश्य देहली पहुचने का है जिस का परिणाम आप को देहली पहुचा सकता है।

अतः कर्म का अधिकार तो है किंतु फल के अधिकार न होने से यदि हम अपना प्रोग्राम तय करे और नियोजित फल मिलने या न मिले तो यह हमारे अंदर लालसा पैदा करेगा हम कार्य कारण के सिंद्धांत के अनुसार इस कार्य से बंध जाएंगे।

श्री कृष्ण भगवान कहते है कि कर्म करना तो तेरा अधिकार है किंतु फल का नही क्योंकि किसी भी कार्य का परिणाम कब, कितना और किस प्रकार का होगा यह पहले के किये कार्य, आसपास का वातावरण, आप के प्रतिद्वंदी, और अन्य द्वारा किये गए कार्यो के कारण तय होगा। यदि हमारा कार्य के प्रति समर्पण होगा एवम कार्य को पूर्ण लगन एवम मेहनत के साथ करेगे

तो कार्य कारण के सिद्धांत के अनुसार परिणाम भी अनुकूल होंगे किन्तु यदि फल को ध्यान में रख कर उस पर इच्छा या लालसा के साथ कार्य करेंगे तो कार्य के प्रति हमारे प्रयासों को पूर्ण बल नही मिलेगा। क्योंकि किसी भी जगह या समय अनुकूल परिणाम न आता देख कर हम हताश हो कर उस कार्य के प्रति अपने प्रयास को कमजोर कर सकते है, या फिर सफलता देख कर आती उत्साहित हो कर भी कार्य के प्रति शिथिल हो सकते है।

कार्य के फल है प्रति हमारी लालसा हमे कार्य से बांध देती है और हम अपने नित्य स्वरूप को नही पहचान पाते।

अतः जब किसी भी कार्य का परिणाम यानी फल क्या होगा हम निर्धारित नही कर सकते तो हमारे अधिकार में कर्म के जो हम निर्धारित उद्देश्य के पूर्ति के लिए पूर्ण समर्पण के साथ करे और उस का जो भी फल मिले स्वीकार् करे। जीव ब्रह्म का अंश है इसलिए यदि बिना कर्ता और आसक्ति भाव के उस कार्य को परमात्मा का सेवक समझ कर, पूर्ण समर्पित भाव से, लक्ष्य को साध कर अपनी पूर्ण दक्षता और समक्षता से किया जाए तो वह कार्य भी पूर्ण होगा और उस के फल का बंधन भी नही होगा।

उदाहरण के तौर पर वकील केस को कोर्ट में अपनी पूर्ण क्षमता, साक्ष्य और दलील के साथ जीतने के लक्ष्य से लड़ता है। किंतु उस रिजल्ट न्यायधीश तय करता है। रिजल्ट विरोधी पक्ष, साक्ष्य, कानून और परिस्थितियों के अनुसार तय होता है।

अध्याय 18 में इस श्लोक का विस्तृत विवरण है, वहाँ बताया गया है कि किसी भी कार्य को सम्पन्न करने हेतु अधिष्ठान, कर्ता अर्थात जीवात्मा, करण अर्थात कर्मेन्द्रियां, कार्य करने की इच्छा या प्रेरणा एवम अधिदेव अर्थात कारण होता है। धरती से बीज उत्पन्न होने के धरती, खाद, पानी, हवा, बीज एवम प्रयास की आवश्यकता होती है, कोई यह कहे कि उस ने पौधा उगाया है या फसल तैयार की है तो गलत होगा क्योंकि वह इन पांच कारकों में से एक भाग है। जब तक पूरे संयोग नही मिलते, तब तक फसल नही होगी। फसल कैसी और कितनी होगी, यह विभिन्न संयोग की मात्रा पर है। पानी या मिट्टी तत्व भी फसल की मात्रा को प्रभावित करते है, फिर मौसम की बात भी है।

अतः किसी भी घटक के एक मात्र कारक होने के कारण उस के फल का अधिकार भी उस कारक को नही जाता। इसलिये कर्ता का अधिकार उस के कर्म पर है किंतु फल पर नही।

कर्ता भाव प्रकृति का जीवात्मा का भाव है। वास्तव में जीव ब्रह्म का अंश है, इसलिए वह अकर्त्ता, नित्य और साक्षी है। जो कुछ हो रहा है वह प्रकृति जीव के चारो ओर नृत्य करती प्रकृति करती है। इसलिए जीव का अधिकार कर्म पर आसक्ति और कर्ता भाव का है। कर्म प्रकृति निमित्त बना कर करवाती है। वह जीव के गुण, धर्म, वर्ण और आश्रम से उस की कर्म की शक्ति का आकलन करती है। अतः जीव जो भी कार्य करता है वह निर्द्वंद और निर्योगभाव से करे या कर्ता और भोक्ता भाव से करे। कर्ता और भोक्ता भाव से करने पर वह उस के फल का अधिकारी होगा और कर्म बंधन में फस कर जन्म मरण के लगा रहेगा।

द्वितीय भाग को पुनः कल पढ़ेगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 47... ।।1।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।2.47।।

Explanation of 47 continued:

Now let's move into the main teaching of this shloka. Here Shri Krishna urges us to not worry about the outcome, i.e. the result, of the action. How will this work? Let's recap two important points. We have seen earlier that when we perform our svadharma, we derive joy from the performance of

action itself since we have the interest, desire and aptitude for it. We also learned in the last shloka that we do not have complete control over the outcome.

He instructs Arjun never to chase after preconceived motives attached to his actions nor consider himself as the cause of the results of his actions. However, when we perform actions, then why should we not consider ourselves as the doers of those actions? The reason is that our senses, mind, and intellect are inert; God energizes them with his power and puts them at our disposal. As a result, only with the help of the power we receive from him, are we able to work. For example, the tongs in the kitchen are inactive by themselves, but they get energized by someone's hand, and then they perform even difficult tasks, such as lifting burning coal, etc. Now if we say that the tongs are the doers of actions, it will be inaccurate. If the hand did not energize them, what would they be able to do? They would merely lie inert on the table. Similarly, if God did not supply our body-mind-soul mechanism with the power to perform actions, we could have done nothing.

Therefore, we should never be motivated by the outcome when we know we have executed our actions with perfection, and that we do not have complete control on the outcome. Motivation for the outcome creates bondage - it is like a rope that ties us into the future. Instead, if we give up motivation for the outcome, there is no such binding created.

Let's address a few doubts that most of us may have when we hear this teaching. The first doubt could be : "If I am not motivated by the result, how will I know where I am heading? I want my project to be executed on time, I want my team to be inspired by a goal, I want progress in my career. How can I do all these things if I am not motivated by the result?"

To answer this, let us closely look at what Shri Krishna has prescribed. There is nothing wrong with aiming for a specific goal, or even to be inspired by it. Setting a vision, defining a goal, making a plan - all these things are absolutely required for the perfect execution of any work. We can always be motivated by the goal, but not be motivated by the outcome. There is a subtle but important difference.

Another doubt could be as follows: "If I know that I am only partially responsible for the outcome then why should I do any action at all? I will just quit my job, sit at home and do nothing."

Although the nature of the living being is to work, often situations arise where work seems burdensome and confusing. In such cases, instead of running away from it, we must understand and implement the proper science of work, as explained by Shree Krishna to Arjun. However, it is highly inappropriate if we consider work as laborious and burdensome, and resort to inaction. Becoming attached to inaction is never the solution and is clearly condemned by Shree Krishna.

Shri Krishna cautions us not to do so in the last part of the shloka - do not get attached to inaction. If we know that we have performed our svadharma and our actions to the best of our abililty, we know that in the end we will achieve our goals, even if things may not turn out as anticipated sometimes. But we should never totally give up and do nothing.

What we have learned so far is just the tip of the iceberg. This shloka is the seed for the topic of Karmayoga, or the discipline of action. Shri Krishna expounds on this topic at great length in the forthcoming chapters. Arjuna has several questions and doubts in regards to this teaching, all of which will be addressed by Shri Krishna one by one.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कल के अध्ययन को पुनः शुरू करे तो इस श्लोक के प्रथम चरण में बताया गया है कि 1) जीवात्मा को कर्म करने का अधिकार है 2) किंतु उस के फल का अधिकार नही है। किसी भी कर्म को निष्काम भाव से करने से नित्य की प्राप्ति होगी।

निष्काम होनेके उपाय (1) कामना पैदा होने से अभाव होता है कामना की पूर्ति होने से परतन्त्रता और पूर्ति न होने से दुःख होता है तथा कामना पूर्ति का सुख लेने से नयी कामना की उत्पत्ति होती है और सकामभाव पूर्वक नये नये कर्म करने की रुचि बढ़ती चली जाती है ऐसा ठीक ठीक समझ लेने से निष्कामता स्वतः आ जाती है।

(2) कर्म नित्य नहीं है क्योंकि उन का आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मों का फल भी नित्य नहीं है क्योंकि उनका भी संयोग और वियोग होता है। परन्तु स्वयं नित्य है। अनित्य कर्म और कर्मफल से नित्य स्वरूप को कोई लाभ नहीं होता। ऐसा ठीक समझ लेने से निष्कामता आ जाती है। निष्काम होने से संसार का सम्बन्ध छूट जाता है और परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

कर्मों में निष्काम होने के लिये साधक में तेजी का विवेक भी होना चाहिये और सेवाभाव भी होना चाहिये क्योंकि इन दोनों के होने से ही कर्मयोग ठीक तरह से आचरण में आयेगा नहीं तो कर्म हो जायँगे पर योग नहीं होगा। तात्पर्य है कि अपने सुख आराम का त्याग करने में तो विवेक की प्रधानता होना चाहिये और दूसरों को सुख आराम पहुँचाने में सेवाभाव की प्रधानता होना चाहिये।

द्वितीय चरण में भगवान कहते कि यदि हम विधि वद्व किसी कार्य को करते है तो उस का फल अवश्य ही मिलता है क्योंकि यह प्रकृति का नियम है, यह उस कार्य करने मात्र से मिला या पूर्व के किये कार्य एवम अन्य के सहयोग से, क्योंकि कार्य के फल पर तेरा अधिकार नही है तो उस कार्य का कर्ता भी नही बनना चाहिए।

कभी भी किसी भी फल पर यह कहते हुए अधिकार नही बोलना चाहिए कि यह कार्य का करने वाला मै हूँ। आप नित्य है और नित्य अहम के कारण पहचान नही सकते। निश्चित विधि पूर्वक कार्य करने से अपेक्षित परिणाम आने की पूरी संभावना होती है। यदि विद्यार्थी पढ़ाई करे तो पास होगा, यदि यात्रा के लिए आप निकल कर ट्रैन में बैठे तो गंतव्य स्थान पर पहुचेंगे किन्तु फल पर अधिकार न होने से कोई भी 100 % दावा नही कर सकता कि इस का परिणाम यह ही होगा। कर्म कर्तव्य पालन का मार्ग है और कर्तव्य स्वधर्म का पालन करना। निष्काम भाव से कर्म करना ही नित्य प्राप्ति का मार्ग है। नित्य अकर्ता है यदि कर्ता भाव से कार्य करेंगे तो अहम, मोह, फिर लालसा, सुख भोग आदि का कुचक्र शुरू होगा और कार्य कारण के सिंद्धांत के अनुसार आप अनित्य स्वरूप में अपने कर्मो के फल को भोगेंगे। फिर इस का अर्थ यह भी नही ले सकते कि कर्मो से दूर रहे। स्वधर्म का पालन करना ही मुक्ति का मार्ग है

इस लिए इस श्लोक का चतुर्थ भाग हमे कर्म करते रहने को प्रेरित करता है, आलस, प्रमाद भी कर्म है, कर्म के बिना यह जीवन नही, कर्म पर अधिकार होने से स्वधर्म के अनुसार कर्म करते रहना चाहिए। जीव यदि जिस कर्म के लिए निमित्त बनाया गया है उसे वह स्वधर्म के अनुसार नही करते हुए, आलस्य, प्रमाद या अपने गुण धर्म से नही करता तो भी कर्म के फल के बंधन से मुक्त नहीं होगा। आलस्य और प्रमाद तामसी गुण का प्रवर्तक है। इसलिए निष्काम कर्म अकर्ता भाव में सात्विक या राजसी या दोनो के मिश्रित स्वरूप में ही होगा।

आगे के अध्याय में भगवान अर्जुन से कहते है कि जिसे तुम मारने की बात कर के मोह कर रहे उसे काल ने पहले ही मार दिया है, तुम सिर्फ निमित्त हो। प्रकृति ने तुम्हे तुम्हारे गुण, धर्म और आश्रम को देखते हुए मौका दिया है, इसलिए युद्ध करो और विजय हासिल कर के संसार का भोग करो। इसे भी विस्तृत हम आगे पढ़ेंगे।

अतः प्रकृति अपनी क्रियाएं जीव को निमित्त बना कर करती रहती है। जीव का अज्ञान कहता है कि वह उस का कर्ता और भोक्ता है किंतु ज्ञानी वही क्रिया पूर्ण दक्षता से निष्काम और अकर्ता भाव से करते हुए, सृष्टि यज्ञ चक्र का कार्य करता है।

जिसे परीक्षा पास करनी है, उस को पढ़ना भी होगा, याद रखना भी होगा और सही तरीके से उत्तर लिखने होंगे। अतः लक्ष्य साध कर कार्य करना ही स्वधर्म है। इसलिए रिजल्ट से ले कर आगे का मार्ग प्रकृति ही तैयार करेगी। प्रकृति के तीन गुणों में सत गुण को प्राप्त करना, उस से मोक्ष को प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य होना चाहिए।

जैसे सूर्य इस संसार में जीवों से न कर्म करवाता है और न स्वयं कर्म करता है , परन्तु उसके उदय होनेपर सभी जीव अपने कर्म में लग जाते हैं ; वैसे ही सूर्य के समान आत्मा का साक्षीपना है , कर्तापना और भोक्तापना नहीं है ।।

प्रस्तुत श्लोक में हमे मुख्य चार बाते कही गयी है।

(1) कर्म करने में ही तेरा अधिकार है (2) फल में कभी तेरा अधिकार नहीं है (3) तू कर्मफल का हेतु भी मत बन और (4) कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो। इन में से पहले और चौथे चरण की बात एक है तथा दूसरे और तीसरे चरणकी बात एक है। पहले चरण में कर्म करने में अधिकार बताया है और चौथे चरण में कर्म न करने में आसक्ति होने का निषेध किया है। दूसरे चरण में फल की इच्छा का निषेध किया है और तीसरे चरण में फल का हेतु बनने का निषेध किया है।

जीव के बंधन के कारक उस की कामना, आसक्ति एवम अहम होता है, वह स्वभावतः प्रकृति के क्षणिक सुखों से आकर्षित हो कर अहम एवम कर्ता भाव से कर्म करने लगता है। यही कर्तृत्व भाव एवम भोक्तत्व भाव के कारण वह कर्म बंधन में फस जाता है। यदि वह गुणातीत हो कर कर्म करे तो वह इन से मुक्त हो जाएगा।

इसलिये भगवान कहते है कि कर्म करो, कर्म करने में कोई आलस्य या उदासीनता भी न होना चाहिये। किन्तु उस के फल पर उस का कोई अधिकार नही है क्योंकि कर्म फल के कई कारक है और इसलिये जो भी फल प्राप्त होता है उस का श्रेय अर्थात हेतु भी नही बनना चाहिए।

यह श्लोक का विस्तृत अध्यन अभी बाकी है जिस की आगे के अध्याय में अर्जुन-कृष्ण संवाद से बताया गया है एवम यह समुन्द्र में तैरते बर्फ के द्वीप का सिर्फ ऊपरी हिस्सा मात्र है।

संक्षेप में इस उपदेश का प्रयोजन मनुष्य को चिन्ता मुक्त बनाकर कर्म करते हुये दैवी आनन्द में निमग्न रहकर जीना सिखाना है। कर्म करना ही उसके लिये सबसे बड़ा पुरस्कार और उपहार है श्रेष्ठ कर्म करने के सन्तोष और आनन्द में वह अपने आपको भूल जाता है। कर्म है साधन और आत्मानुभूति है साध्य।

ईश्वर का स्मरण करते हुये सभी बाह्य चुनौतियों का तत्परता से सामना करते हुये मनुष्य सरलतापूर्वक शान्ति और वासना क्षय द्वारा चित्त की शुद्धि प्राप्त कर सकता है। जितनी अधिक मात्रा में चित्त में शुद्धि होगी उतनी ही अधिक आत्मानुभूति उसे सुलभ होगी।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.47 ।।2।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.48॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

"yoga-sthaḥ kuru karmāṇi,
sańgaḿ tyaktvā dhanañjaya..I
siddhy-asiddhyoḥ samo bhūtvā,
samatvaḿ yoga ucyate"..II

भावार्थ :

हे धनंजय! तू सफ़लता तथा विफ़लता में आसक्ति को त्याग कर सम-भाव में स्थित हुआ अपना कर्तव्य समझकर कर्म कर, ऐसी समता ही समत्व बुद्धि-योग कहलाती है॥४८॥

Meaning:

Perform action, established in yoga, and discard attachment, O Dhananjaya. Remain balanced in success and failure. Yoga is defined as equanimity.

Explanation:

This shloka pushes further the teaching of Karmayoga by advising us to begin discarding our attachments to objects in the material world. Obviously, we will not be able to totally discard all our attachments in one day. This will take a long time.

The equanimity that enables us to accept all circumstances with serenity is so praiseworthy that Shree Krishna calls it Yog, or union with the Supreme. This equipoise comes from implementing the knowledge of the previous verse. When we understand that the effort is in our hands, not the results, we then concern ourselves only with doing our duty. The results are for the pleasure of God, and so we dedicate them to him. Now, if the results are not to our expectations, we calmly accept them as the will of God. In this way, we are able to accept fame and infamy, success and failure, pleasure and pain, as God's will, However, Shri Krishna asks us to slowly start treading on this path. Why is he asking us to do so? He wants us to diminish our hankering for the outcome of our actions, and the only way to do that is by reducing our attachments to the material world.

Consider a mother who takes care of her 5 year old child. She gets extremely attached to it and develops lots of expectations: my child will take care of me when it grows up, it will become a doctor etc. If those things don't happen, she will generate lots of sorrow for herself. But a nanny taking care of a child will not be attached to it. She will perform her svadharma by taking good care of child. However, she will have zero expectations from the child, and therefore she will be able to maintain equanimity in action.

The only difference between the mother and the nanny is their attitude - one is attached, one is unattached. And the one that has attachments has expectations for the future, the other does not.

Now in this shloka we encounter Shri Krishna defining the term "yoga". It has nothing to do with arcane rituals. It has nothing to do with complex physical postures. It is a surprisingly simple and practical definition: equanimity of mind during performance of action. It is how the nanny operated in the earlier example.

So what is the practical technique to cast off attachments? How do we actually do this? We have to rid ourself of all expectations and worries about the future, as well as memories of the past. If we eliminate constant thinking about past and future, we can channel all that energy into the present moment and into executing the task at hand.

We probably have experienced instances in our lives where we were so joyfully and blissfully immersed in our work that we forgot where we were and what time it was. But those experiences were few and far between. By going deeper into each and every task we perform, no matter how big or small the task, we will minimize past and future thinking, which will enable us to remain balanced regardless of success and failure. This is the true definition of yoga.

There are four kinds of attachment: attachment to result (I want a reward for singing this song), to action (I will sing a song only in my way), to doership (I will song the song, not anyone else), and to non-doership (I am the non-singer of this song).

To recap, our toolkit contains 3 techniques: reducing unnecessary thoughts, improving quality of thought, and focusing on the task and hand. We can practice this teaching with mundane tasks, and move on to more complex ones. Next time we wash dishes, lets give each movement of the hand our single and undivided attention, and try to sustain it while washing each and every dish. Give it a shot, see what happens.

This shloka is the seed of the third and fourth chapters of the Gita on the topic of Karma yoga as a means for purification of the mind.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में यह बात स्पष्ट कर दी गई कि जीव का कर्म पर अधिकार कर्ता या भोक्ता भाव से करने तक सीमित है, किंतु उस के फल पर कोई अधिकार नही। तो प्रश्न यह कि कर्म किस प्रकार करना चाहिए।

बुद्धि के व्यावसायिक एवम निश्चयात्मक स्वरूप के बाद बुद्धि का पुनः कहने का अर्थ, यहां हम समझ, वासना या इच्छा से करते है। जब हम कामना, वासना एवम फल की इच्छा वाली बुद्धि से अलग हो कर समभाव से कर्म करते है तो यह बुद्धियोग है। योग का अर्थ है जुड़ना या युक्ति करना। समभाव बुद्धि से कर्म की तुलना सकाम भाव कर्म से करते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है सकाम भाव से कर्म करने वाला फल की इच्छा रखने से जन्म- मरण को भोगने तो तैयार है, वह उस कृपण के समान है जो धन को प्रयोग भी नही कर सकता और छोड़ भी नही सकता। उस के कर्म कामना के कारण निम्न स्तर के हो जाते है जिस के लिये उसे पुनः जन्म के आवश्यकता होती है। मोक्ष की इच्छा तक रखना वासना ही है तो बाकी सामाजिक एवम प्राकृतिक वासनाओ का स्तर उस परमानंद के अनुकूल नही हो सकता। **काम, वासना, आसक्ति वाली बुद्धि का त्याग कर समभाव बुद्धि का आश्रय ही कर्मयोग है।**

यहाँ **कर्मयोग** का ही विशद् विवेचन किया गया है। इस श्लोकार्थ पर विचार करने से ज्ञात होगा कि अहंकार की पूर्ण निवृत्ति के बिना इस मार्ग में सफलता नहीं मिल सकती और इसकी निवृत्ति का उपाय है मन का समत्व भाव। इस श्लोक में प्रथम बार योग शब्द का प्रयोग किया गया है और यहीं पर उसकी परिभाषा भी दी है कि समत्व योग कहलाता है। इस योग में दृढ़ स्थित होने पर ही निष्काम कर्म किये जा सकते हैं।कर्मयोगी के लिये केवल इतना पर्याप्त नहीं कि सम भाव में रहकर वह कर्म करे परन्तु इस नित्य परिवर्तनशील जगत् में रहते हुये इस समभाव को दृढ़ करने का सतत प्रयत्न करे। इसके लिये उपाय है कर्मों के तात्कालिक फलों के प्रति संग (आसक्ति) का त्याग। कर्मों को कुशलतापूर्वक करने के लिए जिस संग को त्यागने के लिए यहाँ कहा गया है उसपर हम विचार करेंगे। इसके पूर्व के श्लोकों में श्रीकृष्ण ने जिन आसक्तियों का त्याग करने को कहा था वे सब संग शब्द से इंगित की गयी हैं अर्थात् विपरीत धारणायें झूठी आशायें दिवा स्वप्न कर्म फल की चिन्तायें और भविष्य में संभाव्य अनर्थों का भय इन सब का त्याग करना चाहिये।

त्याज्य गुणों की इस सूची को देखकर किसी भी साधनरत सच्चे साधक को यह सब करना असम्भव ही प्रतीत होगा। परन्तु उपनिषदों के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर और अधिक विचार करने पर हम सरलता से इस गुत्थी को सुलझा सकेंगे।उपर्युक्त सभी कष्टप्रद धारणायें एवं गुत्थियां भ्रांति जनित अहंकार की ही हैं। यह अहंकार क्या है भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की आशाओं की गठरी। अत अहंकारमय जीवन का अर्थ है मृत क्षणों की श्मशानभूमि अथवा काल के गर्भ में रहना जहाँ अनुत्पन्न भविष्य स्थित है। इन में व्यस्त रहते हुये वर्तमान समय को हम खो देते हैं जो हमें कर्म करने और लक्ष्य पाने के लिये उपलब्ध होता है। वर्तमान में प्राप्त सुअवसररूपी धन का यह मूर्खतापूर्ण अपव्यय है जिस का संकेत व्यासजी इन शब्दों में करते है संग त्याग कर समत्व योग में स्थित हुये तुम कर्म करो।वर्तमान की अग्नि में भूत भविष्य चिन्ता भय आशा इन सब को जलाकर कर्म करना स्फूर्ति और प्रेरणा का लक्षण है। इस प्रकार अहंकार के विस्मरण और कर्म करने में ही पूर्ण आनन्द है। ऐसे कर्म का फल सदैव महान् होता है।कलाकृति के निर्माण के क्षणों में अपने आप को कृति के आनन्द में निमग्न होकर कार्यरत कलाकार इस तथ्य का प्रमाण है। वैसे इसे समझने के लिए कोई महान कलाकार होने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में किसी कार्य को पूरी लगन और उत्साह से जब हम कर रहे होते हैं उस समय यदि वहाँ कोई व्यक्ति आकर खड़ा हो जाये तब भी हमें उस का भान नहीं रहता। आनन्द की उस अनुभूति से नीचे अहंकार के स्तर पर उतर कर आगन्तुक को उत्तर देने में भी हमें कुछ समय लग जाता है।अहंकार को भूलकर जो कार्य किये जाते हैं उनमें कर्ता को यश अथवा अपयश की कोई चिन्ता नहीं रहती क्योंकि फल की चिन्ता का अर्थ है भविष्य की चिन्ता और भविष्य में

रहने का अर्थ है वर्तमान को खोना। स्फूर्त जीवन का आनन्द वर्तमान के प्रत्येक क्षण में निहित होता है। कहा जाता है कि प्रत्येक क्षण का आनन्द स्वयं में परिपूर्ण है। अत भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जीवन की सभी परिस्थितियों में समान रहते हुये कर्म करने का उपदेश देते हैं।

समबुद्धि योग को अन्य उदाहरण द्वारा पढ़ाई करते वक़्त विद्यार्थी की मानसिकता से समझ सकते कि पुस्तक हाथ मे लेते ही यदि वो भटकते मन से पढ़े, तो उसे कुछ भी याद या पढ़े का ज्ञान नही रहता। भटका हुआ मन या तो भूत काल है विषय मे सोचेगा या भविष्य की कल्पना करेगा। दोनों ही स्थिति में यदि कुछ नष्ट हो रहा है वो उस विद्यार्थी का वर्तमान काल। अतः कार्य करते हुए स्वधर्म के कर्तव्य के अनुसार पूर्णरूप से एक चित हो कार्य करना ही सम बुद्धि योग है। कर्तव्य पालन करते हुए सफलता या असफलता , लाभ या हानि या सुख या दुख को ध्यान में न लाते हुए कार्य करना। क्योंकि कार्य को कुशलता पूर्वक करने का ही हमे अधिकार है।

आसक्ति के चार स्वरुप कर्म, कर्ता, भोक्ता एवम अकर्ता में हमे ने पढ़ा है। कर्म के विभिन्न भेद भी हम पढ़ चुके है।

1. फल वासना रहित कर्तृव्य कर्म श्लोक 47-

2. कर्तृत्व संग त्यागरूप योगयुक्त कर्म श्लोक 48

3. फल - कामना सहित सकाम कर्म निकृष्ट कर्म योग है समान है - श्लोक 49

इन तीनो में सकाम कर्म को सब से निकृष्ट बताते हुए, भगवान श्री कृष्ण आगे कर्म को बुद्धि अर्थात ज्ञानयोग से जोड़ते हुए कैसे समत्व भाव से निष्काम कर्म करना चाहिये, बताते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.48 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.49॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

"dūreṇa hy avaraṁ karma,
buddhi-yogād dhanañjaya..I
buddhau śaraṇam anviccha,
kṛpaṇāḥ phala-hetavaḥ"..II

भावार्थ :

हे धनंजय! इस समत्व बुद्धि-योग के द्वारा समस्त निन्दनीय कर्म से दूर रहकर उसी भाव से ऎसी चेतना (परमात्मा) की शरण-ग्रहण कर, सकाम कर्म के फलों को चाहने वाले मनुष्य अत्यन्त कंजूस होते है॥४९॥

Meaning:

Selfish action is far lower than unselfish action, O Dhananjaya. Seek refuge in the knowledge of equanimity. Pitiable are those who are motivated by results.

Explanation:

So far, Shri Krishna described the performance of unselfish actions while maintaining equanimity of mind. In this shloka, he expresses his views on individuals acting with a selfish motive. To indicate his level of contempt for them, he calls them "pitiable" or kripana.

Kṛipaṇa are those who think that the ultimate reality consists only of sense objects produced from the material energy." Again, the Śhrīmad Bhāgavatam, states: A kṛipaṇa is one who has no control over the senses.

Otherwise what will happen? फलहेतवः phalahētavaḥ; those people who do not have this attitude and those who are utterly materialistic, they are called phalahētavaḥ, who are material result oriented; so phalahētavaḥ, refers to the people who are the material result oriented; they are kṛpaṇā, they are unfortunate people, they grow thru tremendous anxiety; tremendous stress, strain and therefore Arjuna! Take to karma yōga.

Let us say there is a large family living under one roof. Everyone has a part to play: some people work to bring in money, some are students, some take care of the house etc. Now, there is a large TV in the living room and anyone in the family can watch it. But, if one person starts monopolizing the TV and prevents others from watching it, what would you call that person? Wouldn't you call him selfish and pitiable? Well, the world we live in is no different than this large family. Any selfishly motivated action eventually causes more harm than good.

Now, all of us will agree that acting in an unselfish manner is a good thing, in theory. But we very rarely practice it in our lives. Why is this so? The most common argument is that if we become unselfish, other selfish people will take advantage of us and we will probably "lose" in life.

So how do we address this argument? Acting with an unselfish attitude does not mean that we become weak-minded wimps. If someone is obstructing us from performing our svadharma, we should deal with that individual in a firm manner appropriately. And if we truly practice equanimity of mind while performing actions, we will respond to the situation using our intellect and not our emotions. Therefore we will not do something rash and harmful to the situation at hand.

As an individual evolves to higher levels of consciousness, one naturally sheds the desire for enjoying the fruits of work, and moves in the direction of service. Bill Gates, having renounced his position in Microsoft Corporation, now dedicates his energy in the service of society. Similarly, after having had his fill of power and position as the President of USA, Bill Clinton now preaches the glories of service to humankind, and has even written a book on the topic, "Giving—How Each Of Us Can Change The World." Their engagement in service is praiseworthy, but it is still imperfectly oriented. That service attitude becomes perfect when we learn to do our works for the pleasure of God, dedicating all the fruits to him.

Therefore, the teaching of Karmayoga encourages us to slowly change our attitude to one of unselfish action, and maintain equanimity of mind while performing actions.

।। हिंदी समीक्षा ।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् बुद्धियोग अर्थात् समता की अपेक्षा सकामभाव से कर्म करना अत्यन्त ही निकृष्ट है। कारण कि कर्म भी उत्पन्न और नष्ट होते हैं तथा उन कर्मों के फल का भी संयोग और वियोग होता है। परन्तु योग (समता) नित्य है उसका कभी वियोग नहीं होता। उसमें कोई विकृति नहीं होती। अतः समता की अपेक्षा सकामकर्म अत्यन्त ही निकृष्ट हैं।

सम्पूर्ण कर्मों में समता ही श्रेष्ठ है। समता के बिना तो मात्र जीव कर्म करते ही रहते हैं तथा उन कर्मों के परिणाम में जन्मते मरते और दुःख भोगते रहते हैं। कारण कि समता के बिना कर्मों में उद्धार करने की ताकत नहीं है। कर्मों में समता ही कुशलता है। अगर कर्मों में समता नहीं होगी तो शरीर में अहंता एवम ममता हो जायगी और शरीर में अहंताममता होना ही पशुबुद्धि है। भागवत में शुकदेवजीने राजा परीक्षित् से कहा है, हे राजन् ! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा।

दूरेण कहने का तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश और अन्धकार कभी समकक्ष नहीं हो सकते ऐसे ही बुद्धियोग और सकामकर्म भी कभी समकक्ष नहीं हो सकते। इन दोनों में दिनरात की तरह महान् अन्तर है। कारण कि बुद्धियोग तो परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है और सकामकर्म जन्ममरण देनेवाला है।

पूर्व के श्लोक को अध्ययन में **समबुद्धियोग** शब्द का प्रयोग किया है जिस के अनुसार यदि हम किसी कार्य को अपने स्वधर्म के कर्तव्य पालन के लिए करते है तो उस का परिणाम अवश्य ही प्राप्त होगा। यदि हमारी दृष्टि परिणाम पर है तो यह या तो खुशी देगा या दुख। क्योंकि परिणाम मन की भावनाओ से जुड़ा व्यक्तिगत होता है, यह हर व्यक्ति के लिए अलग अलग होता है। एक ही परिणाम मन की भावना से जुड़ा होने से किसी के लिए खुशी और किसी के लिए नाराजगी का कारण बन जाता है। किंतु यदि समबुद्धि से जुड़ा हो तो यह हमें न तो खुशी देगा न ही दुख।

उदाहरण के तौर पर वकील केस लड़ता है तो उस ध्यान केस को जीतने का लक्ष्य होना चाहिए किंतु हार या जीत से अप्रभावित भी होना चाहिए। संपूर्ण बुद्धि लक्ष्य को प्राप्त करने के एकाग्र रहनी चाहिए किंतु क्लाइंट, फीस, कोर्ट, फैसला या हार या जीत का कोई प्रभाव नहीं। किसी विद्यार्थी को पढ़ाई अच्छे नंबर से पास होने के लिए करनी है किंतु परिणाम से अप्रभावित हो कर लक्ष्य के साथ। यही समबुद्धि योग है।

सम बुद्धि योग जितना बताना सरल है उतना ही अपनाना कठिन। जब किसी लक्ष्य के साथ हम कार्य करते है तो उस की सफलता की आशा भी हो ही जाती है, असफल होने पर परेशानी होती है और जब तक एक ही लक्ष्य हो एकाग्र हो कर कार्य नहीं करते तो उस को प्राप्त करना कठिन है। इसलिए यदि हम एकाग्र हो कर सिर्फ अपने स्वधर्म में लग जायेंगे तो हमारा उद्देश्य किसी को हराना या परेशान करना या उस को नीचा दिखाना नही होगा। हम किसी भी प्रतिस्पर्धा से बाहर होंगे एवम स्वयं के लिए सर्वश्रेष्ठ होने के लिए कार्य करेंगे, न कि किसी की तुलना में सर्वश्रेष्ठ होने की चेष्ठा करेगे।

भावनाओ के किसी भी कार्य को करना हमेशा फल प्राप्ति से जुड़ा रहता है, भावना प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, लोभ या क्रोध किसी की भी हो सकती है जिस का परिणाम दुख या सुख होगा एवम जीवन मरण के चक्र में जीव कभी भी मुक्त नही हो सकता।

भावना से कार्य करने से कार्य के किसी भी क्षण कार्य के स्वरूप में परिवर्तन आ सकता है जैसे अर्जुन युद्ध के लिए तैयार था किंतु भावना के कारण मोहग्रस्त हो गया। समबुद्धियोग से कार्य करने से कार्य मे एकाग्रता बनी रहती है।

किसी व्यक्ति के दुर्घटनाग्रस्त होने पर स्वधर्म के अनुसार उस को इलाज की सुविधा तक पहुचाना सम बुद्धि से किया कार्य है जब की खुद वहां बैठ कर रोने लगना भावना के साथ किया कार्य है।

भगवान श्री कृष्ण कहते है कि जो व्यक्ति समबुद्धि से कार्य नही करता एवम तत्काल फल की इच्छा से कर्म को प्रेरित होता है, वह अपने दीर्घकालीन लाभ को नष्ट कर देता है, इसलिये उन्हें कृपण यानि कंजूस कहा गया है। अर्थात यह वह व्यक्ति है जो अपनी ऊर्जा, शक्ति, बुद्धि, विवेक का उपयोग मोक्ष जैसे कार्यो पर व्यय न करते हुए, तत्कालीन अल्प लाभ पर खत्म कर देता है और उस की ऊर्जा यानि मनुष्य जन्म व्यर्थ में खत्म हो जाता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.49 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.50॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

"buddhi-yukto jahātīha,
ubhe sukṛta-duṣkṛte..I
tasmād yogāya yujyasva,
yogaḥ karmasu kauśalam"..II

भावार्थ :

समत्व बुद्धि-योग के द्वारा मनुष्य इसी जीवन में अपने-आप को पुण्य और पाप कर्मों से मुक्त कर लेता है। अत: तू इसी योग में लग जा, क्योंकि इसी योग के द्वारा ही सभी कार्य कुशलता-पूर्वक पूर्ण होते है॥५०॥

Meaning:

One who is equipped with equanimity in this life discards both merit and sin. Therefore remain established in yoga; yoga results in perfect action.

Explanation:

In the last chapter, Arjuna raised several concerns to Shri Krishna while debating whether or not to fight the Kaurava army. One of the concerns was that he would incur sin if he killed his kinsmen. Having given the overview of the topic of Karmayoga, Shri Krishna wanted to now address Arjuna's concern around sin.

In this shloka, Shri Krishna told Arjuna that if one follows the path of Karmayoga, i.e. performs svadharma with equanimity, one doesn't have to constantly ponder whether an action will be get merit or sin. In fact, one goes beyond the accumulation of merit or sin. Why is that the case? If we begin to detach ourselves from the results or fruits of our actions, we will also not get attached to merit and sin. Both merit and sin, like results of an action, are future-oriented expectations, and have no place in Karmayoga.

Likewise, Arjun’s personal example also illustrates the point that giving up attachment to the fruits does not adversely affect performance. Before hearing the Bhagavad Gita, he intended to engage in war with the desire of winning a kingdom. After hearing the Bhagavad Gita from Shree Krishna, he was fighting because it was his duty to God, and Shree Krishna would be pleased by it. He was still a warrior; however, his internal motivation had changed. The fact that he did his duty without attachment did not make him any less competent than before. In fact, he fought with greater inspiration because his work was directly in service of God.

Since time immemorial each living entity has accumulated the various reactions of his good and bad work. As such, he is continuously ignorant of his real constitutional position. One's ignorance can be removed by the instruction of the Bhagavad-gita, which teaches one to surrender unto Lord Sri Krishna in all respects and become liberated from the chained victimization of action and reaction, birth after birth.

For instance, consider a grapevine that produces grapes. It fully carries out its svadharma, which is to produce tasty grapes. But it is upto the one who processes the grapes to make grape juice out of

those grapes, or to produce alcohol that probably ends up ruining an alcoholic's family. The grapevine does not incur merit or sin, it simply performs its svadharma.

There is another important point in this shloka. Earlier, we came across the definition of yoga as "yoga is equanimity of mind during the performance of action". Now, Shri Krishna instructed Arjuna on another benefit of yoga. If one maintains equanimity of mind at all times, one's actions become perfect since they will be performed with total attention and dexterity, without any distractions. Therefore, there is no need worry about the result. The result will, without question, be beneficial.

Sankaracarya gives a beautiful definition; if proper attitude is not there; karma can lead to more and more strain and tension. It can lead to more and more samsara, but karma yogi is one who uses the very same karma and uses it to attain liberation. A binding karma, a karma yogi converts into liberating karma. And this conversion is not by changing the action, but the conversion is purely brought out by changing the attitude.

It is like using cobra poison to make a medicine. Normally the cobra poison is the cause of death; but if it is appropriately used you can create medicine out of it and save a person. Similarly, karma is like cobra-poison, because if a person does not know how to handle the karma, it can create such an amount of tension and destroy him. Whereas a karma yogi uses the karma yoga to produce chitta śuddhiḥ and attain immortality. Therefore, skill is conversion of binding-karma into liberating-karma, by a change of attitude. Skill is conversion of binding-karma into a liberating-karma by the change in attitude

।। हिंदी समीक्षा ।।

समतायुक्त मनुष्य जीवित अवस्था में ही पुण्य पाप का त्याग कर देता है अर्थात् उस को पुण्यपाप नहीं लगते वह उन से रहित हो जाता है।समता एक ऐसी विद्या है जिस से मनुष्य संसार में रहता हुआ ही संसार से सर्वथा निर्लिप्त रह सकता है। जैसे कमल का पत्ता जल से ही उत्पन्न होता है और जल में ही रहता है पर वह जल से लिप्त नहीं होता ऐसे ही समतायुक्त पुरुष संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहता है। पुण्यपाप उस का स्पर्श नहीं करते अर्थात् वह पुण्यपाप से असङ्ग हो जाता है।

कर्मों में योग ही कुशलता है अर्थात् कर्मों की सिद्धि असिद्धि में और उन कर्मों के फल के प्राप्ति अप्राप्ति में सम रहना ही कर्मों में कुशलता है। उत्पत्ति विनाशशील कर्मों में योग के सिवाय दूसरी कोई महत्त्व की चीज नहीं है। कोबरा सर्प का विष प्राण घातक होता है किंतु उस के प्रयोग से दवाई भी बनाई जा सकती है। वैसे ही कर्म कर्ता और भोक्ता भाव से करने से जन्म - मरण का कारण होते है किंतु यही कर्म समत्व भाव करने से कर्म का वेग भी समाप्त होता है और मुक्ति का मार्ग भी बना देता है।

मन के समभाव का अर्थ अकर्मण्यता एवं शिथिलता उत्पन्न करने वाली मन की समता को ही कोई भी समझ सकता है। इस श्लोक में ऐसी त्रुटिपूर्ण धारणा को दूर करते हुये कहा गया है कि समस्त प्रकार के द्वन्द्वों में मन के सन्तुलन को न खोकर कुशलतापूर्वक कर्म करना ही कर्मयोग है। कुशल सर्जन ऑपरेशन के दौरान मरीज से कोई संबंध नहीं देखता और न ही उस का ध्यान ऑपरेशन से ख्याति का रहता है। उस का लक्ष्य कुशलता पूर्वक उस शल्य क्रिया को पूर्ण करने का मात्र रहता है। अतः मरीज के ठीक होने या मरने पर वह कोई श्रेय नही लेता। इसलिए वह कार्य भी कर पाता है। सर्जन स्वयं की पत्नी या बेटे का ऑपरेशन भावनात्मक संबंध के रहते नही कर पाते।

इस श्लोक के स्पष्टीकरण से श्रीकृष्ण का उद्देश्य ज्ञात होता है कि कर्मयोग की भावना से कर्म करने पर वासनाओं का क्षय होता है। वासनाओं के दबाव से ही मन में विक्षेप उठते हैं। किन्तु वासना क्षय के कारण मन स्थिर और शुद्ध होकर मनन निदिध्यासन और आत्मानुभूति के योग्य बन जाता है।

समबुद्धियोग में मनुष्य वर्तमान में जीवन जीने की चेष्ठा करता है। क्योंकि न्याय पूर्ण किया कार्य धर्म है और समय एवम स्थान के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन स्वधर्म। स्वधर्म के पालन करते समय स्वय को कर्ता भाव से दूर रखना एवम उस पर कोई अधिकार न होने पर भी उस का पालन करना ही सम बुद्धि है। कार्य कारण के सिंद्धांत से हर कार्य का परिणाम निश्चित है और यदि हम स्वयं को उस के कर्ता भाव से दूर रखते है तो उस की सफलता या असफलता पर दुख या हर्ष नही होगा। जिस के कारण नित्य जन्म मरण के चक्र से मुक्त होगा। इस को सम बुद्धि योग कहते है।

मान लीजिये आप एक महत्वपूर्ण कार्य से जा रहे है और रास्ते मे एक सांड आप को टक्कर मार देता है। आप को चोट लगने से हॉस्पिटल में भर्ती होने पड़ता है। उस समय यदि आप भाग्य को कोसना शुरू करते है, सांड के प्रति दुर्भावना रखते है एवम आगे के कार्य के लिए निरूत्साहित हो जाते है तो आप इस कार्य के कर्ता भी है। परंतु यदि आप शांत रह कर अपना इलाज करवाते है एवम बिना किसी को दोष देते हुए जिस कार्य के लिए निकले थे उस को पूरा करने का प्रयास करते है तो आप सम बुद्धि योग में कार्य करते हुए कर्ता भाव मे अपने स्वधर्म का पालन कर रहे है।

मन को अनर्गल विचारों से मुक्त करना एवम स्वधर्म के कर्तव्य का पालन करना ही कर्मयोग है। मन के अनर्गल विचार शांत चित्त होने से ही धीरे धीरे कम होते है, यदि उन पर प्रतिक्रिया हो तो वो और ज्यादा बढ़ते है।

विवेकानंद जी के कर्मयोग में जब आप एक चित बैठ कर अपने विचारों को पढ़ते है तो धीरे धीरे अनर्गल विचार आना बंद हो कर एकाग्रता आने लगती है, जिस के फलस्वरूप आप स्वयं में भविष्य की होने वाली घटनाओं का आभास भी महसूस करने लगते है। यदि इस दशा में कर्मफल हेतु आप कर्ता बनते है तो आप का विकास नित्य को प्राप्त करने से चूक जाएगा। सम बुद्धि योग एकाग्र मन से बिना कर्ता भाव से स्वधर्म का पालन है जिस के कारण कर्ता भाव नही आता और हम अपने कर्म के पाप या पुण्य से मुक्त रहते है।

समबुद्धि का होना एक्रागता को प्राप्त होना है, जिस के बिना आप व्यवसाय, पढ़ाई, वैज्ञानिक अनुसंधान, वाहन संचालन आदि कुछ भी सही सही नही कर सकते। चंचल मन से किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नही होती।

अर्जुन ने स्वजनों को मारने के कार्य को पाप युक्त कहते हुए भी युद्ध नही करने का निर्णय लिया था जिस का उत्तर श्री कृष्ण ने सम बुद्धि योग द्वारा दिया है। यही कारण है कि समत्व बुद्धि योग के कारण गीता सुनने के बाद अर्जुन अधिक कुशलता से युद्ध को लड़ सके।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 50 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.51॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

"karma-jaṁ buddhi-yuktā hi,
phalaṁ tyaktvā manīṣiṇaḥ..I
janma-bandha-vinirmuktāḥ,
padaṁ gacchanty anāmayam"..II

भावार्थ :

समतायुक्त मनीषी साधक कर्मजन्य फलका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं।

Meaning:

Thus, the wise individual who performs actions with equanimity is liberated from the entanglements of birth, and attains the immaculate state.

Explanation:

With this shloka, Shri Krishna concludes the introduction to Karmayoga in this chapter. Here, he tells us that one who continually practices Karmayoga frees himself from the entanglements of birth. Let's look at this in more detail.

The paradox of life is that we strive for happiness, but reap misery; we crave love, but we meet with disappointment; we covet life, but know we are moving toward death at every moment. if people could realize that nobody has ever achieved happiness by engaging in fruitive works, they would then understand that the direction in which they are running is futile, and they would think of doing a U-turn toward spiritual life.

Our experience tells us that desires are never ending. Most material desires, once fulfilled, give rise to new ones. For instance, most immigrants to a country such as the US usually arrive with modest means. They rent a flat till they know where they plan to settle long term. And then the desires begin to manifest.

In a few years they take out a loan to buy a house. A house usually has a lawn. So you need a lawnmover, a leafblower, fertilizer, sprinkler system and so on to take care of the lawn. In addition, you need a car to get around. In time, one car is not enough - you need two. And since the neighbour has a Mercedes, you need to get one as well. Similarly with a TV - you start with 32 inch, then 60 inch, then 3D capability, home theatre system etc. Each desire, once fulfilled, gives birth to a new one.

So the shloka here says that this endless cycle of desire after desire entangles us in the material world. And therefore, one uses the discipline of Karmayoga to break out of it so that you reach that state where there are no desires or blemishes in one's personality - what is termed here as the immaculate state.

Those whose intellects have become steadfast with spiritual knowledge understand that God is the Supreme Enjoyer of everything. Consequently, they renounce attachment to the fruits of their actions, offer everything to him, and serenely accept everything that comes as his prasad (mercy). In doing so, their actions become free from karmic reactions that bind one to the cycle of life and death.

Let's summarize the key points of Karmayoga that we have seen in this chapter. Karmayoga is the performance of actions with equanimity of mind. We also looked at a 3-step toolkit to implement Karmayoga in our lives:

1. Reduce unnecessary thoughts of material objects that do not pertain to our svadharma

2. Improve quality of necessary thoughts by removing extreme attachment and hatred

3. Perform actions focusing on the present moment, without attachment to the result of action

।। हिंदी समीक्षा ।।

जो मनुष्य अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मों में राग नहीं करता वह मेधावी (बुद्धिमान्) है। कर्म तो फल के रूप में परिणत होता ही है। उस के फल का त्याग कोई कर ही नहीं सकता। जैसे कोई खेती में निष्कामभाव से बीज बोये तो क्या खेती में अनाज नहीं होगा बोया है तो पैदा अवश्य होगा। ऐसे ही कोई निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है तो उस को कर्म का फल तो मिलेगा ही। अतः यहाँ कर्मजन्य फल का त्याग करने का अर्थ है कर्मजन्य फल की इच्छा, कामना, ममता और वासना का त्याग करना। इस का त्याग करने में सभी समर्थ हैं। समतायुक्त मनीषी साधक जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। कारण कि समता में स्थित हो जाने से उन में रागद्वेष कामना वासना ममता आदि दोष किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहते अतः उन के पुनर्जन्म का कारण ही नहीं रहता। वे जन्ममरण रूप बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।

किसी वस्तु या कर्मफल की आशा रखना, उस आशा के कर्म करना है ठीक वैसा ही, अशांत चित्त से वैज्ञानिक अनुसंधान करना या पढ़ाई करना । लक्ष्य के अनुसार कार्य करना और यदि शांत एवम एकाग्र चित्त से कर्म करे तो फल अच्छा होगा ही। फल की आशा एवम फल की आसक्ति में भी अंतर है। आशा यानि धेय तय करते हुए कर्म करना किन्तु आसक्ति न रखना। भगवान श्री कृष्ण कहते है समबुद्धि योग से मनुष्य शनैः शनैः मोह, ममता एवम कामना से मुक्त होता हुआ अहंकार को छोड़ता है और मोक्ष को प्राप्त करता है। समबुद्धि योग ही तत्वदर्शी, फिर ब्रह्मविद और ब्रह्मसन्ध होनी की प्रथम सीढ़ी है।

गीता में कर्मयोग एवम सम बुद्धि योग कृष्ण द्वारा अर्जुन को कहा है। कृष्ण यानी पूर्ण ब्रह्म और अर्जुन यानि जीव। जीव पूर्ण ब्रह्म हो कर भी मन, बुद्धि, शरीर एवम इन्द्रियों से जुड़ा पृथिवी पर एक प्राणी है। जीव को नियंत्रित प्रकृति करती है जिस का नियम जन्म, वृद्धि, क्षय एवम मृत्य और जन्म मरण का क्रम है। यह कार्य कारण के सिद्धांत पर कार्य करती है । जिस के कारण जीव जो भी कार्य करेगा उस के कारण स्वरूप उसे फल मिलेगा। अतः जीव अज्ञानवश उस फल पर अपना अधिकार कर्ता भाव का रखता है।

जब कोई पढ़ाई करेगा तो एग्जाम में पास भी होगा। फिर कमाने भी लगेगा। घर, सुख सुविधा भी बटोर लेगा , और इस के आगे भी और और ही लगा रहेगा किन्तु जीवन अपने नियम से क्षय की प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त करेगा। यह और और कि लालसा उसे पुनः जन्म देगी फिर इस लालसा के किये यह जीव कार्य करने लग जायेगा। कर्मयोग ही एक मात्र रास्ता है जिस के कारण यदि मृत्यु पूर्व जीव कोई लालसा ले कर नही मरता तो पुनः जन्म नही होगा और वो अपने पूर्ण ब्रह्म स्वरूप को पहचान लेगा।

कोई भी कार्य बिना फल के संभव नही। फल को चखने पर स्वाद कड़वा या मीठा न मिले यह भी संभव नही। एक बार स्वाद लगने के बाद पुनः मीठे फल को प्राप्त करने के लिए प्रेरित भी न हो यह लालसा मिटे यह भी संभव नही। क्योंकि यह सब ही तो माया है जो जीव को प्रकृति के साथ जीव को बांध कर रखता है। अतः इस से मुक्ति सम बुद्धि योग द्वारा कर्म करने से ही प्राप्त होगी। जो व्यक्ति सम बुद्धि योग से कर्म करेगा वो फल को भोगेगा किन्तु कर्ता भाव को छोड़ कर, जिस के कारण न मिटने वाली लालसा से दूर रहेगा और पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त होगा। कर्म एवम उस के फल से मुक्ति नही हो सकती किन्तु कर्म के फल पर अधिकार से मुक्त हो सकते है। राजा जनक की भांति पूर्ण राज्य का संचालन विदेह के रूप में करते हुऐ सभी कर्मो को समय एवम स्थान के अनुसार पालन किया जा सकता है।

गीता में इस को और भी विस्तृत रूप में आगे हम पढ़ेगे किन्तु यदि मानसिकता में इस को ध्यान में रखे तो शायद हमारे जीवन मे इस उपदेश का प्रवेश हो जाये।

समत्व भाव को बुद्धि योग भी कहा गया है क्योंकि कर्म करने की प्रेरणा में भावनात्मक एवम कर्ता भाव को दूर करते हुए कर्म करने के बुद्धि अर्थात विवेक से कार्य किया जाता है। इसलिए जब कार्य किसी कर्ता या भोक्ता भाव से मुक्त होगा तो उस के फल पर कोई आशा नहीं होगी और फल को जीव प्रसाद समझ कर स्वीकार करेगा। इस से वह फल के बंधन से मुक्त भी होगा और जन्म मरण के चक्र से मुक्त होने की दिशा में प्रवेश करेगा।

पुनः इस बात को दोहराना है कि ज्ञान होना एवम ज्ञान का आत्मसात होना, दोनों में अंतर है। सन्यास ले कर आश्रम चलाना एवम वहाँ भी पूर्ण सुख सुविधा के साथ रहना, सन्यास धर्म नहीं, सांसारिक ही गृहस्थ कर्म है।

किन्तु राजा जनक के समान पूर्ण राज्य को चलाना पूर्ण सन्यास है। आप व्यापार, व्यवसाय या नॉकरी कुछ भी करे, सम बुद्धि योग भाव से कर्म करते हुए भी आनंद के साथ कर सकते है और मुक्त हो सकते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.51 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.52॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

"yadā te moha-kalilaṁ,
buddhir vyatitariṣyati..I
tadā gantāsi nirvedaṁ,
śrotavyasya śrutasya ca"..II

भावार्थ :

जिस समय में तेरी बुद्धि मोह रूपी दलदल को भली-भाँति पार कर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने योग्य सभी भोगों से विरक्ति को प्राप्त हो जाएगा॥५२॥

Meaning:

When your intellect has completely crossed over the quagmire of delusion, then you will become indifferent to what has been heard and what is to be heard.

Explanation:

As we saw in the last shloka, Shri Krishna concluded the introduction to Karmayoga. Now in this shloka and the next, he offers us pointers to assess whether we are progressing on the spiritual path or not. He mentions that one who is always established in equanimity becomes indifferent to hearing about any topic. But that is just the literal meaning. Here it also refers to seeing, touching, feeling and smelling, i.e. any object perceived through our senses.

This is called buddhi's confusion. Not knowing what is moksa. We think moksa means going to forest only or putting on kasayam only growing a long beard only. Intellect will be able to know the priorities of life, because before that, mokṣa is only a vague concept. They think moksa is only as a goal of a few sanyasis, who have failed in other fields of life. Jobless people, unsuccessful people in the exam, no one married them; some failures, especially if they are young. If old, the children rejected, therefore sanyasa. Generally people think Mokṣa is a goal of a few sanyasis who have nothing else to do in life. It is not like that. moksa is inner maturity. To understand this you will take some time. Therefore, Krishna says that Buddhi will get over the confusions regarding the priorities of life; confusions regarding the value of moksa.

And the confusion is between what and what? Whether artha-kama is the ultimate goal or dharma-mokṣa is the ultimate goal. And if both of them are important, which should be given, more importance. Regarding these things viveka is called mohaḥ, and this mental confusion alone is called kalilam; Kalilam means the dirt, the impurities. Intellectual impurity regarding course of life; regarding the priorities of life; and this confusion the intellect crosses over the more a person

becomes a karma yogi; the more a person leads a religious life. Let's look at this in more detail. Also note that it we have gone through similar situations already in our lives, so this should not be something unknown to us.

The intellect will cross over its confusion. Intellect will get clarity of thinking. one whose intellect is illumined with spiritual knowledge no longer seeks material sense pleasures, knowing them to be harbingers of misery.

Growing up as a teenager in the 1990s, WWF wrestling was considered a phenomenon. We would watch it diligently when it came on TV, read about it in magazines, and discuss it among friends non stop. But as we grew up we realized that it was staged entertainment, and not a real sport. And in time, like many other things, we outgrew the fascination for it. So now as adults when we see WWF on TV, we just change the channel and don't even think twice about it. We have become indifferent to WWF.

Now a wonderful poetic phrase - quagmire of delusion - is used here. What exactly is moha or delusion? In case of the WWF, we were under the delusion that WWF would give us happiness. But more broadly, moha refers to the error of pursuing of the material world as a source of happiness, as opposed to realizing the eternal essence. Therefore, as one practices equanimity and moves ahead on the spiritual path, the material world slowly loses appeal.

So as you begin to practice equanimity through performance of svadharma, try to keep track of your attachment to material objects. You will begin to observe that slowly, your attraction to the material world will start to weaken. This state of ultimate indifference to the material world is the state of "param vairagya" or ultimate indifference.

This shloka is the seed of chapter fifteen of the Gita, where this topic of ultimate indifference or dispassion is covered in great detail.

।। हिंदी समीक्षा ।।

युद्ध में अर्जुन राग के कारण मोह बुद्धि में थे, इसलिए जब बुद्धि राग या द्वेष में होती है तो मोक्ष के समत्व बुद्धि को भी उसी स्वरूप में समझ पाता है। इसलिए भगवान ने मोह निवृत्ति होने पर वैराग्य प्राप्ति का आश्वासन यहाँ अर्जुन को दिया गया है। श्रोतव्य शब्द से तात्पर्य उन सभी विषयोपभोगों से है जिनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया गया है तथा श्रुत शब्द से सभी ज्ञान अनुभव सूचित किये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि बुद्धि के शुद्ध होने पर विषयोपभोग में कोई राग नहीं रह जाता।

स्वरूप से दिव्य होते हुये भी चैतन्य आत्मा मोहावरण में फँसी हुई प्रतीत होती है। इस मोह का कारण है एक अनिर्वचनीय शक्ति माया। अव्यक्त विद्युत के समान माया भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होती परन्तु विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्ति से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है।

सभी जीवों की संरचना में माया के कार्य के निरीक्षण एवं अध्ययन से वेदान्त के आचार्यों ने यह पाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व के दो स्तरों पर माया की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। बुद्धि पर आत्मस्वरूप के अज्ञान के रूप में पड़े इस आवरण को वेदान्त में माया की आवरण शक्ति कहा गया है। बुद्धि पर पड़े इस अज्ञान आवरण के कारण मन अनात्म जगत् की कल्पना करता है और उस जगत् के विषय में उसकी दो धारणायें दृढ़ होती हैं कि (क) यह सत्य है और (ख) यह अनात्मा (देह आदि) ही में हूँ। मन के स्तर पर कार्य करने वाली माया की यह शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है।

इस श्लोक में कहा गया है कि कर्मयोग की भावना से कर्म करते रहने पर बुद्धि की शुद्धि होती है और तब उसके लिये सम्भव होता है कि आवरण को हटाकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सके। इस प्रकार मोह निवृति का परिणाम है

विषयोपभोग से वैराग्य परन्तु आत्मअज्ञान के होने पर मनुष्य विषयों से ही सुख पाने की आशा में दिनरात परिश्रम करता रहता है।

यहाँ सम्पूर्ण जगत् का निर्देश श्रुत और श्रोतव्य इन दो शब्दों से किया गया है। इसमें सभी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होने वाले विषय समाविष्ट हैं। कर्मयोगी की बुद्धि न तो पूर्वानुभूत विषय सुखों का स्मरण करती है और न ही भविष्य में प्राप्त होनेवाले अनुभवों की आशा।

जब हम कोई पिक्चर देख रहे होते है जिस में इमोशन, ड्रामा, फाइटिंग एवम ऐश्वर्य के सभी सीन हो तो हम क्या सोचते है कि क्या बढ़िया पिक्चर है किंतु उस को वास्तविक नही मानते किन्तु छोटा बालक उस मे भेद नही कर पाता। यह जीवन भी एक पिक्चर है और जब तक हमारा स्वयं से परिचय नही हो पाता हम भेद नही कर पाते। कभी कभी गहरी नींद में देखा सपना भी सच प्रतीत होता है किंतु सत्य नहीं अतः यह जीवन भी उसी नींद का भाग है जब तक हम स्वयं से परिचित नही होते।

मोह उस माया का ही हिस्सा है जो हमे नींद में रखता है, किन्तु जाग्रत व्यक्ति मोह भी कर्तव्य पालन के सामान करता है।

गीता के कर्मयोग के इस भाग का विस्तृत अध्ययन आगे होगा किन्तु नींव यदि सही रखी गई तो ही इमारत बनेगी। अतः यदि मन मे प्रश्न है या जिज्ञासा तो अवश्य आगे हम हल प्राप्त कर है, नित्य को प्राप्त करेंगे किन्तु यदि नकारात्मक भाव है कि यह आज के युग मे संभव नही तो आप जिस भी मार्ग पर चल रहे है उस पर भी चलते हुए नित्य तक पहुचेंगे। गीता नित्य तक पहुचने का सब से शॉर्टकट रास्ता है, बाकी रास्ते भी वही जायेगे क्योंकि मंजिल सब की एक है।

व्यवहारिक जीवन मे हम उसे ही समझा सकते है, जो समझने को तैयार हो। जो समझने को तैयार है उसे पूर्वाग्रह छोड़ने पड़ते है, जिस से उस को सही वास्तु स्थिति का पता चले। छोटा बालक लकड़ी के घोड़े पर भी हिलता हुआ, घुड़सवारी का आनंद लेता है, लेकिन जैसे ही उसे लकड़ी के घोड़े और असली घोड़े का फर्क पता चल जाता है, तो वह समझ जाता है कि वास्तविक घुड़सवारी क्या होती होगी। मोह-माया के पाश में बंधे व्यक्ति को आनंद प्रकृति की क्रियाओ में ही दिखता है, इसलिये वह पूजा, पाठ, नित्य ध्यान आदि सांसारिक आनंद की प्राप्ति के लिये करता है, किन्तु जिस का यह भ्रम टूट जाता है, वह पारलौकिक आनन्द की तलाश में निकल जाता है, तब उसे उस ज्ञान की बाते समझ मे आने लगती है।

अर्जुन मोह में है, इसलिये शायद उसे भगवान श्री कृष्ण द्वारा निष्काम कर्मयोग को समझने में कठनाई आ रही है, इसलिये भगवान श्री कृष्ण उसे सचेत करते हुए कहते है कि यह बातें उसे मोह का बंधन समाप्त होने पर ही समझ मे आ सकती है।

शंकराचार्य जी इस विषय में आगे कहते है जिन पुरुषों का चित्त माया से मोहित हो रहा है , ऐसे प्राणी अपने में अन्य-विषयक कर्तापन , भोक्तापन आदि का आरोपण कर लेते हैं । विमूढबुद्धि अर्थात् भ्रान्तबुद्धि वाला मनुष्य ; अपने आत्मतत्त्व को न विचारकर , अपने ज्ञानस्वरूप, क्रियारहित आति में ही समस्त अनात्मा (संसार) के कार्य को आरोपण कर लेता है । यह ऐसा ही है कि जैसे मेघ के चलने को , चन्द्रमा के ऊपर , मूढ पुरुष आरोपण करता है ।।

अविद्या से उत्पन्न मन ; जिस समय रजोगुण और तमोगुण से मलिन , सत्त्वगुण से शून्य और तमोगुण के दोष से युक्त होने के कारण ; तमोगुण के कार्य -- जडता , मोह , आलस्य और प्रमाद से दबा हुआ होता है ; उस समय तात्त्विक पदार्थ को पाकर भी उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता है ।

अति प्रबल पवन चलने पर जैसे दीपक की लौ चंचल हो जाती है और उसका प्रकाश पदार्थों को दिखा नहीं पाता ; वैसे ही मन रजोगुण के दोषों से युक्त होकर ; प्रतिकूलता करनेवाले काम-क्रोध आदि विक्षेप में डालनेवाले गुणों से जीव को दबा लेता है , जिससे जीव व्यथित हो जाता है । उस समय जी , सूक्ष्मतत्त्व आत्मा आदि को समझने की शक्ति रखनेवाला होकर भी , विषयों में लिप्त होने से अधिकतर भ्रम में पड़ा रहता है ।

भ्रान्ति से जहाँ जिसका जैसा अध्यास होता है , उस अध्यास के किये गुण से या दोष से , वह अणुमात्र भी कहीं भी सम्बन्धित नहीं होता है। क्या मृगमरीचिका के जल से पवन आद्र हो जाता है ? दृष्टि के पीलेपन के रोग से क्या शंख पीला हो जाता है ? अज्ञानी की कल्पित नीलिमा से क्या आकाश मलिन हो जाता है ? शिष्य इतना कहते हुए , गुरूदेव से फिर प्रश्न करता है कि अविषयी व्यापक आत्मा में अनात्म पदार्थों का अध्यास कैसे हो जाता है ?

आगे भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य अगले श्लोक की संगति बताते हैं कि यदि तुम्हारा प्रश्न हो कि मोहावरण भेदकर और विवेकजनित आत्मज्ञान को प्राप्त कर कर्मयोग के फल परमार्थयोग को तुम कब पाओगे ।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.52 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.53॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

"śruti-vipratipannā te,
yadā sthāsyati niścalā..I
samādhāv acalā buddhis,
tadā yogam avāpsyasi"..II

भावार्थ :

वेदिक ज्ञान के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब एकनिष्ठ और स्थिर हो जाएगी, तब तू आत्म-साक्षात्कार करके उस दिव्य चेतना रुप परमात्मा को प्राप्त हो जाएगा॥५३॥

Meaning:

When your intellect, confused by what is heard, remains steady and stays grounded in equanimity, then you shall attain yoga.

Explanation:

The last shloka described an advanced stage of yoga, in other words, a state of equanimity, where we begin to slowly lose interest in material objects. In this shloka, Shri Krishna indicates the final stage of yoga where the intellect never loses its grounding.

In the initial stages of our spiritual journey, we will begin to experience moments of equanimity. These moments will be short and fleeting, but that is ok. As we continue to practice equanimity, these moments will grow longer and become more frequent. But there is always some thing - a thought from the past, a critical statement uttered by a friend, an object that we crave - that takes us out of equanimity and back into the world of moha.

As sadhaks advance on the spiritual path, within their minds their relationship with God becomes stronger. At that time, they find the Vedic rituals they were previously performing to be cumbersome and time consuming. Shree Krishna says that to be fixed in sadhana without being allured to the fruitive sections of the Vedas is not an offence; rather, it is a higher spiritual state.

Shree Krishna uses the word samadha - achala in this verse, to refer to the state of steadfastness in divine consciousness. The word Samadhi has been formed from the roots sam (equilibrium) and dhi (intellect), meaning, “a state of total equilibrium of the intellect.” One who is steadfast in the higher consciousness, unmoved by material allurements attains that state of Samadhi, or perfect Yog.

So what should we aim for? We should aim for something better. Here's an example. When the internet was new, most of us connected to it using a dial-up modem. Each time we needed to access the internet, we had to establish a connection, and then disconnect it once done. As technology improved, we began to connect through it via cable or DSL connections. These connections are "always on", so there was no need to connect and disconnect everytime. Now no one wants to ever go back to using dial up modems.

There is two types of obstacles in journey of equanimity. First one is called saṃśayaḥ i.e. habituated notion; second one is called viparyaḥ i.e. I need the same to be happy notion. These two are powerful obstacles to knowledge, therefore, even after gaining knowledge, one should eliminate these two.

So therefore, this shloka gives us a picture of the most advanced state of yoga where one is always in a state of equanimity, no matter what the circumstance. And when this happens, we will be always connected to the imperceptible, incomprehensible eternal essence. This is the only way to attain the eternal essence. When that happens, this state is called "samaadhi", which will the the culmination of one's spiritual journey.

Lord Krishna has summarised the entire vedic teaching; which teaching talks about the spiritual life of a seeker as designed by the vedas and we can say this portion is the essence of vedic teaching;
and all the later chapters, that is from the third chapter up to 18th chapter is only a build up; magnification of this particular teaching alone, consisting of karma yoga sadhana and jnana yoga sadhana and therefore this portion is like a foundation upon which 16 storied building is going to be raised from the third chapter to 18th chapter.

The topic discussed in this portion is two-fold; karma yoga and jnana yoga. Karma yoga is a religious way of life; in which we give importance to spiritual progress in life; and material progress is considered subservient to; secondary to; spiritual progress. Such a life is called religious life or karma yoga. More details we will see in the 3rd chapter. Once a person goes through such a religious life of karma yoga, the mind will become sufficiently mature to go into jnana yoga which is nothing but study of my own true nature.

Vedanta is not a matter of belief, but it is a matter of understanding; wisdom; and once the question of understanding comes; doubt should not be there; in the mind of the student; therefore Vedantic acarya allows the student to raise any question. And Arjuna is going to come up with a question, which we will see in the next class.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पहले तो साधक में इस बात को लेकर सन्देह होता है कि सांसारिक व्यवहार को ठीक किया जाय या परमात्मा की प्राप्ति की जाय फिर उसका ऐसा निर्णय होता है कि मुझे तो केवल संसार की सेवा करनी है और संसार से लेना कुछ नहीं है। ऐसा निर्णय होते ही साधक की भोगों से उपरति होने लगती है वैराग्य होने लगता है। ऐसा होने के बाद जब साधक परमात्मा की तरफ चलता है तब उस के सामने साध्य और साधनविषयक तरह तरह के शास्त्रीय मतभेद आते हैं। इस से मेरे को किस साध्य को स्वीकार करना चाहिये और किस साधन पद्धति से चलना चाहिये इस का निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। परन्तु जब साधक सत्सङ्ग के द्वारा अपनी रुचि श्रद्धाविश्वास और योग्यता का निर्णय कर लेता है अथवा निर्णय न हो सकने की दशा में भगवान् के शरण होकर उन को पुकारता है तब भगवत्कृपा से उस की बुद्धि निश्चल हो जाती है। दूसरी बात सम्पूर्ण शास्त्र सम्प्रदाय आदि में जीव संसार और परमात्मा इन तीनों का ही अलगअलग रूपों से वर्णन किया गया है। इस में

विचार पूर्वक देखा जाय तो जीव का स्वरूप चाहे जैसा हो पर जीव मैं हूँ इस में सब एकमत हैं और संसार का स्वरूप चाहे जैसा हो पर संसार को छोड़ना है इस में सब एकमत हैं और परमात्मा का स्वरूप चाहे जैसा हो पर उस को प्राप्त करना है इस में सब एकमत हैं। ऐसा निर्णय कर लेने पर साधक की बुद्धि निश्चल हो जाती है। मेरे को केवल परमात्मा को ही प्राप्त करना है ऐसा दृढ़ निश्चय होने से बुद्धि अचल हो जाती है। तब साधक सुगमतापूर्वक योग परमात्मा के साथ नित्ययोग के प्राप्त हो जाता है।

शास्त्रीय निर्णय करने में अथवा अपने कल्याण के निश्चय में जितनी कमी रहती है उतनी ही देरी लगती है। परन्तु इन दोनों में जब बुद्धि निश्चल और अचल हो जाती है तब परमात्मा के साथ नित्ययोग का अनुभव हो जाता है।

जब पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करने पर भी जिस की बुद्धि अविचलित रहती है तब उसे योग में स्थित समझा जाता है। सामान्यत इन्द्रियों के विषय ग्रहण के कारण मन में अनेक विक्षेप उठते हैं। योगस्थ पुरुष का मन इन सब में निश्चल रहता है। उसके विषय में आगे स्थितप्रज्ञ के लक्षण और अधिक विस्तार से बताते हैं।

एक श्रुति कुछ कहती है दूसरी कुछ और, इसी प्रकार स्मृतियों तथा मुनियों के वचनों में भी परस्पर भेद देखने को मिलता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से श्रुति, स्मृति एवम मुनियों के वचनों में भेद देखने को मिलता है किंतु जब मन एवम बुद्धि में स्थिरता आने लगती है तो यही भेद मिटने लगता है और समझ मे आने लगता है कि सभी का तात्पर्य केवल यही है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म का ही स्वरूप है और कोई भी नही। किन्तु इस ब्रह्म वाक्य में भी विचारों का मतभेद कायम रहता है तो मन की अस्थिरता ही है। इसलिये विचलित मन से सत्य की खोज नही हो सकती। सत्य की खोज से एकस्थिरता अर्थात समाधिस्त्व भाव की आवश्यकता होती है, जैसे अनुसन्धान के समय या पढ़ाई के समय या किसी कार्य को करते समय यदि मन विचलित है तो कार्य तो कर लेते है किंतु उस के परिणाम तक नही पहुच सकते।

जीव ज्ञानवान और प्रकाशवान है। अज्ञान से उस ने अपना संबंध प्रकृति से जोड़ लिया। कर्मयोग से जीव शनैः शनैः अज्ञान को मिटाता है तो ज्ञान के प्रकाश से वह प्रकाशवान होने लगता है।

वेद और वैदिक शास्त्र हमे सत के मार्ग पर ले जाने वाले होते है, इसलिए वैदिक कर्मकांड से हमारी बुद्धि शुद्ध और निश्चित होने लगती है। किंतु हमे यह भी लगता है कि नित्य मंदिर दर्शन, यज्ञ, आरती, भजन से यह हो रहा है तो हम अन्य बंधन जिसे आदत कहते है स्वीकार कर लेते है। ऐसे ही कुछ कमजोरियां जैसे स्थान, समय या वातावरण में ही हम स्थिर रह सकते है, अन्य में नही। तो भगवान कहते है जब चित्त शुद्धि की स्थिति को प्राप्त कर के समत्व भाव को तुम प्राप्त कर लेते हो तो किसी भी आदत और धारणा से तुम मुक्त हो, तुम्हे वैदिक रीति का पालन करना भी अनिवार्य नहीं है।

कर्मयोग एवम सम बुद्धि योग का यह अंतिम श्लोक है जिस में अर्जुन के उस मोह, भय एवम किंकर्तव्यविमुढ़ स्तिथि को उस मोड़ पर ला दिया जिस में वो पूर्ण निराशा एवम शास्त्र ज्ञान के साथ युद्ध न करने का निर्णय ले कर बैठा था, उस मे परिवर्तन होने लगा। समत्व बुद्धि से आगे के तीसरे अध्याय से 18वे अध्याय को हम समझ पाएंगे। अतः अध्याय का अभी तक का अध्ययन हमारी पूर्व धारणाओं को नष्ट करता हुआ हमे समत्व की ओर प्रेरित करता है।

युद्ध भूमि में अर्जुन राग - द्वेष से ग्रसित और शास्त्र के सांसारिक ज्ञान से परिपूर्ण था। उस में समत्व का अभाव होने से युद्ध भूमि में वह मोह से ग्रसित हो गया। इस लिए भगवान उसे विचार करने को ज्ञान का प्रारंभिक पाठ पढ़ाते है। किसी भी वक्ता के लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रथम कुछ लीक से हट कर अपने विचार रखे जो श्रोता की पूर्व धारणा को बदल दे, जिस से वह भी जिज्ञासु हो कर आगे पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाए।

आप भी अर्जुन की जगह अपने को महसूस करे तो आप पाएंगे कि अर्जुन अब वो सब प्रश्न पूछना शुरू करेंगे जिस की जिज्ञासा सभी को रहती है। इस संसार मे जहां सांसारिक व्यवहार है उस मे इस प्रकार से रहना चाहिए कि सांसारिक व्यवहार के साथ मुक्ति भी मिले। जीवन मे जैसे ही वो क्षण आता है जब हम जीवन को आमोद प्रोमोद से बढ़ कर यह जान लेते है कि यह जीवन का नियंत्रण हम नही, कोई और कर रहा है और हमारा अहम टूटने लगता है तो हम उस नित्य को स्वीकार करने लगते है।

अर्जुन भी अब तक के ज्ञान से प्रभावित हो कर अब अपने सभी मिथ्या भ्रम मिटाने के तैयार हो गए है। अतः प्रश्न पूछने के लिए अवसर पाकर समत्व में स्थित बुद्धि वाले पुरुष के लक्षणों को जानने की उत्सुकता से अर्जुन प्रश्न करता है ।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.53।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.54॥

अर्जुन उवाच,
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

"arjuna uvāca,
sthita-prajñasya kā bhāṣā,
samādhi-sthasya keśava..I
sthita-dhīḥ kiṁ prabhāṣeta,
kim āsīta vrajeta kim"..II

भावार्थ :

अर्जुन ने कहा - हे केशव! अध्यात्म में लीन स्थिर-बुद्धि वाले मनुष्य का क्या लक्षण है? वह स्थिर-बुद्धि मनुष्य कैसे बोलता है, किस तरह बैठता है और किस प्रकार चलता है॥५४॥

Meaning:

Arjuna said:

What is the description of a person of steady wisdom, one who is established in continuous meditation, O Arjuna? How does that person of steady intellect speak? How does he sit? How does he walk?

Explanation:

In this shloka, we get to hear Arjuna speak after a long time. When we saw him last, he was in the midst of a panic attack. The extremely thoughtful question posed by him tells us that his mind has now calmed down, and that he has been following the teaching diligently. He now asks Shri Krishna to elaborate on the practical aspect of the teaching, since more time was spent on the theoretical part.

Arjuna was a warrior, and a very practical person. So he was less interested in abstract theoretical concepts. He wanted to know about the internal and external characteristics of a person who was steeped in equanimity. For a warrior, one of the best ways to learn to use a new weapon is to mimic someone who is skilled at using it. Therefore, Arjuna wanted to know how he could emulate that person who is always established in equanimity, here called a "sthita-prajna" or a person of steady wisdom.

The designations sthita prajña (one with steady intellect) and samādhi-stha (situated in trance) apply to enlightened persons. Having heard from Shree Krishna about the state of perfect yog, or Samādhi, Arjun asks a natural question. He wishes to know the nature of the mind of a person who is in this state. Additionally he wishes to know how this divine state of mind manifests in a person's behavior.

In short, he wants to know how does a jnani conduct himself in the world? What is his state of mind, how does he transact with people, and worldly people will continue to be the same, how will he react to different types of people, and different types of behaviour. So in Sanskrit we call it sthitaprajna lakṣaṇani. All in one word. sthitaprajna lakṣaṇani. Lakṣaṇām means the characteristics of a sthitaprajña.

These questions are not meant to be taken literally. Speaking refers to the manner in which an individual reacts to situations, and walking refers to the manner in which an individual controls his mind as he transacts in this world. Sitting refers to one's ability to control their organs of sense and action. That's what Arjuna wanted to know.

Let us take stock of where we are. We had seen that Shri Krishna was covering 4 main topics: 1) Informing Arjuna that his logic and reasoning was incorrect 2) Explaining the correct logic and reasoning to Arjuna 3) Providing practical guidance to implement this correct logic and reasoning 4) Describing the attributes of the individual who follows this teaching.

In the next shloka, Shri Krishna moves from the third topic to the final topic, which is the description of the person with steady wisdom.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस के पूर्व के दो श्लोकों में कर्मयोग पर विचार करते हुये सहज रूप से कर्म योगी के परम लक्ष्य की ओर भगवान् ने संकेत किया है। अर्जुन मोह से ग्रस्त था इसलिये वह अपने कर्तव्य धर्म के पालन में पीछे हट रहा है, अतः भगवान श्री कृष्ण द्वारा यह मार्ग बताया गया कि चित्त को निश्चल समाधि अवस्था मे रख, ऐसा करने से साम्य बुद्धिरूप कर्मयोग की प्राप्ति होगी और फिर कर्म निष्काम भाव से करने से कर्म के पाप एवम बंधन का दोष भी नही लगेगा। यह सिद्धान्त बुद्धि ग्राह्य एवं युक्तियुक्त था। भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से सुनने पर उस के प्रामाण्य के विषय में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। अर्जुन का स्वभाव ही ऐसा था कि उसे कर्मयोग ही ग्राह्य हो सकता था।

प्रथम अध्याय का शोकाकुल अर्जुन अपने शोक को भूलकर संवाद में रुचि लेने लगा। कर्मशील स्वभाव के कारण उसे शंका थी कि बुद्धियोग के द्वारा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर इस जगत् में कर्ममय जीवन संभव होगा अथवा नहीं।

समाधि आदि शब्दों के प्रचलित अर्थ से तो कोई यही समझेगा कि योगी पुरुष आत्मानुभूति में अपने ही एकान्त में रमा रहता है। प्रचलित वर्णनों के अनुसार नये जिज्ञासु साधक की कल्पना होती है कि ज्ञानी पुरुष इस व्यावहारिक जगत् के योग्य नहीं रह जाता। ऐसी धारणाओं वाले घृणा और कूटिनीति के युग में पला अर्जुन इस ज्ञान को स्वीकार करने के पूर्व ज्ञानी पुरुष के लक्षणों को जानना चाहता था।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को पूर्णत समझने की उसकी अत्यन्त उत्सुकता स्पष्ट झलकती है जब वह कुछ अनावश्यक सा यह चार प्रश्न पूछता है कि 1) समाधिस्थ पुरुष के क्या लक्षण है, 2)वह पुरुष कैसे बोलता है 2)कैसे बैठता है और 4) वह कैसे चलता है आदि। उन्माद की अवस्था से बाहर आये अर्जुन का ऐसा प्रश्न उचित ही है। बोलना, बैठना या चलना का अर्थ उस व्यक्ति के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवम सामाजिक व्यवहार से है। श्लोक की पहली पंक्ति में स्थितप्रज्ञ के आन्तरिक स्वभाव के विषय में प्रश्न है तो दूसरी पंक्ति में वाह्य जगत् में उसके व्यवहार को जानने की जिज्ञासा है।

अर्जुन द्वारा पूछा गया प्रश्न उस के स्वयं के युद्ध भूमि में व्यवहार और समत्व बुद्धि युक्त समाधिस्थ व्यक्ति के व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन भी था। कर्मयोगी की तुलना में वह अपने व्यवहार को परखना चाह रहा था क्योंकि कर्म करते हुए भी कोई कैसे उस के फल के बंधन से मुक्त रह कर कैसा दिखता होगा है।

अर्जुन द्वारा पूछा यह प्रश्न आज के युग मे भी सार्थक है क्योंकि आज भी ग्रहस्थ जीवन मे व्यवसाय करने वाले सामाजिक लोग दिनरात मोह वश, स्वार्थ युक्त कार्य करते रहते है, यदि उस मे कोई नित्य की खोज की बात करे तो सुनने में जरूर अच्छा लगे किन्तु उस को पूर्ण रूप से स्वार्थ रहित अपना कार्य छोड़ कर नहीं अपना सकते। बचपन से हम मोह, ममता, परिवार, समाज आदि के साथ बढ़े हुए। ज्ञान अच्छे कर्मों को करने का दिया गया जिस से किसी भी जीव को कोई हानि न हो। दया, सत्य, अहिंसा, त्याग, शांति का पाठ पढ़ा, किन्तु आज अर्जुन की परिस्थिति यह थी उसे उन लोगो से युद्ध करना है जिन्हों ने उसे पाला पोसा, बढ़ा किया और जिन के संग उस का जीवन व्यतीत हुआ।

वास्तविक जीवन मे मोह का त्याग से ही सिहरन पैदा हो जाती है। इस सांसारिक सुखों को त्याग कर सन्यासी बनना जितना पढ़ना या बाते करना आसान है, उस से अधिक के उस को अपने जीवन मे अनुत्तरित करना। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, कुछ बड़ा बनने की महत्वाकांक्षा, परिवार माता-पिता, पत्नी, पति, पुत्र-पुत्र, सामाजिक प्रतिष्ठा एवम धन की चकाचौंध में गीता ही पढ़ ले तो उस मे भी इन्ही के लिये कोई सार्थक हल ढूंढने लगते है। संसार मे सामान्य व्यक्ति के सारे प्रयास इसलोक या परलोक में सुख एवम आनन्द के ही होते है।

ऐसे में **कर्मयोगी होने से यदि स्थितप्रज्ञ होने से कर्म करते हुए मुक्त हो सकते हो तो भी हम जैसे व्यक्ति आगे बढ़ कर प्रयास कर पाए।** इसलिए स्थितप्रज्ञ के लक्षण व्यवहार, उस का उठना, बैठना, चलना, बोलना जानना जरूरी है। अर्जुन आज भी हमारे अंदर है और कृष्ण भी, बात सुनने और समझने और अपनाने की है। गीता का अध्ययन लाखो लोग करते है, कई लोगो को यह कंठस्थ भी है, अनेक लोग प्रवचन भी करते है किंतु व्यवहार में उन का चाल चलन गीता में बताए समत्व भाव का है या नहीं, यह भी समझना आवश्यक है। अतः श्री कृष्ण क्या बोलते है यह आगे सुनते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.54 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.55॥

श्रीभगवानुवाच,
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मयेवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

"śrī-bhagavān uvāca,

prajahāti yadā kāmān,
sarvān pārtha mano-gatān..I
ātmany evātmanā tuṣṭaḥ,
sthita-prajñas tadocyate"..II

भावार्थ :

श्री भगवान् ने कहा - हे पार्थ! जब मनुष्य मनोरथ से उत्पन्न होने वाली इन्द्रिय-तृप्ति की सभी प्रकार की कामनाओं परित्याग कर देता है जब विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा में ही सन्तोष प्राप्त करता है, तब वह मनुष्य विशुद्ध चेतना में स्थित (स्थितप्रज्ञ) कहा जाता है॥५५॥

Meaning:

Shri Bhagavaan said:

When an individual gives up all desires that enter the mind, O Paartha, and is self-satisfied in his own self, that individual is called a person of steady wisdom.

Explanation:

Shree Krishna begins answering Arjun's questions here, and continues till the end of the chapter. Each fragment is naturally drawn towards its whole; just as a piece of stone is drawn by the force of gravitation towards the earth. The individual soul is a fragment of God, who is infinite bliss. Hence, the soul is a fragment of the ocean of infinite bliss, and it experiences the natural urge for bliss. When it strives to relish the bliss of the soul from God, it is called "Divine Love." But when, in ignorance of its spiritual nature, it thinks of itself as the body, and seeks to relish the bliss of the body from the world, it is called "lust."

The Garuḍ Purāṇ states: "A king wishes to be the emperor of the whole world; the emperor aspires to be a celestial god; a celestial god seeks to be Indra, the king of heaven; and Indra desires to be Brahma, the secondary creator. Yet the thirst for material enjoyment does not get satiated."

This world has been called mṛiga tṛiṣhṇa in the scriptures, meaning "like the mirage seen by the deer." Similarly, the material energy Maya too creates an illusion of happiness, and we run after that illusory happiness in the hope of quenching the thirst of our senses. But no matter how much we try, happiness keeps fading further away from us.

Just before entering a forest when hiking, there usually are signs posted at the entrance that say "beware of these poisonous plants". Similarly, from this shloka onwards, Shri Krishna lists all the factors that can destabilize our state of equanimity. If we keep track of these factors, and remain alert and aware when we encounter them, then we will never lose our mental balance and equanimity. This portion of the chapter is a very practical summary of the entire teaching of the Gita.

In this shloka, Shri Krishna advises us to monitor our material desires, i.e. track how many are arising, how many we have fulfilled, and so on. As we saw earlier, continual harbouring of material desires has the effect of destablizing our mental balance, and takes us further away from state of equanimity. Therefore, a man of steady wisdom is one who has learned to give up all such desires.

Now this is especially true when we have predisposition to some object, situation or person. This predisposition is also known as "vaasana". Predispositions are the seeds of thought and desire. For instance, let's say we have a sweet tooth. Then, anytime we see a piece of chocolate, that desire will enter the mind, and we will begin thinking of how we can acquire that chocolate. If we are performing some work, the constant thinking of the chocolate will destabilize our mind and prevent us from focusing on the task at hand. So this shloka asks us to closely examine our predispositions as well as our desires.

You can deceive everything in the world, except your intellect. If your intellect is not convinced, let even Bhagavān come and say, you will not accept. Therefore, this is matter of knowing, not believing; and therefore the guru allows the student to think rationally whether his intellect is able

to accept this knowledge. And if there are any doubts, regarding this teaching, the guru allows to raise any number of doubts, Vēdānta class is one place, where there is no question of threatening, forcing, brainwashing, conditioning, etc. it is not communism we are doing, it is the knowledge of my real nature.

Since this person of steady wisdom has extinguished all his desires, he is always content and does not need to rush out into the world of material objects. This is because he has realized his association with the eternal essence, which pervades the entire universe and therefore is always complete and content.

This intellectual knowledge must be converted into emotional strength. This intellectual knowledge, must be converted into emotional strength; psychological strength, because it is our emotional personality which is predominantly transacting in day to day life. Therefore, if I should enjoy emotional freedom, then I should free myself from all the unhealthy emotional responses. I should be free from all unhealthy emotional responses. Emotional immunity is very important. Through śravaṇam and mananam, he gets prajna; through nidhidyasanam, he converts prajna into sthitaprajna.

Therefore, he will be "self-satisfied in his own self", as this shloka points out. This shloka is the answer to the first of Arjuna's four questions, "what are the indications of a person of steady wisdom who is established in samaadhi or ।continuous meditation".

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता की यह एक शैली है कि जो साधक जिस साधन (कर्मयोग भक्तियोग आदि) के द्वारा सिद्ध होता है उसी साधन से उस की पूर्णता का वर्णन किया जाता है। जैसे भक्तियोग में साधक भगवान् के सिवाय और कुछ है ही नहीं ऐसे अनन्ययोग से उपासना करता है । अतः सिद्धावस्था में वह सम्पूर्ण प्राणियों में द्वेषभाव से रहित हो जाता है। ज्ञानयोग में साधक स्वयं को गुणों से सर्वथा असम्बद्ध एवं निर्लिप्त देखता है । अतः सिद्धावस्था में वह सम्पूर्ण गुणों से सर्वथा अतीत हो जाता है । ऐसे ही कर्मयोग में कामना के त्याग की बात मुख्य कही गयी है अतः सिद्धावस्था में वह सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है यह बात इस श्लोक में बताते हैं।

इच्छा, कामना, वासना और फल प्राप्ति की आशा अर्थात मृग तृष्णा प्रकृति का वह अस्त्र है जिस में फस कर जीव सकाम कार्य क्षणिक सुख के लिए करता हुआ, फल के बंधन में फसता जाता है और जन्म मरण के चक्कर में दुख भोगता है। कितनी जिस ने अपने सभी कर्म प्रभु को समर्पित कर दिए, किसी भी प्रकार के फल की आशा और वासना को त्याग कर समत्व बुद्धि को प्राप्त कर लिया, उस को स्थितप्रज्ञ कहा गया है।

कामना न तो स्वयं में है और न मन में ही है। कामना तो आने जाने वाली है और स्वयं निरन्तर रहनेवाला है अतः स्वयं में कामना कैसे हो सकती है मन एक करण है और उसमें भी कामना निरन्तर नहीं रहती प्रत्युत उस में आती है अतः मन में भी कामना कैसे हो सकती है परन्तु शरीर इन्द्रियों मनबुद्धि से तादात्म्य होनेके कारण मनुष्य मन में आनेवाली कामनाओं को अपने में मान लेता है। साधक कामनाओं का सर्वथा त्याग कर देता है किसी भी कामना का कोई भी अंश किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहता।अपने स्वरूपका कभी त्याग नहीं होता और जिस से अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं है उसका भी त्याग नहीं होता। त्याग उसी का होता है जो अपना नहीं है पर उस को अपना मान लिया है। ऐसे ही कामना अपने में नहीं है पर उस को अपने में मान लिया है।

कोई भी कामना न रहे और किसी भी कामना का कोई भी अंश बाकी न रहे। जिस काल में सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर देता है और अपने आप से अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है अर्थात् अपने आप में सहज स्वाभाविक सन्तोष होता है।

सन्तोष दो तरह का होता है एक सन्तोष गुण है और एक सन्तोष स्वरूप है। अन्तःकरण में किसी प्रकार की कोई भी इच्छा न हो यह सन्तोष गुण है और स्वयं में असन्तोष का अत्यन्ताभाव है यह सन्तोष स्वरूप है। यह स्वरुपभूत सन्तोष स्वतः सर्वदा रहता है। इस के लिये कोई अभ्यास या विचार नहीं करना पड़ता। स्वरूपभूत सन्तोष में प्रज्ञा (बुद्धि) स्वतः स्थिर रहती है।स्वयं जब बहुशाखाओंवाली अनन्त कामनाओं को अपने में मानता था उस समय भी वास्तव में कामनाएँ अपने में नहीं थीं और स्वयं स्थितप्रज्ञ ही था। परन्तु उस समय अपने में कामनाएँ मानने के कारण बुद्धि स्थिर न होने से वह स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जाता था अर्थात उस को अपनी स्थितप्रज्ञता का अनुभव नहीं होता था। अब उसने अपने में से सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर दिया अर्थात् उन की मान्यता को हटा दिया तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है अर्थात् उसको अपनी स्थितप्रज्ञताका अनुभव हो जाता है।

साधक तो बुद्धि को स्थिर बनाता है। परन्तु कामनाओं का सर्वथा त्याग होने पर बुद्धि को स्थिर बनाना नहीं पड़ता वह स्वतःस्वाभाविक स्थिर हो जाती है। परंतु इस के गुरु की आवश्यकता मार्ग दर्शन के लिए चाहिए, गुरु जो स्वयं में तत्वदर्शी और स्थितप्रज्ञ हो तो ऐसे गुरु के श्रवण, मनन और निध्यासन द्वारा जीव का अज्ञान उस के प्रकृति के संबंध में दूर होने लगता है और उस में ज्ञान का प्रकाश प्रज्वलित होने लगता है।

कर्मयोग में साधक का कर्मों से ज्यादा सम्बन्ध रहता है। उस के लिये योग में आरूढ़ होने में भी कर्म कारण हैं। इसलिये कर्मयोगी का कर्मों के साथ सम्बन्ध साधक अवस्था में भी रहता है और सिद्धावस्था में भी। सिद्धावस्था में कर्मयोगी के द्वारा मर्यादा के अनुसार कर्म होते रहते हैं जो दूसरों के लिये आदर्श होते हैं। इसी बातको भगवान् ने चौथे अध्याय में कहा है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है ।

भगवान् ने तिरपनवें श्लोक में योग की प्राप्ति में बुद्धि की दो बातें कही थीं संसार से हटने में तो बुद्धि निश्चल हो और परमात्मा में लगने में बुद्धि अचल हो अर्थात् निश्चल कहकर संसार का त्याग बताया और अचल कहकर परमात्मा में स्थिति बतायी। उन्हीं दो बातों को लेकर यहाँ यदा और तदा पद से कहा गया है कि जब साधक कामनाओं से सर्वथा रहित हो जाता है और अपने स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। तात्पर्य है कि जब तक कामना का अंश रहता है तबतक वह साधक कहलाता है और जब कामनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह सिद्ध कहलाता है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि बाल्यावस्था में जिन खिलौनों के साथ बालक रमता है उन को युवावस्था में वह छोड़ देता है। आगे वृद्ध होने पर उसकी इच्छायें परिवर्तित हो जाती हैं और युवावस्था में आकर्षक प्रतीत होने वाली वस्तुओं के प्रति उसके मन में कुछ राग नहीं रह जाता।

अज्ञान दशा में मनुष्य स्वयं को परिच्छिन्न अहंकार के रूप में जानता है। इसलिये विषयोपभोग की स्पृहा अपनी भावनाओं एवं विचारों के साथ आसक्ति स्वाभाविक होती है। अज्ञान के नष्ट होने पर यह अहंकार अपने शुद्ध अनन्त स्वरूप में विलीन हो जाता है और स्थितप्रज्ञ पुरुष आत्मा द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं क्योंकि वह स्वयं आनन्दस्वरूप बनकर स्थित हो जाता है।

बचपन मे घर घर खेलते हुए, जिस भावनाओ की उत्पत्ति होती होगी या स्वप्न में कोई दृश्य या घटना क्रम देखते हुए जो भावना जागृत होती है वह बड़े होने या नींद से उठने के बाद नही रहती, क्योंकि जगने का ज्ञान आ जाता है। ऐसे ही काम्य बुद्धि से इस संसार के सुखों के प्रति जो भी सांसारिक लालसा या कामना रहती है, वह भी एक प्रकार का जीव का कर्तृत्व या भोक्तत्व भाव का अज्ञान रहता है, तत्वदर्शन या अनासक्त भाव से कर्म करते करते यह काम्य बुद्धि का नाश हो जाता है और ज्ञान द्वारा अज्ञान की निंद्रा से आंख खुलने से ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये स्थितप्रज्ञ मनुष्य सांसारिक सुख एवम दुख से मुक्त रहता है, उस के भाव हर परिस्थिति में समान ही रहते है। वह किसी भाव को ग्रहण ही नही करता, इसलिये किसी भी कामना का त्याग ही नही करता अपितु निर्लिप्त रहता है।

अर्जुन द्वारा कर्मयोगी की पहचान का प्रथम गुण स्थितप्रज्ञ को पहचान के लिए निर्लिप्त यानी जो कर्तव्य मान कर कर्म तो करता है किंतु उस ने उस के फल पर अपना कोई अधिकार या लालसा नही रही। सफलता के पीछे वो नही सफलता उस के पीछे चलती है। यह प्रथम नियम उन लोगो के प्रति हमे सचेत करता है जो कहते है मुझे कुछ नही चाहिए किन्तु व्यवहार में सुख सुविधा, पद एवम मान सम्मान की आशा रखते है। आगे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की अन्य विशेषताओ को जाने इस से पूर्व

यदि हम भी कामना रहित होना चाहते है तो इस की शुरुवात संतुष्टि से होगी। संतुष्ट व्यक्ति निष्क्रिय है तो कर्मयोगी नही। अतः निष्काम भाव से बिना कर्म फल के हेतु बने कर्म करना ही संतुष्ट व्यक्ति की पहचान है।

।। हरि ॐ तत सत।। 2.55 ।।

।।विशेष - कर्म योग - संक्षिप्त टिप्पणी ।। गीता 2.55।।

गीता में मोक्ष प्राप्ति में योग में सन्यास योग और भक्ति योग में लुप्त होते कर्म योग को पुनः प्रतिपादित किया गया है जिस में जीव संसार में रहता हुआ, कर्म करता हुआ भी, मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

योग का अर्थ है जुड़ना, कर्म योग का अर्थ है अपने समस्त कार्य को परमात्मा से जोड़ना। सदाहरणतय: जीव अपने समस्त कार्य सांसारिक सुखों और दायित्व को निभाते हुए, सांसारिक सुखों के लिए करता है। क्योंकि वह अज्ञान वश अपने को प्रकृति के अंतर्गत कर्ता एवम भोक्ता मानता है। पूर्व धारणा में मुक्ति के लिए प्रवृति और निवृति के मार्ग में कर्म का त्याग करते हुए ज्ञानयोग अर्थात सन्यास को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। किंतु युद्ध भूमि में खड़े अर्जुन को कर्म योगी की भांति अपने कर्तव्य धर्म का पालन करने का उपदेश गीता में दिया गया है। जिस से जीव निर्लिप्त और निर्योग हो कर वासना और इच्छा रहित हो कर, बिना फल की आशा के कर्म करते हुए भी सन्यासी की भांति मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

गीता में श्लोक 2.40 से 2.53 कर्मयोग में स्थितप्रज्ञ हो कर समबुद्धि से निष्काम भाव से कर्म करने को कहा है। यहां अर्जुन अपने मोह से मुक्त हो कर यह समझ लेता है कि जो भी अध्यात्म उस ने पढ़ा या समझा है वह प्रकृति का ही ज्ञान है। वास्तविक ज्ञान तो प्रकृति के तीनों गुणों सत, रज और तम से परे का है। उस का भाग्य ही था कि उसे वह ज्ञान देने स्वयं ब्रह्म अर्थात कृष्ण उस के सारथी बन कर दे रहे थे। 2.54 में वह ऐसे जीव के व्यवहारिक स्वरूप को जानने की जिज्ञासा करता है। भगवान स्पष्ट भी करते है कि जीव का कर्म के फलों पर कोई अधिकार नही है एवम न ही किसी फल की प्राप्ति पर वह अपने को कर्ता कह सकता है।

श्लोक 2.55 से गीता में भगवान द्वारा अर्जुन की जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए कर्म योग और मोक्ष का ज्ञान अध्याय की समाप्ति तक देते है, जिस को सुन कर अर्जुन लगभग 9 जिज्ञासा और प्रकट करता है। अतः अध्याय 3 से 18 गीता में अध्याय 2 का ही विस्तार पूर्वक अध्ययन है।

बचपन से आज तक हम जो भी कार्य करते है वह उस के अच्छे फल की प्राप्ति के लिये करते है। किसान खेत अन्न उत्पन्न करने के खेती करता है, विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के जी तोड़ पढ़ाई करता है और व्यापारी लाभ कमाने के लिये व्यापार करता है। यदि फल की आशा न हो तो कोई काम क्यों करना चाहेगा।

कर्म का हेतु उस का फल है क्योंकि कोई भी कार्य बिना फल के हो ही नही सकता। कर्म-कारण-कार्य के सिंद्धांत के अनुसार कोई भी कार्य बिना करता है संभव नही। कोई भी वाक्य बिना कर्ता के अधूरा है, तो क्या कर्म के फल का त्याग संभव है? इसे अपरिपक्व ज्ञान पर किसी भी बात का विवेचन करना कहते है जो हम अक्सर देखते है। किसी विषय को पूर्ण रूप से जानने से या पढ़ने से पूर्व उस की समीक्षा तैयार करना, जब कि 700 श्लोक की गीता में अभी तो 100 के आसपास के श्लोक पढ़े है। मनुष्य को किसी भी ज्ञान प्राप्ति के लिये जिज्ञासु हो कर अपनी शंकाओ का समाधान करना चाहिए किन्तु हम समाधान की बजाए उस की समीक्षा कर के, अपने अधूरे और अपूर्ण ज्ञान द्वारा सही और गलत का निर्णय लेने लगते है, यही प्रकृति की माया है और अहम भी है। यही कारण है कि ज्ञान की अंतिम सीढ़ी तक पहुचने से पहले ही हम अपने ही बनाये मकड़जाल में उलझ कर फस जाते है और अपने अज्ञान में संतोष पैदा कर के संतुष्ट भी हो जाते है। याद रखे सत्य आप को तब तक नही छोड़ता जब तक आप पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त कर लेते। इसलिये आप बार बार ज्ञान की ओर जाने-अनजाने में बढ़ते ही रहते है, यही जीवचक्र है जो कोई जल्दी और कोई 84 लाख योनियों को भुगत कर भी प्राप्त नही कर पाता।

यद्यपि अज्ञान वश मनुष्य किसी भी कार्य में स्वयं को कर्ता मान लेता है किंतु किसी भी कार्य को पांच विभिन्न तत्व से पूरा किया जा सकता है। क्या खेत में बीज बोने से फसल तैयार हो सकती है?, फसल के लिए उपयुक्त जमीन, मौसम, बीज के प्रकार और समय आदि सभी का योगदान है। यही जीव के कर्म का कार्य है, जो करती प्रकृति है किंतु जीव उसे अपना मान लेता है।

भगवान कहते है कि जीव प्रकृति से जुड़ा एक अंश है। इस के 25 तत्व से बना जीव में 24 तत्व प्रकृति के ही है। इसे विस्तार से हम आगे पढ़ेंगे। अतः प्रकृति की समस्त क्रियाए बिना जीव के संभव नही। सृष्टि की रचना का मूल आधार भी जीव एवम प्रकृति का संयोग ही है। जीव अकर्ता, साक्षी, नित्य एवम परब्रह्म का अंश है, प्रकृति परब्रह्म का स्वरूप होते हुए भी, माया से नियमबद्ध है। जीव जब भी परब्रह्म को छोड़ कर प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता है तो वह कर्म के फल के बंधन में फस जाता है, और फिर जब तक उन फलों को नही भोगता, तब तक वह बंधन से मुक्त नही होता।

जब तक जीव प्रकृति से बंधा है, वह कर्म के बंधन से मुक्त भी नही है। हम आगे पढ़ेंगे की कर्म नियमित, नैमित्तिक एवम काम्य अर्थात कामना से किये कर्म। नियमित जो प्रकृति करती है जैसे सांस लेना आदि। नैमित्तिक जो स्वयं को शुद्ध एवम स्वस्थ रखने के लिये आवश्यक है, जैसे स्नान, भोजन आदि एवम काम्य जो कामना के साथ किये जायें। अतः जब तक जीव प्रकृति से जुड़ा है, वह कर्म मुक्त नही हो सकता।

जीव को कर्म बंधन में बांधने का कार्य प्रकृति करती है, क्योंकि जीव अकर्ता है और प्रकृति क्रियाशील। इसलिये प्रकृति ही समस्त कर्म जीव के चारो ओर घूम घूम कर नृत्य करती हुई करती है और जीव अज्ञान वश प्रकृति के आकर्षण में आ कर अपने को कर्ता मान लेता है। यही बंधन है।

इसलिये यह भी तय है कि समस्त क्रियाए प्रकृति करती है और जीव अज्ञान के कारण अपने को कर्ता मान लेता है और कर्मो के फलों को भोगने लग जाता है। जिस दिन जीव को इस सत्य का ज्ञान हो जाता है कि वह नित्य, अकर्ता, साक्षी एवम दृष्टा मात्र है, प्रकृति का समस्त नृत्य समाप्त हो जाता है, उस के समस्त कार्य, अकार्य हो जाते है। वह अपने शेष जीवन लोककल्याण एवम लोकसंग्रह के करता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जरूरत सिर्फ अज्ञान से मोह भंग होने की है और यह बात उतनी सरल नही है जितनी एक बालक द्वारा स्वयं को डॉक्टर घोषित करना है। इस के MBBS तक की पढ़ाई करने तक का तप करना होता है और हर परीक्षा में पास भी होना होता है।

कर्मयोग में भगवान श्री कृष्ण कहते है कि यह आसक्ति, कर्ता भाव, एवम भोक्ता भाव का त्याग कर के यदि हम प्रकृति के समस्त कार्य निमित हो कर करे तो वह समस्त कार्यो का उद्देश्य सृष्टि के संचालन में भागीदार बिना किसी बन्धन के करने वाला होगा। हमे हमारा कर्म पूर्ण दक्षता, अनुशासन, कर्मठता एवम नियमित हो कर करना चाहिए जिस से वह लोकसंग्रह के लिये किया कार्य सिद्ध हो और हमे उस के फल की कोई आसक्ति न हो। आसक्ति न होने का सही अर्थ यही है कि हम अपने कर्म के लिये सांसारिक समस्त वस्तुओं का अनासक्त भाव से उपयोग करे और संसार का आनंद ले। किन्तु किसी अभाव से विचलित न हो, न ही किसी वस्तु के आभाव से हम अपने लक्ष्य को त्याग दे। भगवान राम और कृष्ण राज परिवार से ही थे और वर्षो राज्य कर के उस का सुख भोगा। दोनो के जीवन मे इतने उतार चढ़ाव थे किंतु दोनो ही समबुद्धि एवम कर्मयोगी थे, इसलिये कभी भी विचलित नही हुए। संसार मे कर्मयोगी का इस से उत्तम उदाहरण कोई हो ही नही सकता।

सुकरात, नानकदेव, तुलसीदास, महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग, अब्राहिम लिंकन, चाणक्य, शंकराचार्य आदि आदि अनादि अनेक महापुरुष समय समय पर कर्मयोगी बन कर आते है और संसार का मार्ग प्रशस्त कर के पुनः ब्रह्म में लीन हो जाते है। यह वह लोग है जो सत की ज्योति को धूमिल नही होने देते। यह निष्काम कर्मयोगी हमारे ही बीच मे अनाम हो लोकसंग्रह के कार्य कर रहे है और करते रहेंगे। सृष्टि का संचालन यही कर्मयोगी करते है क्योंकि यह स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी है। क्या आप कभी किसी कर्मयोगी से मिले है, आप को पता लग जायेगा कि स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी कैसे दिखते है, बोलते है, काम करते है और रहते है। यदि नही तो इन का जीवन पढ़े। अलंकृत कर्मयोगियों से बच कर रहे। जो आश्रम चलाते है, धन एवम पद के लिये झगड़ते है, यह लोग कर्मयोगी नही हो सकते।

अतः यह कहना गलत होगा कि बिना कर्मफल की आशा के जीवन में कर्म व्यर्थ है, गीता कर्मयोग का ग्रंथ है जो हमे लोकसंग्रह के लिये कर्म करने की प्रेरणा तो देता ही है, यह भी बताता है कि निष्काम भाव से अनासक्त हो कर कर्म करने से हम कर्म फल से बन्धन से मुक्त भी होंगे एवम किसी भी किस्म के पाप या पुण्य के भागी भी नही होंगे।

गीता का अध्याय दो अर्जुन की मानसिकता में योग के बीज रोपण करना है, जिस से वह अपने युद्ध न करने के संकल्प से हट कर ज्ञान को सुनने के तैयार हो। श्रोता जब तक पूर्वाग्रह से ग्रसित रहता है तो उस को कितना भी ज्ञान दो, वह चिकने घड़े पर पानी डालना ही है। स्वयं दुर्योधन का भी कहना है कि उसे भी ज्ञान की समस्त बाते मालूम है किंतु वह अपनी प्रकृति से विवश है।

यही बात हम पर लागू होती है, जब हम गीता का अध्ययन तो करना चाहते है किन्तु अपनी प्रकृति से विवश हो कर 15-20 का समय भी अध्ययन के लिये नही निकाल सकते चाहे वह समय हमारा वार्तालाप, व्हाट्सएप्प या दुकानदारी या अन्य किसी कार्य मे अनर्थक ही व्यतीत क्यों न हो रहा हो। हमे भी प्रकृति के अपने संबंध के अज्ञान से बाहर आना होगा, इसलिए गीता जितनी बार भी हम पढ़ते जाएंगे, उतनी ही बार हमारी भ्रांति दूर होती जायेगी।

ज्ञान कोई चमत्कार या आसमान से उतर कर किसी की झोली में पड़ने वाला फल नही है, इसे आत्मशुद्धि के लिये किये हुए यज्ञ के समान समझना चाहिये। चितशुद्धि के साधना चाहिये जिस की प्रथम सीढ़ी कर्म के फलों से निवृति ही है। अतः जब तक कर्म योग द्वारा कर्म के फलों से निवृति नही होगी, साधना का मार्ग शुरू होना मुश्किल है।

गीता कर्मयोग ज्ञानयोग, बुद्धियोग, भक्तियोग सभी का वर्णन करती है, सभी निवृति के मार्ग है किंतु एक गृहस्थ एवम संसार मे कर्म करते हुए निवृति को प्राप्त करने का सब से सरल मार्ग कर्मयोग ही है क्योंकि कर्म जीवन की अनिवार्य शर्त है।

कुछ लोग मुक्ति को व्यर्थ एवम जन्म-मरण को ढोकोसला कहते है, उन के लिये भी गीता में वर्णन है क्योंकि जीव का मुख्य धैय मुक्ति है, किन्तु यह संसार भी चलता रहे, इसलिये विचारों की विभिन्नता भी होनी चाहिये।

जीव अर्थात मनुष्य अन्य प्रकृति के किसी भी जीव और वनस्पति से पृथक है क्योंकि उस में बुद्धि अर्थात अपनी चेतना शक्ति को जानने की शक्ति है। किंतु यदि वह इस का दुरुपयोग मुक्ति की बजाय पशु की भांति सांसारिक सुख - दुख के लिए करे तो इस से बढ़ कर मनुष्य का दुर्भाग्य क्या होगा।

गीता की यह कर्मयोग में कर्म की एक छोटी सी भूमिका है जिन्हें हम अब हम विस्तार से एक एक अध्याय में पढ़ेंगे। अर्जुन आप ही है, इसलिये अर्जुन द्वारा पूछे प्रत्येक प्रश्न को आप अपना ही प्रश्न समझे, इस का अध्ययन एकाग्रचित हो कर करे, यदि जिज्ञासा हो तो प्रश्न भी लिख कर भेजे। सामाजिक जीवन मे जो भी रोजमर्रा के ज्ञान की बाते होती है वह और कुछ नही आप के अंदर की छुपी उस आध्यात्मिक ज्ञान एवम प्रकाश की किरण है जिस के आगे का पर्दा हटना जरूरी है।

श्रीगुरुदेव (आदि शंकराचार्य जी) कहते हैं कि आत्मा सावयव नहीं है और वह किसी का विषय भी नहीं होता है । आत्मा अद्वितीय है , यह आत्मज्ञान का अर्थात स्व की अनुभूति का विषय है । सभी प्रकार से अपरोक्ष होने के कारण भी , यह किसी का विषय नहीं होता है ।

अतः जुड़े एवम अध्ययन करे और जीवन में आत्मसात करने का प्रयत्न करते है। आप का प्रयत्न व्यर्थ नही हो सकता इस की गारंटी स्वयं भगवान भी आगे चल कर देंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.55 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.56॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

"duḥkheṣv anudvigna-manāḥ,
sukheṣu vigata-spṛhaḥ..I
vīta-rāga-bhaya-krodhaḥ,
sthita-dhīr munir ucyate"..II

भावार्थ :

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसका मन विचलित नहीं होता है, सुखों की प्राप्ति की इच्छा नही रखता है, जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त हैं, ऐसा स्थिर मन वाला मुनि कहा जाता है॥५६॥

Meaning:

One whose mind is not agitated in sorrow, and remains indifferent in joy, and is free from attachment, fear, lust and anger; that contemplative individual is known as a person of steady intellect.

Explanation:

So how does a jñāni respond to situations in life. And that too unfavourable situations. So from this it is very clear that jnani also cannot avoid unfavourable situations. Not that by becoming jnani, I can avoid painful or difficult situation, because jnani or ajnani, we are all born with our own prārabda karma; very birth is because of prārabda; so until death happens; puṇyam and papam are going to affect; jnani may not create fresh puṇya pāpam; he does not acquire agami karma, So jñāni does not add to his fresh karmas āgāmi karmas, remember whatever karmas he has acquired, when he was ignorant before, they are going to impinge on him in the form of favourable and unfavourable situations. When they come, what happens? He says; anudvignamanaḥ. Jnani's mind is so emotionally strong and he has got a shock absorber called jñānam. He has insulation called jñānam; or with a good shock absorber. How will it be when we travel in our roads?

The disturbances are minimal. So disturbances are minimal. The distrubances may in speech, body, mental or in working efficiency, but the stability of distrubances shall be minimal say few second, few minutes, few hours, few days, few months or few years. The IQ and EQ of jnani is so strong and control that distrubances does not impact on his body, mind, speech or intellual.

Shri Krishna continues giving us factors that can destabilize our state of equanimity. In this shloka, he says that the person of steady intellect does not let joy or sorrow upset his equanimity. Now does that mean that the person becomes a stone? No. As long as we are alive, it is natural to experience joy and sorrow. But if we notice that any joyful or sorrowful situation has upset our equanimity for a prolonged period of time, we should be on guard. There usually is an underlying selfish desire at work.

Shree Krishna describes sages of steady wisdom as: 1) Vīta rāga—they give up craving for pleasure, 2) Vīta bhaya—they remain free from fear, 3) Vīta krodha—they are devoid of anger.

For instance, if you know that your favourite dish was planned to be cooked for dinner, but is no longer being cooked because of some reason, you will get disappointed. But if this disappointment persists for a longer period of time, it means that you have a deep-seated desire for that dish, which can resurface anytime to cause you further agitation. The goal pointed our in the prior shloka is to free ourselves of as many material desires as possible, and to be "self satisfied with one's self".

The second part of the shloka goes deeper into this point by describing how a desire can give rise to fear and anger, both of which cause instability of mind. At the time of writing this, it is the thanksgiving holiday, so it is apt to look at a shopping example. Let's say that you go window shopping and see an ipod that is on sale with a huge discount. Later, you head home but all you can think about is that ipod. That's all it takes - you have developed attachment to it.

But that's not all. Right there, you will also develop a fear that it may go out of stock tomorrow, and that you will lose the deal. So you go to the store to buy it the very next day. Now, after a couple of days it stops working. You call the tech support phone number and are kept on hold for 20 minutes. What do you think has arisen in your mind? Anger, of course. And all it took was a desire to take hold of your mind when you saw the ipod. In later shlokas, Shri Krishna gives a more detailed, step by step breakdown of how a simple little thought can bring about one's downfall.

In the example, the individual imagined that the Ipod, which is nothing but a material object, would give him happiness. Whereas in reality, there is no happiness "built into" the Ipod. This projection of happiness onto a material object is termed as "shobhana adhyasa".

This shloka and the next comprise the answer to the second of Arjuna's four questions, "how does a person of steady wisdom speak?". This shloka is the seed of the first portion of chapter sixteen of the Gita called "daivee sampat" or the qualities of the gods.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन ने तो स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है ऐसा क्रिया की प्रधानताको लेकर प्रश्न किया था पर भगवान् भाव की प्रधानता को लेकर उत्तर देते हैं क्योंकि क्रियाओं में भाव ही मुख्य है। क्रियामात्र भावपूर्वक ही होती है। भाव बदलने से क्रिया बदल जाती है अर्थात् बाहर से क्रिया वैसी ही दीखने पर भी वास्तव में क्रिया वैसी नहीं रहती। उसी भाव की बात भगवान् यहाँ कह रहे हैं ।

दुखों की सम्भावना और उन की प्राप्ति होने पर भी जिस के मन में उद्वेग नहीं होता अर्थात् कर्तव्य कर्म करते समय कर्म करने में बाधा लग जाना निन्दा अपमान होना कर्म का फल प्रतिकूल होना आदिआदि प्रतिकूलताएँ आने पर भी उस के मन में उद्वेग नहीं होता।

ज्ञानी हो या अज्ञानी, पूर्व के संचित और प्रालब्ध कर्म फल के कारण अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिफल से कोई नही बच सकता। ज्ञानी निर्लिप्त और निर्योग स्वरूप में कर्म करता है तो आगे उस के कर्म के फल का बंधन उसे नही मिलता। अनुकूल या प्रतिकूल फल प्राप्ति पर ज्ञानी की भाषा या वाणी, मानसिकता या शरीर पर प्रभाव तो पड़ता है किंतु वह स्थिर नहीं होता और कुछ समय के अंतराल में समाप्त हो जाता है।

कर्मयोगी के मन में उद्वेग हलचल न होने का कारण यह है कि उस का मुख्य कर्तव्य होता है दूसरों के हित के लिये कर्म करना कर्मों को साङ्गोपाङ्ग करना कर्मों के फल में कहीं आसक्ति ममता कामना न हो जाय इस विषय में सावधान रहना। ऐसा करने से उस के मन में एक प्रसन्नता रहती है। उस प्रसन्नता के कारण कितनी ही प्रतिकूलता आने पर भी उसके मन में उद्वेग नहीं होता।

सुखों की सम्भावना और उन की प्राप्ति होने पर भी जिस के भीतर स्पृहा नहीं होती अर्थात् वर्तमान में कर्मों का साङ्गोपाङ्ग हो जाना तात्कालिक आदर और प्रशंसा होना अनुकूल फल मिल जाना आदिआदि अनुकूलताएँ आनेपर भी उस के मन में यह परिस्थिति ऐसी ही बनी रहे यह परिस्थिति सदा मिलती रहे ऐसी स्पृहा नहीं होती। उस के अन्तःकरण में अनुकूलता का कुछ भी असर नहीं होता। संसार के पदार्थों का मन पर जो रंग चढ़ जाता है उस को राग कहते हैं। पदार्थों में राग होने पर अगर कोई सबल व्यक्ति उन पदार्थों का नाश करता है उन से सम्बन्धविच्छेद कराता है उन की प्राप्ति में विघ्न डालता है तो मन में भय होता है। अगर वह व्यक्ति निर्बल होता है तो मन में क्रोध होता है। परन्तु जिस के भीतर दूसरों को सुख पहुँचाने का

उन का हित करने का उन की सेवी करने का भाव जाग्रत् हो जाता है उस का राग स्वाभाविक ही मिट जाता है। राग के मिटने से भय और क्रोध भी नहीं रहते। अतः वह राग भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो जाता है।

जब तक आंशिकरूप से उद्वेग स्पृहा राग भय और क्रोध रहते हैं तब तक वह साधक होता है। इन से सर्वथा रहित होनेपर वह सिद्ध हो जाता है।

वासना कामना आदि सभी एक राग के ही स्वरूप हैं। केवल वासना का तारतम्य होने से उस के अलग अलग नाम होते हैं जैसे अन्तःकरण में जो छिपा हुआ राग रहता है उस का नाम वासना है। उस वासना का ही दूसरा नाम आसक्ति और प्रियता है। मेरे को वस्तु मिल जाय ऐसी जो इच्छा होती है उसका नाम कामना है। कामना पूरी होने की जो सम्भावना है उस का नाम आशा है। कामना पूरी होने पर भी पदार्थों के बढ़ने की तथा पदार्थों के और मिलने की जो इच्छा होती है उसका नाम लोभ है। लोभ की मात्रा अधिक बढ़ जानेका नाम तृष्णा है। तात्पर्य है कि उत्पत्तिविनाशशील पदार्थोंमें जो खिंचाव है श्रेष्ठ और महत्त्वबुद्धि है उसीको वासना कामना आदि नामोंसे कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ मुनि वह है जो राग भय और क्रोध से मुक्त है। यदि हम पूर्णत्व प्राप्त पुरुषों की जीवनियों का अध्ययन करें तो उनमें हमें सामान्य मनुष्य से सर्वथा विपरीत लक्षण देखने को मिलेंगे। सामान्य पुरुषों की सैकड़ों प्रकार की भावनायें और गुण ज्ञानी पुरुष में नहीं होते और इसलिये यहां केवल तीन गुणों के अभाव को बताने से हमें आश्चर्य होगा। तब एक शंका मन में उठती है क्या व्यास जी अन्य गुणों को भूल गये क्या यह वाक्य पूर्ण लक्षण बताता है परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि ये शंकायें निर्मूल हैं।

पूर्व श्लोक में ज्ञानी के निष्कामत्व को बताया गया है और यहाँ उसके मन की स्थिरता को। जगत् में अनेक विषयों के अनुभव से हम जानते हैं कि उनके साथ राग या आसक्ति की वृद्धि होने से मन में भय भी उत्पन्न होने लगता है। विषय को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होने पर यह भय होता है कि वास्तव में वह वस्तु प्राप्त होगी अथवा नहीं। वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसकी सुरक्षा के लिये चिन्ता और भय लगे ही रहते हैं।

मनुष्य यदि सुख, दुख, राग, द्वेष, लोभ एवम भय से मुक्त है तो इस अर्थ यह नही की हम पाषण हो गए। जीवन मे आनंद की अनुभूति का प्रथम चरण इन्द्रियों से शुरू होता है किन्तु यह हमारे अंदर अधिकार जमा ले तो हमे निष्काम नहीं रहने देंगी।

इन्द्रियों पर मन का अधिकार होता है, मन पर बुद्धि का। बुद्धि चेतन के अनुसार कार्य करती है। यदि चित्तशुद्धि है तो चेतन कामना, आसक्ति एवम अहम से मुक्त हो कर चेतन्य है। इसलिये स्थितप्रज्ञ राग, कामना एवम आसक्ति को त्याग कर के जीवन का आनन्द लेते हुए लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है। भोजन में उत्तम भोजन करता है किंतु उस के अभाव को कभी ग्रहण नही करता। मन को बुद्धि से नियंत्रित कर के शांत, शुद्ध और राग से मुक्त रखता है।

यदि हम गुस्सा कब, कहाँ, कितना, किस पर और वाणी पर नियंत्रण करना जानते है तो गुस्सा हमारा गुण है अन्यथा अवगुण इसी प्रकार यह सब हमारे अंदर हमारी कमजोरी बन जाये और इन का बहाव हमे कार्य करने में विचलित करें तो हम स्थितप्रज्ञ नही हो सकते। जीवन आनंद ले लिए है और आनंद कर्तव्य पालन वो भी निष्काम करने में है। अच्छा रहना, अच्छा खाना, अच्छा व्यवहार करना एवम सांसारिक वस्तुयों का उपयोग करना जो हमारे कर्तव्य पालन में सहायक हो अत्यंत आवश्यक है किंतु इन का अभाव को महसूस करना एवम इन के न होने से दुखी या निष्क्रिय होना, इन की आदत है । यह जब हम पर नियंत्रण करेगे तो हम इन के कारण कार्य नही कर सकते। मर्सिडीज़ कार मिले तो उस मे सफर करे और ऑटो मिले तो उस मे, अंदर के आनन्द में कमी नही आनी चाहिए।

स्थितप्रज्ञ के दो लक्षण के बाद और क्या लक्षण होते है यह हम अगले श्लोक में जानेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 56 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.57॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"yaḥ sarvatrānabhisnehas,
tat tat prāpya śubhāśubham..I
nābhinandati na dveṣṭi,
tasya prajñā pratiṣṭhitā"..II
भावार्थ :

इस संसार में जो मनुष्य न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता है और न अशुभ के प्राप्त होने पर द्वेष करता है, ऐसी बुद्धि वाला पूर्ण ज्ञान मे स्थिर होता है॥५७॥

Meaning:

He who remains without attachment everywhere, is not elated in gain, and is not dejected in loss, his wisdom is steady.

Explanation:

In the prior shloka, we saw how a person of steady wisdom responds to joyful and sorrowful situations that he encounters in life. In this shloka, Shri Krishna points out how that person responds to beneficial and adverse outcomes of his expectations.

This shloka uses an interesting word "anabhisneha", which means without attachment. The root of this word is "sniha" which means "to stick". Most of us tend to get stuck to objects, people and situations that we encounter in our lives. And it is that stickiness which gets us into trouble.

For the sake of encouraging others, he will tell without you the class is not good. So he will feel that he is very important. So therefore sarvatra anabhisnēhaḥ.

Now Vēdānta does not say that you should meekly surrender to all unfavourable situations or improper behavior. In fact, in the very Bhagavad Gītā itself, Krishna is asking Arjuna to fight adharma. Vēdānta does not mean just blind acceptance of whatever Akrama is done by other people or injustice by done others. We should clearly understand that for any situation, we can have two types of responses for any situation. One is impulsive reaction; in which there is no time; there is no thinking; there is no planning, there is no buddhi involved without using discrimination or any thing immediately I react to the situation that impulsive reaction is one possibility.

And the second possibility is meek surrender to the situation, whatever abuse the other person does; I meekly surrender and I do not take any step to remedy that. It is unintelligent inaction. Generally we swing towards these two extremes. Vēdānta says both are equally bad.

I very carefully deal with the situation; sometimes Sāma, sometime dāma, sometimes bhēda, sometimes danda. If we have to punch the nose, do it consciously. Do not miss the nose! What śāstrā says is do not do it impulsively. Let it be a thoughtful action like a Court which gives even capital punishment if required; it is thoughtfully done, after enquiry into the affairs sometime; for seven years, 10 years, and then punishment. Do what is required. Let it not be impulsive. And that is a jñāni and Krishna also is a jñāni and that is why he tried with Duryōdhanā all the legitimate

methods, when they all did not work, he consciously decided: Arjuna kill Duryōdhanā, no other method; and if Bhīṣma and Drōṇā unfortunately joined to the wrong party, you have to fight them. This is action.

Rudyard Kipling, a famous British poet in his famous poem “If.” says few lines

If you can dream—and not make dreams your master;

If you can think—and not make thoughts your aim,

If you can meet with Triumph and Disaster

And treat those two impostors just the same…

If neither foes nor loving friends can hurt you,

If all men count with you, but none too much:

If you can fill the unforgiving minute

With sixty seconds’ worth of distance run,

Yours is the Earth and everything that’s in it,

And—which is more—you’ll be a Man, my son!

An example from the corporate world would be a consultant who is hired for a 3 month assignment verses a full time employee who is given a similar assignment. The consultant comes in, does what she is supposed to do, submits her report and moves on to the next assignment, without getting entangled in office politics. Whereas the employee gets "stuck" to the job and gets entangled in all kinds of office politics, who he should align himself with, etc.

So therefore, if one remains unattached and works towards a goal, he gains the objectivity to remain the same whether he succeeds or fails in accomplishing that goal. He knows that he was there before that success or failure happened, he was there during it, and he will be there after it as well. Therefore whatever happened can be easily dealt with. In no way does he let any adverse outcome demotivate him.

How can we apply this practically? For example, if we worked hard for a project and someone criticizes us, internally we should remain steady and evaluate whether the criticism is valid or mean-spirited. If it is valid, we take the feedback positively. If it is mean-spirited, we ignore it. But if we are too attached to the work, we will lose our equanimity each time someone criticizes us.

।। हिंदी समीक्षा ।।

स्फूर्ति और प्रेरणा से भरा एक कुशल चित्रकार अपनी कल्पनाओं को विभिन्न रंगों के माध्यम से एक फलक पर व्यक्त करते समय बारम्बार अपने स्थान से पीछे हट कर चित्र को देखता है और प्रत्येक बार अत्यन्त प्रेम से अपनी तूलिका से चित्र का सौन्दर्य वर्धन करता है। यहाँ भगवान् श्री कृष्ण ज्ञानी पुरुष के चित्र को अर्जुन के हृदय पटल पर चित्रित करते हुये चुने हुये शब्दों में ज्ञानी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर और अधिक प्रकाश डालते हैं।

समत्व बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के बाद यहां अनासक्ति और राग - द्वेष से परे की स्थिति को बताया गया है।

यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुष की अनासक्ति का वर्णन है। इस श्लोक को भी प्रकरण के सन्दर्भ में उचित प्रकार से समझना चाहिये अन्यथा कोई भी उसका विपरीत अर्थ कर सकता है। जीवन से अनासक्ति मात्र विवेक का लक्षण नहीं हो सकता। अनेक मूढ़ उत्साही लोग जीवन में अपने कर्तव्यों को त्यागकर जंगलों में इस आशा से पलायन कर जाते हैं कि इस प्रकार के वैराग्य से उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी। अर्जुन भी पहले यही करना चाहता था। अर्जुन को इस अनर्थकारी निर्णय से विरत करने के लिये ही भगवान् ने उसे उपदेश देना प्रारम्भ किया।

विषयों के साथ आत्मघातक संग और मूढ़ आसक्ति से स्वयं को इस प्रकार दूर कर लेने मात्र से ही उच्च दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। बाह्य विषयों से वैराग्य होने के साथसाथ सभी परिस्थितियों का सामना करने के लिए मन के आन्तरिक सन्तुलन की भी आवश्यकता होती है। शुभ प्राप्ति में हर्षातिरेक का और अशुभ प्राप्ति में द्वेष और विषाद का अभाव ये आत्मज्ञानी के लक्षण हैं।

अनासक्ति अपने आप में श्रेष्ठ जीवन का मार्ग नहीं है क्योंकि वह तो जीवन से निरन्तर पलायन ही समझा जायेगा। उसी प्रकार जगत् में आसक्त होना परवशता का लक्षण है।

जब उस मनुष्य के सामने प्रारब्धवशात् शुभ-अशुभ शोभनीय-अशोभनीय, अच्छी-मन्दी, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है तब वह अनुकूल परिस्थिति को लेकर अभिनन्दित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थिति को लेकर द्वेष नहीं करता।

ज्ञानी पुरुष में ये दोनों ही बातें नहीं होतीं वह तो जीवन में आने वाली सभी परिस्थितियों में समान भाव से रहता है। शीत ऋतु में घर के बाहर सूर्य की धूप सेंकना जहाँ आनन्द है वहीं उसकी चमक कष्ट का कारण भी है। सूर्य की चमक के प्रति असन्तोष प्रकट करना धूप के आनन्द को नष्ट करना है। बुद्धिमान पुरुष या तो उस चमक की ओर ध्यान नहीं देता अथवा चमक से अपने को सुरक्षित रखते हुये धूप का आनन्द उठाता है।

हमारा जीवन भी शुभअशुभ का मिश्रण है। यह तो उसका स्वभाव ही है। अत सदैव अशुभ के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुये उससे पलायन और शुभ की स्पृहा लगी रहना अविवेक के कारण ही सम्भव है। ज्ञानी पुरुष अपने नित्य स्वरूप में स्थित होने के कारण जीवन की उत्कृष्ट एवं निकृष्ट परिस्थितियों में पूर्ण वैराग्य के साथ रहता है।

स्थितप्रज्ञ, अनासक्त कर्मयोगी दिखने में साधारण मनुष्य की भांति ही कर्म करता दिखता है किंतु वास्तव में वह प्रत्येक परिस्थिति में विवेक से बिना विचलित और आसक्त हुए अपने कार्य अर्थात अपने कर्तव्य धर्म के पालन को करता है।

मोह ग्रस्त अर्जुन को युद्ध भूमि में दुर्योधन को दंड देने और उस के समर्थन में खड़े स्वजनों की परवाह न करते हुए, युद्ध करने का निर्णय भगवान ने दिया है। इस से यह ज्ञात होता है कि स्थितप्रज्ञ, अनासक्त और समत्व बुद्धि रखने वाला मनुष्य अपने कर्तव्य धर्म का पालन शांत एवम शुद्ध चित्त से अनासक्त भाव से बिना किसी फल की कामना से करता है।

जीवन में यदि विवेक जाग्रत होने से फल की आशा का त्याग भी हो जाए तो भी पूर्व के एवम परालब्ध के कर्म के फलों को भोगना ही पड़ता है। इसलिए कष्ट हो या सुविधा, दोनो को अनासक्त भाव से भोगना ही जीव का स्थितप्रज्ञ होने का लक्षण है।

अर्जुन का प्रश्न था कि स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता है यह श्लोक उसके उत्तर स्वरूप है। शुभअशुभ हर्ष और विषाद के द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त ज्ञानी पुरुष के लिये सब सुन्दर ही है। अपनी कल्पनाओं का आरोप किये बिना वस्तुएँ जैसी हैं वह उनका वैसा ही अवलोकन करता है। ऐसा स्थितप्रज्ञ पुरुष पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा ज्ञात व्यवहार के सभी नियमों से परे है।

स्थितप्रज्ञ का यह युग हमे हमारे उस समय के व्यवहार को दर्शाता है जब हम कार्य कारण के सिंद्धात के अनुसार फल प्राप्त कर रहे होते है। मान लीजिए आप कार से किसी रमणीक स्थान से गुजर रहे है और मौसम भी अच्छा हो। तभी कार बिगड़ जाए तो आप का व्यवहार में परिवर्तन होता है तो आप का आनंद परिस्थितिजन्य होगा किन्तु कार के बिगड़ने के बावजूद आप आगे के कार्य कार को पुनः सुधारना या अपने कार्य के विलम्ब या अपने कार्य की विफलता किसी से भी विचलित हुए बिना जारी रखते है तो आप का अंदर का आनन्द स्थायी है।

सुख-दुख में समान होने का अर्थ किसी भी कार्य फल का हेतु भी नही होना मानना चाहिये किन्तु अपने कार्य के अनुकूल परिस्थितियों में कर्म करने का प्रयास जैसे गर्मी में AC में कार्य करने से कार्य क्षमता बढ़ती है तो यह कर्म साधना है और AC न होने से मन मे क्षोभ एवम कार्य के प्रति उदासीनता हो तो यह सुख के प्रति हमारी कामना होगी। घुड़सवारी बिना घोड़े के

नही होती, घोड़े की कामना नही, कर्म की आवश्यकता है। घोड़ा न होने से कर्म न कर सकने तो त्यागना की अपेक्षा घोड़े का प्रबंध करना ही कर्म है।

नित्य तक पहुचने के लिए बुद्धि एवम मन का स्थिर होना आवश्यक है, स्थिर पानी मे ही आप तस्वीर देख सकते है अतः बुद्धि एवम मन की स्थिरता ही स्थितप्रज्ञ का तीसरा लक्षण है।

अब भगवान् आगे के श्लोक से स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है इस तीसरे प्रश्न का उत्तर आरम्भ करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 2.57।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.58॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"yadā saṁharate cāyaṁ,
kūrmo 'ṅgānīva sarvaśaḥ..I
indriyāṇīndriyārthebhyas,
tasya prajñā pratiṣṭhitā"..II

भावार्थ :

जिस प्रकार कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य इन्द्रियों को इन्द्रि य-विषयों से सब प्रकार से खींच लेता है, तब वह पूर्ण चेतना में स्थिर होता है॥५८॥

Meaning:

When, just like a tortoise withdraws its limbs from all sides, he withdraws his senses from objects, his intellect is steady.

Explanation:

The test of a yogi, devotee, or self-realized soul is that he is able to control the senses according to his plan. Most people, however, are servants of the senses and are thus directed by the dictation of the senses. That is the answer to the question as to how the yogi is situated. The senses are compared to venomous serpents. They want to act very loosely and without restriction. The yogi, or the devotee, must be very strong to control the serpents -- like a snake charmer. He never allows them to act independently. There are many injunctions in the revealed scriptures; some of them are do-not's, and some of them are do's. Unless one is able to follow the do's and the do-not's, restricting oneself from sense enjoyment, it is not possible to be firmly fixed in self control.

So far, Shri Krishna gave us a checklist of factors that could disturb our equanimity: joy, sorrow, gain and loss. Let's say, we detect that one of these factors has presented itself to us. What should we do? He gives a beautiful example from the world of nature to address this point.

Whenever a tortoise senses danger, he withdraws his limbs into his shell. The shell is strong enough to withstand any adverse situation. And once that situation passes, he brings his limbs back into the

world. Similarly, if we detect that an object, person or situation is about to disturb our equanimity, Shri Krishna advises us to bring our intellect into the picture, and completely withdraw our attention from that object, person or situation.

In one commentary on this topic, we learn that most animals have one sense organ as their weakness. The deer has sound, the elephant has touch, the moth has sight (fire), the fish has taste, and the bee has smell as its weakness. So for example, if a moth sees fire, it loses all control and flies straight into the fire. However, human beings have all five senses as their weakness, making this technique all the more important.

The most practical application of this technique is dieting. If we have a sweet tooth like we saw earlier, and we see a large slice of black forest chocolate cake in front of us, we have to apply the "tortoise technique" and move some steps away from that cake. It also means that we do not keep large stocks of chocolates, cakes etc. in our house because we may be tempted very easily.

There are three disciplines to convert the self-knowledge into emotional strength. One thing which is very important is Nidhidhyāsanam. In English, Vēdāntic meditation. Nidhidhyāsanam or Vēdāntic meditation. And what do you mean by Vēdāntic meditation; dwelling upon the teaching, which says I do not depend on anything to be happy.

we think that life is complete only when certain things and people are around and without them life is impossible we think; and that vāsana is so stronger, I have to break that vāsana; by repeatedly asserting I do not need the so-called people and situations to be happy.

One exercise is Indriya Nigrahaḥ. Indriya Nigrahaḥ means Regulation of the sense organs. Regulation of the sense organs; because until the knowledge become steady and contributes to emotional strength, we should not go through violent emotions. Violent emotions are detrimental to the assimilation of Vēdānta. Violent emotions are detrimental to Vēdāntic assimilation; therefore until the knowledge takes root, it has to be protected like a plant; when a plant is planted, initially it is not strong; any goat can come and eat; therefore, they keep protection; how long; until the plant becomes a very very strong tree. Once the plant has become a tree, then goat cannot destroy, you tie even an elephant, it cannot shake the tree.

world enters through five sense organs into the mind; and it is this world in the form of शब्दः स्पर्श, रूप, रसः, गन्ध śabdaḥ sparśaḥ, rupaḥ, rasaḥ, gandhaḥ. The five fold world is gate-crashing into my mind; Anything that provokes, rāgaḥ, krōdhaḥ, dvēṣaḥ, kāma, lōbhaḥ, mōha, those provoking things you avoid. If the other person argues and you are getting emotionally disturbed, just tell him that I am not ready for exchange, because my mind is disturbed.

Then the third exercise that Krishna prescribes is Manō Nigrahaḥ; Manō Nigrahaḥ means regulation of the thought process. You started talking to someone, and he entered into argument; even though you did not want; he entered into argument,and he said it is non-sense, etc. He said nonsense. Now I have such an ego that I cannot take, the word nonsense from that person; and I have quit that place, I did not want to get into argument further; but even though I have physically quit, I go on meditating upon Nonsense Nonsense. He said: I am nonsense. Therefore dwelling upon such an event, and building upon that; first time when he said nonsense I did not get that much annoyed; but I again and again re-lived that life, and that is my son; my own son; or my son-in-law or

somebody or the other, I again and again create that set up and again and again re-live those words, and as even anger become very big built up. Any emotion is a build up.

Here's another related point. In India, many aspects of spiritual practices are embedded in our customs, but sometimes we do not realize their significance. We may have noticed a sculpture of a tortoise outside many Indian temples, which is an instruction to withdraw our worldly matters and enter the temple with a devotional mindset. But instead of doing so, we tend to whisper about worldly matters into the tortoise's ear, which is exactly the opposite of the original intent.

The six shlokas beginning with this one comprise the answer to the third of Arjuna's four questions, "how does a person of steady wisdom sit", in other words, how does such a person control his organs?

Footnotes:

1. The example on 5 animals and their weaknesses is from Vivekachoodamani by Adi Shankarachaarya

।। हिंदी समीक्षा ।।

ज्ञानी पुरुष के आत्मानन्द समत्व और अनासक्त भाव का वर्णन करने के पश्चात् इस श्लोक में इन्द्रियों पर उसके पूर्ण संयम का वर्णन किया गया है। अत्यन्त उपयुक्त उपमा के द्वारा उसके लक्षण को यहाँ स्पष्ट किया गया है। जैसे कछुआ चलता है तो उसके छः अङ्ग दीखते हैं चार पैर एक पूँछ और एक मस्तक। परन्तु जब वह अपने अङ्गोंको छिपा लेता है तब केवल उसकी पीठ ही दिखायी देती है। ऐसे ही स्थितप्रज्ञ पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों को अपने अपने विषय से हटा लेता है। अगर उस का इन्द्रियों आदि के साथ किञ्चिन्मात्र भी मानसिक सम्बन्ध बना रहता है तो वह स्थितप्रज्ञ नहीं होता और कछुवा किसी प्रकार के संकट का आभास पाकर अपने अंगों को समेट कर स्वयं को सुरक्षित कर लेता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह अपनी इच्छा से इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त तथा उनमें प्रवृत्त भी कर सकता है।

वेदों और शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त हो सकता। ज्ञानी पुरुष समत्व बुद्धि, स्थितप्रज्ञ या अनासक्ति की विवेचना भी बहुत अच्छे से कर सकता है, किंतु यह बाहरी आवरण की भांति शरीर से लिपटा हुआ ज्ञान है। वास्तविक ज्ञान जो आत्म सात हो, वही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से इंद्रियां जो भी ग्रहण करती है उस से मनुष्य राग, क्रोध, काम, वासना, द्वेष, लोभ और मोह में फस कर रह जाता है। अतः स्थितप्रज्ञ, समत्व बुद्धि और अनासक्ति के तीन गुणों को अपनाने का विधि का वर्णन कछुवे के उदाहरण से भगवान यहां देते है।

मनुष्य को निध्यासन, इंद्रिय निग्रह एवम मनोनिग्रह द्वारा अपने को मजबूत करते रहना होगा। इस के अनावश्यक बहस, वार्तालाप, अधिक मिलना जुलना, स्त्री के संग उठना बैठना, स्वादिष्ट भोजन, शयन आदि का त्याग जरूरी है। किसी पेड़ को लगाते वक्त जब वह छोटा पौधा होता है तो अधिक ध्यान देना होता है, जैसे हवा पानी एवम जानवरो से सुरक्षा आदि, किंतु पेड़ बनने के बाद वह स्वयं ही मजबूत हो जाता है वैसे ही योगी पुरुष को शुरू में उपरोक्त तीनों विधि से मन और इन्द्रियों को वश में रखना होता है, फिर एक बार अनासक्ति, समत्व बुद्धि और स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त होने के बाद थोड़े से प्रयास से ही वह अपनी स्थिति में रह सकता है।

वेदान्त के प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार अन्तकरण की चैतन्य युक्त वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य देश स्थित विषय का आकार ग्रहण करती हैं और तब उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया को कठोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है कि मानों चैतन्य का प्रकाश मस्तकस्थ सात छिद्रों (दो नेत्र दो कान दो नासिका छिद्र और मुख) के द्वारा बाहर किरण रूप में निकलकर वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इस प्रकार एक विशेष इन्द्रिय द्वारा एक विशिष्ट वस्तु प्रकाशित होती है जैसे आँख से रूप रंग और कान से शब्द। भौतिक जगत् में हम विद्युत का उदाहरण ले सकते हैं जो सामान्य बल्ब में प्रकाश के रूप में व्यक्त होकर वस्तुओं को प्रकाशित करती है और वही विद्युत क्षकिरण नलिका से गुजर कर स्थूल शरीर को भेदकर आंतरिक अंगों को भी प्रकाशित कर सकती है जो सामान्यत प्रत्यक्ष नहीं होते।

आदि गुरु शंकराचार्य के अनुसार पशु में हिरण आवाज से, पतंग आग या रोशनी से, हाथी स्पर्श से, मधुमक्खी गंध से और मछली स्वाद से नियंत्रण में नही रहती तो प्रत्येक व्यक्ति में इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरन्तर प्राप्त होने वाली विषय संवेदनाओं के कारण मन में अनेक विक्षेप उठते रहते हैं। नेत्रों के अभाव में रूप से उत्पन्न विक्षेप नहीं होते और बधिर पुरुष को अपनी आलोचना सुनाई नहीं पड़ती जिससे कि उस के मन में क्षोभ हो यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह स्वेचछा से इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त कर सकता है।

इंद्रियजनित इच्छाओं की आपूर्ति से इच्छाएं पूर्ण नही होती और और और की रट शुरू हो कर भड़क जाती है जैसे अग्नि को शांत करने के उस में घी डालना है, उस से वह शांत न हो कर भड़क जाती है। इसलिए इंद्रिय एवम मनोनिग्रह से इच्छाओं को उत्पन्न ही नही होने क्षमता पैदा करना है।

इन्द्रिय संयम की इस क्षमता को योगशास्त्र में प्रत्याहार कहते हैं जिसे योगी प्राणायाम की सहायता से प्राप्त करता है। ईश्वर की रूप माधुरी में प्रीति होने के कारण भक्त के मन में विषयजन्य विक्षेपों का अभाव स्वाभाविक रूप से ही होता है वेदान्त में इसे उपरति कहते हैं जिसे जिज्ञासु साधक अपने विवेक के बल पर विषयों की परिच्छिन्नता और व्यर्थता एवं आत्मा के आनन्दस्वरूप को समझकर प्राप्त करता है।

किसी भी विक्षेप का कारण हमारे अन्तःकरण की छुपी हुई कामना या लालसा से जो इन पांच इन्द्रियों द्वारा जब भी कोई ऐसी आती है तो हम उस लालसा में फस जाते है जैसे धन देख कर लोभ, सुंदर स्त्री देख कर काम एवम स्वादिष्ट मिठाई देख कर भोग आदि। इस का प्रथम उपचार उपवास है, यानी कछुवे की भांति अपने को सिकुड़ लेना। उपवास में भी यदि हम हमारी लालसा की पूर्ति करते है, सहगार में अनाज के अतिरिक्त अन्य वस्तु का सेवन और दिन भर TV इस आमोद प्रोमद तो उपवास नही बकवास करते है। इन्द्रियों का नियंत्रण ही उपवास है। तांकि अंत निहित हमारी कामनाओं को रोक सके। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम होना, जो भी कर्म फल मिले उस को स्वीकार करना एवम किसी भी कर्म फल की आशा एवम हेतु नही बनना जरूरी है अतः स्थितप्रज्ञ अपने अंदर की कामनाओं को बाह्य जगत से प्राप्त होने से अपनी इन्द्रियों द्वारा भी नियंत्रित करने का प्रयास करता है।

ज्ञान अंदर से उपजता है तो भटकाव बाहर से अंदर आता है। मन चंचल एवम अस्थिर प्रवृति का होता है, जितना हम ज्ञानेंद्रियों से ग्रहण करते है, मन उतना ही अधिक अधिक की रट लगाता है। इन्द्रियों को विषय वस्तुओं के उपभोग की ओर से भटकाव रोकना ही कछुवे की भांति इन्द्रियों को अपने मे समेट कर नियंत्रित करना है।

केवल इन्द्रियों का विषयों से हट जाना ही स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं है इसे आगे के श्लोकमें बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.58 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.59॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते॥

"viṣayā vinivartante,
nirāhārasya dehinaḥ..I
rasa-varjaṁ raso 'py asya,
paraṁ dṛṣṭvā nivartate"..II

भावार्थ :

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले मनुष्य के विषय तो मिट जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति बनी रहती है, ऐसे स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य की आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके मिट जाती है॥५९॥

Meaning:

Objects turn away from the fasting individual, but their taste remains. For the individual who has realized the absolute, the taste also turns away.

Explanation:

In the last shloka, we encountered the "tortoise technique" which taught us how to guard ourselves when we encounter factors that can cause us agitation. It does work assuming we remain aware and alert about our thoughts. But if we have strong predispositions or vaasanaas towards any object, person or situation, the memory or "taste" of that factor will keep popping up in our mind. So in this shloka, Shri Krishna provides an overview of how one begins to address the removal of deep rooted predispositions, which is one of the primary goals of any spiritual teaching.

Addiction to anything is of two types; one is the sensory addiction; and another is mental addiction; mental addiction is deeper than sensory addiction. Therefore, even if a person gives up a sensory addiction, but still mental addiction lingers for some time. That is why many people quit certain habit; but maintaining that is an extremely difficult job during that period; alcoholics during that period must be extremely careful; because once he violates, again he will get back to the old addiction.

Let's go back to the black forest chocolate cake example from last time. You saw a piece of cake, you realized that you may succumb to it, and you took a few steps back. But a little later, the taste of that cake from a prior experience will pop up in your mind and begin to torment you. All you can think of for a while will be cake. This is what makes dieting difficult. Our mind keeps pushing us towards food each time we try to restrain ourselves.

Unless one is transcendentally situated, it is not possible to cease from sense enjoyment. The process of restriction from sense enjoyment by rules and regulations is something like restricting a diseased person from certain types of eatables. The patient, however, neither likes such restrictions nor loses his taste for eatables. Similarly, sense restriction by some spiritual process like ashtanga-yoga, in the matter of yama, niyama, asana, pranayama, pratyahara, dharana, dhyana, etc., is recommended for less intelligent persons who have no better knowledge. But one who has tasted the beauty of the Supreme , in the course of his advancement in consciousness, no longer has a taste for dead, material things. Therefore, restrictions are there for the less intelligent neophytes in the spiritual advancement of life, but such restrictions are only good until one actually has a taste for consciousness.

How they remain away? Physically away from them; but rasavarjaṃ; except the mental fancy for those objects; even though physically one is away, mentally there is fantasy going; imagination going; that is there. Many people become Sanyāsis and go to Rishikesh and Uttarakasi and all, and thereafterwards they envy every grihastha who is visiting and they feel that they have committed a mistake. Krishna is going to talk about that in the fourth chapter also; many people become physical sanyāsis, but mentally they are dwelling upon only worldly pleasures; such people are called hypocrites; they will face more problems.

So what is the solution? In the shloka, Shri Krishna says that the taste also turns away when we "realize the absolute". What he means is that we need to set our goal on something higher than ourselves, and hold on to that goal throughout our life. The higher the goal, the greater chance that we will get rid of our predispositions.

When we begin any diet, we typically set a goal, e.g. "I have to lose 2 kg in 3 weeks". Now, with this shloka in mind, we could try to set a higher goal, which could be "I need to lose this weight so that I can stay healthy to take care of my family". Or it could be "I need to lose this weight so that I can fulfill my svadharma in the best possible manner".

It is better that a person remains in the world and become a mature person and grows out of it. That is why we say growing out is more important than suppression; suppression is dangerous; growing out is very important; and therefore, until a person grows out, the rasa continues; rasa means what fancy; the desire; the craving; the yearning; the urge continues, only the sense objects are gone; and when will this also go away; he says; asya rasaḥ api nivartantē; even this craving for sense pleasures will go away, when it is replaced by when the mind's vacuum is replaced by spiritual anānda.

“God is all-bliss. When the soul attains God, it becomes satiated in bliss.” Then, one naturally develops dispassion toward the lower sensual pleasures. This detachment that comes through devotion is firm and unshakeable.

Therefore Jñāni enjoys the world also; but the worldly enjoyment is a bonus to him; he does not depend on that. So therefore he says rasavarjaṃ rasō'pyasya paraṃ dṛṣṭvā nivartatē.

In later chapters, the Gita goes into great detail as to how we can gradually set higher and higher goals and ultimately set the highest goal, the "absolute" goal mentioned in this shloka, so that we can burn away all of our predispositions.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य निराहार दो तरह से होता है (1) अपनी इच्छा से भोजन का त्याग कर देना अथवा बीमारी आने से भोजन का त्याग हो जाना और (2) सम्पूर्ण विषयों का त्याग कर के एकान्त में बैठना अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना।

यहाँ इन्द्रियों को विषयों से हटानेवाले साधक के लिये ही निराहारस्य पद आया है। रोगी के मन में यह रहता है कि क्या करूँ शरीर में पदार्थों का सेवन करने की सामर्थ्य नहीं है इस में मेरी परवशता है परन्तु जब मैं ठीक हो जाऊँगा शरीर में शक्ति आ जायगी तब मैं पदार्थों का सेवन करूँगा। इस तरह उस के भीतर रसबुद्धि रहती है। ऐसे ही इन्द्रियों को विषयों से हटाने पर विषय तो निवृत्त हो जाते हैं पर साधक के भीतर विषयों में जो रसबुद्धि सुखबुद्धि है वह जल्दी निवृत्त नहीं होती।

जिन का स्वाभाविक ही विषयों में राग नहीं है और जो तीव्र वैराग्यवान् हैं उन साधकों की रसबुद्धि साधनावस्था में ही निवृत्त हो जाती है। परन्तु जो तीव्र वैराग्य के बिना ही विचारपूर्वक साधन में लगे हुए हैं उन्हीं साधकों के लिये यह कहा गया है कि विषयों का त्याग कर देने पर भी उन की रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती।

अर्जुन के मन में शंका उत्पन्न होती है कि संभवत योगी का इन्द्रिय संयम भी क्षणिक अनित्य ही हो जो अनुकूल या प्रलोभनपूर्ण परिस्थितियों में टूट जाता हो। उस की इस शंका का निवारण यहाँ किया गया है।

यदि आप दुकानों से ग्राहकों तक उपभोग के विषय की गति का अवलोकन करें तो इस सिद्धांत को स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं। उपभोग की वे वस्तुयें केवल उन्हीं लोगों के घर पहुँचती हैं जो उनकी तीव्र इच्छा किये हुये उन वस्तुओं को पाने के लिये प्रयत्न कर रहे होते हैं। मद का भण्डार तब खाली हो जाता है जब बोतलें चलकर मद्यपियों की आलमारियों को भर देती

हैं लुहार के बनाये हल केवल किसान के घर जाते हैं और न कि किसी कलाकार कवि चिकित्सक या वकील के घर में। इसी प्रकार उन विषयों के इच्छुक लोगों के पास ही वे विषय पहुँचते हैं। भोगों के त्यागी व्यक्ति से भोग की वस्तुयें दूर ही रहती हैं।

इस तथ्य को समझना कठिन नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि अनुभव की एक अवस्था विशेष में प्राप्त अनिष्ट वस्तुयें और दुख दूसरी अवस्था में उसी प्रकार नहीं रहते। स्वप्नावस्था का राज्य मेरी जाग्रदवस्था के दारिद्य को दूर नहीं करता किन्तु जाग्रदवस्था का दारिद्य भी स्वप्न के राज्य का उपभोग करने से मुझे वंचित नहीं कर सकता

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में रहते हुए अहंकार ने असंख्य विषय वासनायें अर्जित कर ली हैं। परन्तु अवस्थात्रय अतीत शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचान कर अहंकार ही समाप्त हो जाता है तब ये वासनायें किस पर अपना प्रभाव दिखायेंगी।

इस स्थितप्रज्ञ की रसबुद्धि परमात्मा का अनुभव हो जाने पर निवृत्त हो जाती है। रसबुद्धि निवृत्त होने से वह स्थितप्रज्ञ हो ही जाता है यह नियम नहीं है। परन्तु स्थितप्रज्ञ होने से रसबुद्धि नहीं रहती यह नियम है।

कछुवे की भांति अपने को सिकुड़ लेने से यदि इच्छाएं समाप्त हो सकती तो शायद सभी स्थितप्रज्ञ बनते यह तो मात्र एक विधि है जिस से नियंत्रण शुरू होता है। जब तक आप की बुद्धि पूर्ण परमात्मा को प्राप्त नही होती, इच्छाएं कभी नही मरती। यह शरीर प्रकृति का है, मन एवम बुद्धि दोनों ही इच्छाओं की जनक है इन्हें कोई कैसे समाप्त कर सकता है, संसार मे प्रोलोभन जब तक सामने नही आता वैराग्य भी तब तक रहता है। आज के ढोंगी बाबा, मंदिर के पुजारी, जनता के सेवक सभी तो इच्छाओं के नियंत्रण का ढोल पीटते है किंतु खुद अपनी इच्छाओं के परवश है। उपवास, भजन, तीर्थ यात्रा, ध्यान या तप इच्छाओं को दबा सकता है किंतु समाप्त नही कर सकता जब तक आप की बुद्धि एवम मन नित्य से एकाकार नही होते।

अल्पज्ञानी व्यक्तियों के लिये इन्द्रिय संयम के लिये पतंजलि योग सूक्त यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवम ध्यान जैसे नियम एवम विधि बताई हुई है। किंतु विषय मे भोग वृति की समाप्ति के लिये जब तक परमात्मा की ओर मन नही लगता, यह मन बाहरी सुखों की ओर आकर्षित होता ही रहता है। किन्तु एक बार परमात्मा की ओर आकर्षण हो जाये तो स्वतः ही उस आनन्द के कारण इन्द्रीयभोगो की इच्छा से भी निवृति हो जाती है।

भोग्य वस्तुओं में वासनाका उदय न होना वैराग्य की चरम सीमा है। जिस अवस्था में अहंभाव का उदय नहीं होता वह बोध (ज्ञान) की चरम सीमा है। और जिस ब्रह्म-आत्मा के ऐक्यबोध की अवस्था में चित्तवृत्ति विलीन होकर पुनः उत्पन्न नहीं होती-- यह उपरति की सीमा समझना चाहिए।

जिसके मनसे राग-द्वेष आदि संसार - विषयक कल्पनाएं शान्त हो गयी हैं, जो अंग-प्रत्यंगोवाला देहधारी होकर भी देहात्मबोधसे रहित है , जिसका चित्त जन्म-मरण आदि की चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त हो गया है , उसे जीवन- मुक्त कहते हैं।

अर्जुन सन्यासी होने की बात कह रहा था, सन्यास की भावना उस के मन में युद्ध भूमि में स्वजनों को देख कर उत्पन्न हुई थी। वह पहले युद्ध करने को तैयार था। अतः उस का वैराग्य क्षणिक था, जो कुछ समय तक ही रह पाता और संन्यासी होने के बावजूद वह युद्ध से विमुख नही हो पाता। परिस्थिति वश जो वैराग्य या त्याग आता है वह परिस्थिति के बदलने से बदल जाता है। क्योंकि मन और मस्तिष्क में लालसा या इच्छा बनी रहती है। अतः वासना का त्याग शरीर और इन्द्रियों के दमन से नही होता, यह योगाभ्यास से और ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है।

जिस मनुष्य को ईश्वर की कृपा मिल जाती है, वह वैराग्य अर्थात प्रकृति जनित सुखों से मुक्त हो जाता है और प्रकृति के परे स्थायी आनंद को प्राप्त हो जाता है। उस का रोम रोम आत्मा के सत चित आनंद में रम जाता है, इसलिए प्रकृति के साधनों में उस को न सुख और न ही दुख होता है। किंतु कर्मयोगी होने से अनासक्त भाव से निर्योगी हो वह कर्म करता हुआ, प्रकृति के साधनों का भी भोग करता है।

रस की निवृत्ति न हो, इस के लिए क्या आपत्ति है इसे आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.59 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.60॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

"yatato hy api kaunteya,
puruṣasya vipaścitaḥ..I
indriyāṇi pramāthīni,
haranti prasabhaṁ manaḥ"..II

भावार्थ :

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी प्रबल तथा वेगवान हैं कि जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करता है, उस विवेकी मनुष्य के मन को भी बल-पूर्वक हर लेतीं है ॥६०॥

Meaning:

For the senses are so turbulent, O Kaunteya, that they forcibly seize the mind of a even a wise individual who perseveres.

Explanation:

Earlier, we saw that if we have predispositions to objects, they will result in thoughts popping up in our mind.

The senses are like wild horses that have been newly harnessed. They are impetuous and reckless, and hence, disciplining them is an important battle that sādhaks have to fight within themselves. Therefore, those desirous of spiritual growth should carefully strive to tame the indulgent senses, which are colored with lust and greed, or else they have the power to sabotage and derail the spiritual process of even the most well-intentioned yogis.

Krishna uses even one more word; vipaścitaḥ; vipaścitaḥ, even for a learned person; he has studied the Gita; he has studied the scriptures; but even an informed person in a moment of weakness can be distracted and therefore let us be alert. Krishna also said this exercise is not that easy, sense organs are very much disturbing; they are pramādini, they are very very powerful; which means one has to be very alert with regard to that. Therefore, Krishna uses the word 'yatataḥa api'. Even a person who has a value for sensory restraint, if he is negligent for a moment, the sense organs drag.

There are many learned sages, philosophers and transcendentalists who try to conquer the senses, but in spite of their endeavors, even the greatest of them sometimes fall victim to material sense enjoyment due to the agitated mind.

Even Visvamitra, a great sage and perfect yogi, was misled by Menaka into sex enjoyment, although the yogi was endeavoring for sense control with severe types of penance and yoga practice. And, of course, there are so many similar instances in the history of the world. Therefore, it is very difficult to control the mind and senses without being fully Krishna conscious.

In another case philosophically present in Ramayaṇa; Sita was very much with Rāma, which is the Brahmsnanda, which is the spiritual truth. Maricha, the golden deer, represent the sensory attraction. Sita is naturally with Rama; in spite of Rama being around, one moment Sita also got fascinated by golden deer; and what is the consequence, the golden deer has its own method of dragging, dragging, dragging, and the ultimate result is permanently, or at least Sita lost Rama for a long time. Rama represents spiritual ananda. Similarly even though atma is with us all the time, the golden deer of the world can trap me; and therefore be alert.

This will be true even if we are not near those objects. Some of us may raise an objection to this statement. We may ask: "As long as I control my actions, what difference does it make if I think about an object such as a chocolate cake? It won't matter because I won't eat it, Correct?"

In this shloka, Shri Krishna responds to the objection. He says that thoughts can catch us at a time of weakness, when we are least alert, and undo all of our self control. These thoughts are generated by our predispositions or vasanaas.

Vasanaas are like dormant embers of coal that burn stronger when the senses add fuel to their fire. They are the seeds of thoughts, or "thought generators". This means that self control of actions is effective, but only to a certain extent, because self control does not tackle vasanaas. It is like trimming a weed instead of uprooting it completely.

Another aspect is pointed out here. One may practice conquering one's senses for a long time. That person can become an advanced practitioner through years of diligence and perseverance. He may come to the conclusion that all of his desires and vasanaas have been vanquished. But the senses and the mind are extremely clever; they will wait for months, even years, and then generate a thought that can destabilize his equanimity in a second.

Therefore Krishna's advice is to avoid violent emotional turbulence. And the cause is the five sense organs, which let the world indiscriminately; but that does not mean you have to close the sense organs, because sense organs are required for transactions, we need not close them; we need not indiscriminately use them; Krishna says intelligently use the sense organs. This is called regulation of the senses; which is called Damaḥ.

In summary, it is not enough to control our actions in order to maintain equanimity, we have to remain alert and watch our thoughts as well.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जो स्वयं यत्न करता है साधन करता है हरेक काम को विवेकपूर्वक करता है आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करता है दूसरों का हित हो दूसरों को सुख पहुँचे दूसरों का कल्याण हो ऐसा भाव रखता है और वैसी क्रिया भी करता है जो स्वयं कर्त्तव्य- अकर्त्तव्य, सार - असार को जानता है और कौन कौन से कर्म करने से उन का क्या क्या परिणाम होता है इस को भी जाननेवाला है ऐसे विद्वान पुरुष के लिय यहाँ यततो ह्यपि पुरुषस्य विपश्चितः पद आये हैं। प्रयत्न करनेवाले ऐसे विद्वान् पुरुष की भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उस के मन को बलपूर्वक हर लेती हैं विषयों की तरफ खींच लेती हैं अर्थात् वह विषयों की तरफ खिंच जाता है आकृष्ट हो जाता है।

इसका कारण यह है कि जब तक बुद्धि सर्वथा परमात्मतत्त्व में प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती बुद्धि में संसार की यत्किञ्चित् सत्ता रहती है विषयेन्द्रिय सम्बन्ध से सुख होता है भोगे हुए भोगों के संस्कार रहते हैं तब तक साधन परायण बुद्धिमान् विवेकी पुरुष की भी इन्द्रियाँ सर्वथा वश में नहीं होतीं। इन्द्रियों के विषय सामने आने पर भोगे हुए भोगों के संस्कारओं के कारण इन्द्रियाँ मनबुद्धि को जबर्दस्ती विषयों की तरफ खींच ले जाती हैं। ऐसे अनेक ऋषियों के उदाहरण भी आते हैं जो विषयों के सामने आने पर विचलित हो गये। अतः साधक को अपनी इन्द्रियों पर कभी भी मेरी इन्द्रियाँ वश में है ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये और कभी भी यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ। इस का एक उदाहरण महृषि विश्वामित्र जी का है जो मेनका के सामने अपने काम को नही रोक पाए।

राम चरित मानस में भगवान राम और सीता भी मरीचि द्वारा छल स्वरूप में स्वर्ण मृग बन कर सामने आने पर, स्वयं को अपने नियत्रित स्वभाव रखते हुए भी संभाल नहीं पाए और यह जानते हुए भी स्वर्ण मृग नही होते, सीताजी जो स्वयं मानवातार में ब्रह्म स्वरूप है, लोभ में अपने को नियंत्रित नही कर सकी और मृग को पाने की जिद्द कर बैठी। इस के पश्चात भी जब मरीचि (स्वर्ण मृग) ने हाय सीते! हाय लक्ष्मण ! करते हुए पुकारा तो भी लक्ष्मण जी के लाख समझाने पर भी वह लक्ष्मण पर ही शक करने लगी। इन्द्रियों के वेग में विवेक खोने का नतीजा सभी जानते है।

जिस प्रकार कुंड में पांच नालियो से जल आता हो तो जब तक पांचों नाली के द्वार बंद न हो, कुंड का जल स्थिर नही हो सकता। इसी प्रकार जब तक पांचों ज्ञान इंद्रियां वश में न हो, तब तक मन चंचल ही बना रहेगा। IAS, IRS, IPS और सांसद में नेता पद लेने से पूर्व शपथ लेते है किंतु उन की शपथ इन्द्रियों से अनियंत्रित होने से कार्य क्षेत्र में सफल उन के लोभ, स्वार्थ और वासना से पूर्ण नही हो पाती।

महृषि व्यास के अनुसार इन्द्रियों पर विजय बिना आत्मसाक्षात्कार के संभव नही और आत्म दर्शन इन्द्रिय विजय के आधीन है, अतः ज्ञाननिष्ठा में इन्द्रियों पर सम्पूर्ण रूप से विजय कर पाना अत्यंत कठिन है, यह बोलने में जितना सरल दिखता है, वास्तव में उतना ही कठिन है। शायद ही कोई विरला देवता या ऋषि होगा जो कभी भी इन्द्रियों द्वारा बलात हरण न किया हो।

मन प्रकृति का ही तत्व है, प्रकृति का आकर्षण मन का स्वाभाविक गुण है और प्रकृति के सत-रज-तम तीन गुणों में ही मन रमता रहता है। इसलिये इस को वश में रखना एवम परब्रह्म की ओर केंद्रित करना ही योग है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति समस्त इन्द्रियों को वश में रखता है, प्रस्तुत श्लोक मन की चंचलता एवम इन्द्रियों को वश में रखने की आवश्यकता को जोर दिया गया एवम इसे किस प्रकार करे यह आगे बताया है।

अब तक के अपने प्रवचन में भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानी पुरुष के इन्द्रिय संयम की सार्मथ्य पर विशेष बल दिया है। भारत में दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों को अव्यावहारिक होने पर स्वीकारा नहीं जाता। अत गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उन साधनों का भी उपदेश देते हैं जिनके अभ्यास से वह भी स्थितप्रज्ञ के पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है।

सत्त्व (विवेकशीलता) रज (क्रियाशीलता) और तम (निष्क्रियता) इन तीन गुणों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्तकरण पर पड़ता है। तमोगुण के आवरण तथा रजोगुण के विक्षेप के कारण जब सत्त्व गुण भी दूषित हो जाता है तब अनेक दुखों को हमें भोगना पड़ता है।

यदि इन्द्रियों पर पूर्ण संयम न हो तो वे मन को विषयों की ओर बलपूर्वक खींच ले जायेंगी जिसका एक मात्र परिणाम होगा दुख। इस श्लोक में स्वीकार किया गया है कि ऐसी स्थिति किसी बुद्धिमान साधक की भी कभीकभी होती है। यह वाक्य भयभीत करने या किसी को निरुत्साहित करने के लिए नहीं समझना चाहिए। अर्जुन को केवल इस बात की सावधानी रखने को कहा गया है कि वह कभी अपने मन का बुद्धि पर आधिपत्य स्थापित न होने दे। सावधानी की यह सूचना अत्यन्त समयोचित है।

अध्यात्म साधना का अभ्यास करने वाले अनेक साधकों के पतन का कारण एक ही है। कुछ वर्षों तक तो वे संयम के प्रति सजग रहते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें आनन्द भी मिलता है। तत्पश्चात् स्वयं पर अत्यधिक विश्वास के कारण तप के प्रति उनकी जागरूकता कम हो जाती है और तब स्वाभाविक ही इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन को विषयों में खींच ले जाती हैं और साधक की शान्ति को नष्ट कर देती हैं।

गत तीन श्लोक से इन्द्रियों को वश में करने के बारे में बताते हुए यह कहना कि यह कभी भी, कंही भी और किसी भी प्रकार से समाप्त नही होती इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर प्रकृति के अंतर्गत आता है, मन एवम बुद्धि भी प्रकृति में है। यह सब अनित्य है अतः जैसे आज है वैसे कल नही रहते, इसलिए वासना भी आज यदि नियंत्रण में है किंतु कल शरीर के परिवर्तन स्वरूप कह नही सकते कि वह नियंत्रण के रहेगी।

मानवीय मूल्यों में सर्वश्रेष्ठ होना यदि असम्भव भी हो तो भी उस के जितने भी पास होंगे वह हमारे विकास के अच्छा ही होगा। अतः रसबुद्धि को दूर कैसे किया जाय इस का उपाय आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।।2.60।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.61॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"tāni sarvāṇi saṁyamya,
yukta āsīta mat-paraḥ..I
vaśe hi yasyendriyāṇi,
tasya prajñā pratiṣṭhitā"..II

भावार्थ :

जो मनुष्य इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखते हुए अपनी चेतना को मुझमें स्थिर कर देता है, वही मनुष्य स्थिर-बुद्धि वाला कहलाता है॥६१॥

Meaning:

The disciplined individual should restrain them all and sit with devotion to me. Having brought the senses under control, his wisdom is steady.

Explanation:

Shri Krishna begins to go deeper into the subject of how senses and thoughts impact our lives. This subject comes under the umbrella of the "sthitaprajna lakshana", or the signs of a wise individual, and comprises the final portion of the second chapter. As a reminder, the four major portions of the second chapter are : 1) Shri Krishna convincing Arjuna that his logic was incorrect 2) providing the correct logic and understanding to Arjuna 3) providing the practical aspects of the teaching 4) describing the attributes of the man of steady wisdom. We are the the final topic right now.

In the last shloka, Shri Krishna described how the turbulent senses can ruin the mind. In this shloka, he provides a prescription to remedy the impact of the senses: set a goal that is higher than yourself, and channel your mind and your senses towards that higher goal. The senses, along with the mind, will detach from material objects only when they are shown a higher goal. They cannot detach without attaching themselves to a higher goal. Otherwise, we end up forcibly suppressing the senses, which we all know is not healthy.

Similarly, the sense organs are like such dogs; we are supposed to lead them; but often they lead us and therefore do not allow that to happen.

This shloka also hints at the topic of meditation, which is a disciplined technique of fixing the mind to a higher goal. In meditation, an individual sits and gradually brings attention to one and only one thought. And that thought is nothing but the higher goal that we have set for ourself. The most unique thing in this shloka is that Shri Krishna uses the word "me", in other words, he asks us to make him the higher goal. In this manner, this shloka becomes the seed for chapters seven to twelve of the Gita on the topic of bhakti or devotion.

Now, at this stage in the spiritual journey, if you feel comfortable with making devotion to Shri Krishna your ultimate goal, that is fine. Otherwise, you can set any selfless goal that is greater than you - for example, serving your parents, serving your family, serving your organization, serving the country etc.

Senses are difficult to control but easy to divert to higher goal. Therefore, Shri Krishna asks to divert senses to him Like Ambarish as per shrimad bhagwatam engaged his mind in remembering the lotus feet of Shree Krishna. He engaged his tongue in chanting the wonderful names, forms, virtues, and pastimes of God. He used his ears in hearing narrations about the Lord, his eyes in seeing the beautiful deity of God in the temple, his sense of touch in massaging the feet of devotees of the Lord, his nostrils in smelling the aroma from fragrant objects that had been offered to the Lord in worship, his feet in circumambulating the temple, and his head in paying obeisance to God and His devotees. In this way, he subdued all his senses by engaging them in the service of the Supreme Lord."

Setting a higher goal is the only way that your senses and your mind will come under control. It also ensures that your ego does not puff up thinking that it has controlled the senses.

।। हिंदी समीक्षा ।।

एक कुशल प्रवक्ता के अनुसार भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के मोहयुक्त विषाद के प्रत्येक तर्क का कुशलता पूर्वक खंडन इस प्रकार किया, जिस से अर्जुन को यह तो समझ में आ गया कि जिस बुद्धि से वह स्वयं को ज्ञानी और शास्त्रवेत्ता समझ कर तर्क कर रहा था, वह अध्यात्म ज्ञान से बहुत दूर सांसारिक ज्ञान मात्र है। अतः अब उस की रुचि आध्यात्मिक ज्ञान की ओर बढ़ गई है। इस श्रेणी में प्रथम समत्व बुद्धि, स्थितप्रज्ञ और अनासक्त कर्मयोगी के विषय में हम पढ़ रहे है। भगवान इन्द्रियों को वश में करने के उपाय पर विचार करते हुए आगे कहते है।

अध्यात्म साम्राज्य के सम्राट आत्मा के पतन का मूल कारण ये इन्द्रियां ही हैं। अर्जुन को यहां सावधान किया गया है कि वह पूर्णत्व प्राप्ति के लिये इन्द्रियों और विषयों के अनियन्त्रित एवं उन्मुक्त विचरण के प्रति सतत सजग रहे। आधुनिक मनोविज्ञान गीता के इस उपदेश पर नाकभौं सिकोड़ेगा क्योंकि जर्मन मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार वासनायें मनुष्य की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति हैं और उनके संयमित करने का अर्थ है उन का अप्राकृतिक दमन।

पाश्चात्य देशों में संयम का अर्थ दमन समझा जाता है और मन के स्वास्थ्य की दृष्टि से दमन को कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। परन्तु वैदिक दर्शन में कहीं भी दमन का उपदेश नहीं दिया गया। वहाँ तो बुद्धि की उस परिपक्वता पर बल दिया गया है जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व खिल उठे और श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति से निकृष्ट की इच्छा अपने आप ही छूट जाये। वहाँ इच्छाओं का दमन नहीं वरन् उनसे ऊपर उठने को कहा गया है।

पाश्चात्य संस्कृति एवम वैदिक संस्कृति में मूलभूत अंतर विषयो के सुख का ही है। वैदिक संस्कृति मानती है कि विषयो में सुख हो सकता है किंतु इस कि आसक्ति में सुख बुद्धि भ्रम ही है क्योंकि प्रथम तो विषयो का उपार्जन अनेक कष्ट व दोषों से

होता है, दूसरा प्राप्त होने बाद भी अपने विपरीत गुणों को साथ विषय अतिश्यतादी दोष कर के राग-द्वेष के कारण बनते है एवम तीसरा यह स्थायी न होने से इन के क्षय का भय बना रहता है।

इस का उदाहरण कुत्ते को जंजीर से बांध कर घुमाने ले जाने वाला व्यक्ति यही मानता है कि वह कुत्ते को नियंत्रित कर के घुमा रहा है, जब कि कुत्ता अपने स्वभाव से इधर उधर घूमते हुए वास्तव में अपने मालिक को ही घुमाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इस वैदिक सिद्धांत को यहां अत्यन्त सुन्दर ढंग से स्पष्ट करते हैं। वे आत्म विकास की साधना के विधेयात्मक (जो करना चाहिये) और निषेधात्मक (जो त्यागना चाहिये) दोनों पक्षों पर प्रकाश डालते हैं।आत्मविकास के जो प्रतिकूल भोग और कर्म हैं उन्हें त्यागकर अनुकूल साधना का अभ्यास करना चाहिये।

विधेयात्मक साधना में भगवान् शिष्य को मत्पर होने का उपदेश देते हैं। मत्पर का अर्थ है जो मुझ परमात्मा को ही जीवन का परम लक्ष्य समझता है। युक्त आसीत मत्पर इस अर्ध पंक्ति में ही गीता द्वारा आत्मविकास की पूर्ण साधना बतायी गयी है। मत्पर होने का अर्थ ही अपनी समस्त इन्द्रियों को भक्ति भाव एवम आचरण द्वारा परमात्मा में लगा देना, जैसे हम मीरा बाई या चैतन्य महाप्रभु आदि के रूप में देखते या पढ़ते है। मनुष्य को पशु के स्तर पर ले जाने वाली अनैतिक एवं कामुक प्रवृत्तियां उसके असंख्य जन्मजन्मान्तरों में किये विषयोपभोग और उनसे अर्जित वासनाओं का ही परिणाम है। एक जीवन में ही उन सबको नष्ट करना अथवा उनके परे जाना मनुष्य के लिये कदापि संभव नहीं। नैतिकता के उन्नायकों आदर्श शिक्षकों और अध्यात्म के साधकों की निराशा का भी यही एक कारण है।

इन वैषयिक प्रवृत्तियों को समाप्त करने का साधन प्राचीन ऋषियों ने स्वानुभव से खोज निकाला था। ध्यान के शान्त वातवरण में मन को अपने शुद्ध पूर्ण स्वरूप में स्थिर करने का प्रयत्न ही वह साधना है। इसके अभ्यास से जिसकी इन्द्रियां स्वत ही वश में आ गयी हैं वही स्थितप्रज्ञ पुरुष माना जाता है। इस के नियमित एवम निराहार द्वारा इन्द्रिय संयम करने पर भी बल दिया गया है।

इस श्लोक का गूढ़ार्थ अब स्पष्ट हो जाता है निराहारी का बलपूर्वक किया हुआ इन्द्रिय निग्रह क्षणिक है जिससे आध्यात्मिक सौन्दर्य के खिल उठने की कोई आशा नहीं करनी चाहिये। आत्मानुभाव में स्थित जिस पुरुष की इन्द्रियाँ स्वत वश में रहती हैं वह स्थितप्रज्ञ है। न तो वह इन्द्रियों को नष्ट करता है और न उनका उपयोग ही बन्द करता है। एवं पूर्णत्व प्राप्त ज्ञानी पुरुष वह है जिसकी इन्द्रियाँ और मन वश में होकर उसकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं।

व्यवहारिक जीवन मे इन्द्रियों पर नियंत्रण न होना तो पशु के समान ही जीवन है अतः समाज, परिवार एवम स्वयं के आचरण में हम वह सभी नही करते जो मन करने के उसकाता रहता है। यह आंशिक नियंत्रण जब जितना भी अधिक होता है एकाग्रता उतनी अधिक बढ़ती है और हमारी कार्यक्षमता भी बढ़ती जाती है। स्थितिप्रज्ञ में जब परिस्थितिया हमे विचलित नही कर पाती तो हमे अपने कर्तव्य धर्म का पालन कर्मयोग द्वारा करने में कोई रुकावट भी नही रहती।

कृष्ण द्वारा सर्वप्रथम मुझ में शब्द का प्रयोग गीता में ईश्वर के वचन के रूप में सामने आया है, गीता युद्ध भूमि के कर्तव्य पालन में व्यक्त्वि विकास के रूप में प्रवेश के चुकी है। इन्द्रियों को वश में करना एक प्रकृतिजन्य मनुष्य के वश में नही है क्योंकि मन, बुद्धि, शरीर सभी तो प्रकृति है, जल में रह कर शरीर सूखा नही रह सकता अतः बाहर आना ही पड़ेगा, और यदि हम यह सब आप के नित्य को समपर्ण कर दे जो अछूता है तो ही वासना का मूल समाप्त होगा। यहाँ ध्यान, सेवा , भक्ति या किसी भी रूप में अपने 'मैं' से दूर होना है।

आज भी गीता, वेद और उपनिषदों के अध्ययन के बाद भी लोग इंद्रियजनित सुखों की लालसा इस लोक या परलोक में रखते हुए कर्म कर रहे है। उन के लिए यह क्षणिक आनंद ही पर्याप्त है जब कि भगवान इन सब से परे उन को समर्पित हो कर स्थायी एवम जीव के अपने स्वरूप के आनंद की बात कर रहे है। किंतु प्रकृति को कितने कम ही लोग जीत पाते है।

भगवान् के परायण होने से तो इन्द्रियाँ वश में होकर रसबुद्धि से निवृत्त हो ही जायगी पर भगवान् के परायण न होनेसे क्या होता है इसपर आगे के दो श्लोक कहते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.61।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.62-63॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥62॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥63॥

"dhyāyato viṣayān puṁsaḥ,
saṅgas teṣūpajāyate..I
saṅgāt sañjāyate kāmaḥ,
kāmāt krodho 'bhijāyate"..II62II

"krodhād bhavati sammohaḥ,
sammohāt smṛti-vibhramaḥ..I
smṛti-bhraṁśād buddhi-nāśo,
buddhi-nāśāt praṇaśyati"..II63II

भावार्थ :

इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, ऐसी आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोध से अत्यन्त पूर्ण मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मरण-शक्ति में भ्रम उत्पन्न होता है, स्मरण-शक्ति में भ्रम हो जाने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य का अधो-पतन हो जाता है। ॥६२-६३॥

Meaning:

When a man constantly thinks about objects, attachment for those objects arises. From attachment is born desire, and from desire is born anger. From anger comes delusion, from delusion comes loss of memory, from loss of memory comes destruction of intellect, and once the intellect is destroyed, he perishes.

Explanation:

Earlier, Shri Krishna touched upon the topic of continually thinking about material objects when we do not contact them physically. In this shloka, he goes into great detail as to why it is to be avoided. These two shlokas are sometimes referred to as the "ladder of fall". They illustrate how one simple thought can lead to the downfall of an individual.

Here is the entire sequence of events as mentioned in the 2 shlokas:

Anger, greed, lust, etc. are considered in the Vedic scriptures as mānas rog, or diseases of the mind. This is called the ladder of fall; the ladder of human fall. What are the stages; viṣaya dhyānam, saṅgaḥ, kāmaḥ, krōdhaḥ; saṃmōhāḥ, smṛtibhraṃśāḥ, buddhināśaḥ praṇāśaḥ ~ 8 runged ladder of human fall. What is the beginning of this fall. viṣaya dhyānam. Blindly dwelling upon any object. So therefore Arjuna, master your mind. And when you move away from that object, the objects must

have gone away from your sight, but the mind can dwell upon the object. Any object; anything; and this is called viṣaya dhyānam. The interesting thing is Īśvara dhyānam is extremely difficult whereas in viṣaya dhyānam we are all experts. For that one need not sit in padmāsana or other postures are not necessary. Wherever you go you are in samādhi of that thing only. Either money dhyānam or house dhyānam, or this or that. Therefore Krishna says, the first thing that happens in a loose mind is viṣaya dhyānam; means any sense objects.

And what is the second stage? That is going to come, because of that, you begin to develop a fancy for that object; it is a feeling, it is wonderful, it is attractive, it is beautiful, or it is a source of joy, which according to Vēdānta is a misconception, because according to Vēdānta, world is neither a source of joy nor a source of sorrow. Then what is world? World is world. World is only world. We alone categorise world as source of joy and sorrow. That is why when our children are playing the western music, in front of parents who are used to pakka carnatic music, which is noisy and jumping, for them it is a source of ānanda, but for the parents, it is a source of what? headache. So whether the western music is source of joy or sorrow. It all depends on how I am trained and how I look at it.

On the flip side what happens if the fulfillment of desire is obstructed? It gives rise to anger. Bear in mind that anger does not arise by itself. It is created from the obstruction of desire; and desire arises from attachment, while attachment comes from contemplation of the sense objects. In this manner, we see how the simple act of contemplating the pleasures of sense objects leads downward to the twin diseases of greed and anger.

Anger impairs judgment, just as the morning mist creates a hazy covering on the sunlight. In anger, people commit mistakes that they later regret, because the intellect gets clouded by the haze of emotions.

When the intellect is clouded, it leads to bewilderment of memory. The person then forgets what is right and what is wrong, and flows along with the surge of emotions. The downward descent continues from there, and bewilderment of memory results in destruction of the intellect. once the knowledge is obstructed, then the discriminative power is permanently lost.

We are all aware of the diseases of the body—even a single bodily ailment has the power to make one's whole day miserable—but we do not realize that we are being continuously tormented by multiple mental ailments. And since we do not recognize lust, anger, greed, etc. as mental diseases, we do not try to cure them. Psychology is a branch of human knowledge that attempts to analyze these ailments and propose solutions to them. However, both the analysis and the solution presented by western psychology leave much to be desired, and appear to be gross approximations of the reality of the mind.

Thought discipline is very difficult, but through Mano Nigrahaḥ or samah any person develop discipline in his senses.

Let's first examine the sequence of events from constant thinking all the way upto desire using the Ipod example from earlier :

A person has thoughts about ipod on sale -> gets attached to that ipod deal -> desire to buy ipod on sale is created.

Now, at this point, he has purchased the Ipod and is extremely attached to it. Even without going forward in the sequence, we can see that the material desire to procure an Ipod has taken the person away from performing his svadharma. His equanimity has already been disturbed. He is dragged back into the material world, and has taken one step backwards from moksha or freedom.

Let's move forward in the sequence:

Ipod breaks down -> he is angry that it has broken down -> he completely loses his equanimity -> takes anger out on his wife -> family environment is agitated.

Here, not only has he completely lost his equanimity, but has also caused pain to other members of his family. So the message here is that constant pondering and thinking about objects eventually leads to moving away from equanimity, hence it is to be avoided, or at least minimized to the extent possible.

An interesting point seen here is around anger. Per the shlokas, anger is caused when one's desire gets obstructed. Also, attachment to a concept such as one's job title or position causes continual waves of thought, anger and delusion, in other words, stress. Therefore, these shlokas provide an ancient but relevant analysis of anger and stress.

So for what purpose do I study the Gītā? Not for world advertisement; not for time pass; not for any other purpose, I want the teaching to help me when there is crisis. Otherwise I will be like Karṇa. Karna had all the mantras, all the extraordinary mantras, but he had a śāpa, that at the crucial moment, you will not remember them. Like some of our children; only in the examination hall, they will forget the answers; before and after they will answer properly. What is the use? Especially in our system, which is memory based. So therefore all my Gītā, Upaniṣad, everything is blocked; the computer virus has come. What is virus after all; somewhere I read; virus. v means vital; i means information; r means resources; u means under; s means siege; virus is a short form of vital information resources under siege means the information which I have stored, they are not available for me. Remember, anger is virus for our brain computer.

।। हिंदी समीक्षा ।।

चित्त शुद्धि या आत्मशुद्धि के लिये नित्य, बुद्ध, शुद्ध का आश्रय ही लिया जाता है, जहां आनंद ही आनंद है। किंतु प्रकृति के त्रियामी गुणों में यदि किसी का भी आश्रय ले कर कार्य या साधना की जाए तो प्रत्येक के गुण के साथ अवगुण जुड़ होने से शुद्धि नही हो सकती। इसलिये यहाँ विषय के प्रति सोचने मात्र से क्या हो सकता है।

विषयोनुराग एवम आसक्ति से उत्पन्न दोषों को यंहा समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस के न होने से यदि आप विचलित होते है वो आसक्ति है एवम प्रकृति के विभिन्न जीवनोपयोगी साधनों के प्रयोग में रुचि रखने को विषयोनुराग है।

1. जब कोई व्यक्ति संसार का आश्रय लेकर संसार का ही चिन्तन करता है क्योंकि संसार के सिवाय चिन्तन का कोई दूसरा विषय रहता ही नहीं। इस तरह चिन्तन करते करते मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति राग प्रियता पैदा हो जाती है। आसक्ति पैदा होने से मनुष्य उन विषयों का सेवन करता है। विषयों का सेवन चाहे मानसिक हो चाहे शारीरिक हो उस से जो सुख होता है उस से विषयों में प्रियता पैदा होती है। प्रियता से उस विषय का बारबार चिन्तन होने लगता है। अब उस विषय का सेवन करे चाहे न करे पर विषयों में राग पैदा हो ही जाता है यह नियम है।

2. विषयों में राग पैदा होने पर उन विषयों को (भोगोंको) प्राप्त करने की कामना पैदा हो जाती है कि वे भोग वस्तुएँ मेरे को मिलें।

3. कामना के अनुकूल पदार्थों के मिलते रहने से लोभ पैदा हो जाता है और कामनापूर्ति की सम्भावना हो रही है पर उस में कोई बाधा देता है तो उस पर क्रोध आ जाता है।

4. कामना रजोगुणी वृत्ति है सम्मोह तमोगुणी वृत्ति है और क्रोध रजोगुण तथा तमोगुण के बीच की वृत्ति है।

कहीं भी किसी भी बात को ले कर क्रोध आता है तो उस के मूल में कहीं न कहीं राग अवश्य होता है। जैसे नीतिन्याय से विरुद्ध काम करनेवाले को देख कर क्रोध आता है तो नीतिन्याय में राग है। अपमान-तिरस्कार करने वाले पर क्रोध आता है तो मानसत्कार में राग है। निन्दा करने वाले पर क्रोध आता है तो प्रशंसा में राग है। दोषारोपण करने वाले पर क्रोध आता है तो निर्दोषता के अभिमान में राग है आदिआदि।

क्रोध से सम्मोह होता है अर्थात् मूढ़ता छा जाती है। वास्तवमें देखा जाय तो काम क्रोध लोभ और ममता इन चारों से ही सम्मोह होता है जैसे

(1) काम से जो सम्मोह होता है उस में विवेकशक्ति ढक जाने से मनुष्य काम के वशीभूत होकर न करने लायक कार्य भी कर बैठता है।

(2) क्रोध से जो सम्मोह होता है उस में मनुष्य अपने मित्रों तथा पूज्यजनों को भी उलटीसीधी बातें कह बैठता है और न करनेलायक बर्ताव भी कर बैठता है।

(3) लोभ से जो सम्मोह होता है उस में मनुष्य को सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म आदि का विचार नहीं रहता और वह कपट कर के लोगों को ठग लेता है।

(4) ममता से जो सम्मोह होता है उस में समभाव नहीं रहता प्रत्युत पक्षपात पैदा हो जाता है।

अगर काम क्रोध लोभ और ममता इन चारों से ही सम्मोह होता है तो फिर भगवान् ने यहाँ केवल क्रोध का ही नाम क्यों लिया इस में गहराई से देखा जाय तो काम लोभ और ममता इन में तो अपने सुखभोग और स्वार्थ की वृत्ति जाग्रत रहती है पर क्रोध में दूसरों का अनिष्ट करने की वृत्ति जाग्रत् रहती है। अतः क्रोध से जो सम्मोह होता है वह काम लोभ और ममतासे पैदा हुए सम्मोह से भी भयंकर होता है। इस दृष्टि से भगवान् ने यहाँ केवल क्रोध से ही सम्मोह होना बताया है।

5. क्रोध से मूढ़ता छा जाने से स्मृति नष्ट हो जाती है अर्थात् शास्त्रों से सद्विचारों से जो निश्चय किया था कि अपने को ऐसा काम करना है ऐसा साधन करना है अपना उद्धार करना है उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है उसकी याद नहीं रहती।

6. मूढ़ता से स्मृति नष्ट होने पर बुद्धि में प्रकट होनेवाला विवेक लुप्त हो जाता है अर्थात् मनुष्य में नया विचार करने की शक्ति नहीं रहती।

7. विवेक लुप्त हो जाने से मनुष्य अपनी स्थिति से गिर जाता है।

यहाँ विषयों का ध्यान करने मात्र से राग, राग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिनाश, स्मृतिनाश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पतन यह जो क्रम बताया है इस का विवेचन करने में तो देरी लगती है पर इन सभी वृत्तियों के पैदा होने में और उस से मनुष्य का पतन होने में देरी नहीं लगती। बिजली के करेंट की तरह ये सभी वृत्तियाँ तत्काल पैदा होकर मनुष्य का पतन करा देती हैं।

जैसे छोटे से बीज से बड़े वृक्ष की उत्पत्ति होती है वैसे ही हमारे नाश का बीज है असद् विचार और मिथ्या कल्पनायें विचार में रचना शक्ति है यह हमारा निर्माण अथवा नाश कर सकती है।

जीवन या शरीर प्रकृति की देन है, प्रकृति के नियम के अनुसार इस की वृद्धि एवम नाश होना निश्चित है। जन्म मृत्यु अटल है किंतु जब तक शरीर है तो इस की सुरक्षा एवम इस के द्वारा प्रकृति का आनंद लिया जाता है। हम अच्छे भोजन, रहन सहन,

आदर सम्मान, आधुनिक विज्ञान के द्वारा प्रदान किये सभी सुख का आनंद भी लेते है एवम उन्हें प्राप्त करने एवम उन की खोजने के लिए शिक्षा या ज्ञान भी लेते है। अच्छे भोजन को खाना जीवन के लिए आवश्यक है किंतु जीवन का धैय अच्छा भोजन नही हो सकता। इस लिए हम में यदि प्रकृति के किसी भी संसधान में आशक्ति उत्तपन्न होती है तो निश्चय ही वो हमारे पतन का प्रवेश द्वार होगी।

अतः जो अनित्य, प्रकृति एवम विषय की वस्तु है उस एक पक्ष उज्ज्वल होता है तो अन्य पक्ष निम्न स्तर का होता है,इसलिये किसी भी विषय की आसक्ति निष्काम कर्मयोग में स्थितप्रज्ञ मनुष्य के लिये उचित नही है।

गीता का अध्ययन हमे सिखलाता है कि संसार में रहते हुए, प्रकृति के संग भी आनंद लेते हुए भी किस प्रकार विषयानुराग एवम आसक्ति से दूर रहना चाहिए। सत - रज - तम यह प्रकृति के गुण ही नही, स्वयं प्रकृति है। सत की ओर बढ़ना और स्थितप्रज्ञ, समत्व बुद्धि एवम अनासक्त भाव से कर्म किस प्रकार करे कि प्रकृति के प्रति अनुराग या अज्ञान के वायरस से हम बचे भी रहे और यह जीवन में मोक्ष की ओर बढ़ते रहे।

आगे के श्लोक में स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है इस चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं, हम श्री कृष्ण से सुनेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 62-63 ।।

।। विषयोनुराग और मैं।। विशेष – 2. 62-63 ।।

गीता का अध्ययन, पूजा पाठ, जप और मंदिर दर्शन आदि सभी करते है। किंतु विचार करे कि हम यह सब जीवन की दिनचर्या की भांति अधिक करते है जब कि मोक्ष प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा के साथ कभी नहीं करते है। हमारी कामनाएं और इच्छाएं संसार में अनुशासित जीवन सद्विचारों के साथ जीने तक है और मृत्यु के बाद स्वर्ग या बैकुंठ जाने तक है। इस लिए लाखो में कोई एक होता होगा जो प्रकृति के विषयों के अनुराग से परे अपने मोक्ष के लिए अपने को तैयार कर रहा होगा।

प्रकृति बहुत आकर्षण और सरलता से किसी भी जीव को लुभा लेती है। विषयोनुराग का सब से बड़ा उदाहरण यह whatsapp या सोशल मीडिया ही है जिस में संदेश भेजने वाले की लालसा लाइक या कमेंट की रहती है और नही मिले तो निराशा लगती है। कभी कभी क्रोध भी आता है क्योंकि इतनी मेहनत से भेजे संदेश को किसी ने सही तरीके पढ़ा ही नही और तारीफ भी नही की।

दूसरी ओर विषयोनुराग से मुक्त कई लोग बिना किसी लालसा के इतने संदेश भेज देते की, देखने वाले डिलीट कर कर के दुखी हो जाते है। किंतु बिना सोचे समझे जो उन को प्रभावित करे, ऐसे संदेश फॉरवर्ड करते रहना ही उन्हे रुचिकर लगता है।

विषय वस्तु की आसक्ति अन्य उदाहरण मै स्वयं हूँ जो गीता के प्रत्येक श्लोक का अर्थ अधिक से अधिक लोगो तक पहुचाने की कामना करता हूँ। मेरे साथ अधिक से अधिक लोग जुड़े, मेरी प्रशंसा करे यह कामना भी जाग्रत होती है। यदि कोई ग्रुप में जुड़े तो प्रसन्नता होती है और छोड़े तो क्षोभ होता है एवम इसी क्षोभ से क्रोध भी आता है। प्रसिद्ध होने की कामना भी जाग्रत होने लगती है। इन्ही सब पर नजर रख कर अपने को मुक्त करने का प्रयास भी कर रहा हूँ यही मेरा वास्तविक क्रियाक्षेत्र है जिस में मुझे सफल भी होना है और अपने विषय आसक्ति से मुक्त भी। विषय की आसक्ति अच्छी या बुरी नही होती क्योंकि विषय अनित्य है और अपने दोनों पहलू के साथ ही आता है, इसलिये इस का कोई स्थायित्व नही है।

मैं, मेरा और मेरी संपत्ति, ख्याति, पद, सम्मान और अधिक से अधिक भोग की लालसा ऐसी है कि हम यह कहते तो कभी थकते नहीं की अब मुझे कुछ नही चाहिए, किन्तु जो है वह तो कम से कम बना रहे।

ज्ञान की प्राप्ति करना और ज्ञान को आत्मसात करना, दोनो ही भिन्न भिन्न अवस्था है। ज्ञान प्राप्त करना विषय अनुराग भी हो सकता है क्योंकि उस के बाद उस को बांटने की लालसा उत्पन्न हो जाती है, इस के बाद प्रशंसा की कामना आ जाती है। कुछ लोग ज्ञान प्राप्त ही इसलिए करते है की उस को बांट कर वह समाज मे अपनी स्वच्छ छवि बना सके किन्तु आचरण में

न आने से काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या से घिरे रहते है। इसलिये किसी भी विषय का अनुराग ईश्वर की भक्ति एवम समर्पण के लिये न हो तो चित्त शुद्धि नही हो सकती। जब तक निष्काम नही होते और मैं, मेरा और मुझे के लिये कर्म है, तब तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई न कोई विषय अनुराग रहता ही है।

अतः प्रकृति जब जीव के चारो और अपना नृत्य करती उसे लुभाती रहती है तो आदि शंकराचार्य जी कहते है।

हे शिष्य ! यद्यपि निरूपाधिक भ्रम में सादृश्य की अपेक्षा नहीं है ; तथापि कुछ सादृश्य कहूँगा , ध्यानपूर्वक सुनो ।

आत्मा अत्यंत निर्मल , अतिसूक्ष्म और अत्यंत दीप्तिमान है । वैसे ही अन्तःकरण (बुद्धि) सत्वगुण स्वभाववाली , चैतन्य के प्रतिबिंब से युक्त , तेजयुक्त और स्वच्छ है । जैसे स्फटिक सूर्य के समान प्रकाशित होता है , वैसे ही यह अन्तःकरण भी आत्मा की समीपता के कारण आत्मा के समान भासता है ।।

अति समीपता और स्वच्छता के कारण बुद्धिरूप दर्पण में आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने पर , बुद्धि आत्मा के समान भासने लगती है ; जिससे मन बुद्धि के समान भासता है , इन्द्रियाँ मन के समान भासती हैं और यह शरीर इन्द्रियों के समान भासता है । इस कारण ही देह , इन्द्रिय आदि अनात्म वस्तुओं में आत्मत्व का ज्ञान होता है ।।

विषयानुराग से मुक्ति का साधन है, विवेक। विवेक से ही वैराग्य उत्पन्न होता है। किसी विषय की पूर्ति होने से उतना सुख नही है, जितना सुख उस विषय के शांत होने में है। विचार करे जिस विषय में अनुराग है, वह तो परिवर्तन शील है, समय और स्थान आदि से बदलता रहता है किंतु जो विषय है वह तो नित्य है। स्वयं प्रकाशवान है। उस विषयी को यदि अपना संबंध जोड़ना है तो नित्य ब्रह्म से जोड़े, जिस से आनंद भी नित्य होगा। अनित्य से संबंध जोड़ने से आनंद भी अनित्य होगा। यही विवेक का विषय है। जिसे हम आगे और विस्तार से पढ़ेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2. 62-63 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.64-65॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥64॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥65॥

"rāga-dveṣa-vimuktais tu,
viṣayān indriyaiś caran..I
ātma-vaśyair vidheyātmā
prasādam adhigacchati"..II64II

"prasāde sarva-duḥkhānāṁ,
hānir asyopajāyate..I
prasanna-cetaso hy āśu,
buddhiḥ paryavatiṣṭhate"..II65II

भावार्थ :

किन्तु सभी राग-द्वेष से मुक्त रहने वाला मनुष्य अपनी इन्द्रियों के संयम द्वारा मन को वश करके भगवान की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार भगवान की कृपा प्राप्त होने से सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है तब उस प्रसन्न-चित्त मन वाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही एक परमात्मा में पूर्ण रूप से स्थिर हो जाती है। ॥६४-६५॥

Meaning:

But, the one whose mind and senses are under control, is devoid of attraction or revulsion. He moves around objects and gains the state of tranquility.

Having gained tranquility, all of his sorrows are destroyed. His mind is joyful and his intellect soon becomes steady.

Explanation:

In the last shloka, Shri Krishna explained the "ladder of fall", or how constant thinking about material objects leads to a fall from equanimity. In this set of shlokas, he explains the exact opposite scenario, where bringing the senses and the mind under control brings us to a state of happiness. Here's the sequence of events:

Bring senses and mind under control -> one becomes devoid of attraction and revulsion -> he can experience the material world without any problem -> his mind becomes tranquil -> his intellect becomes steady -> he has no more sorrow -> he attains the state of happiness.

Attachment and aversion are two sides of the same coin. Aversion is nothing but negative attachment. Just as, in attachment, the object of attachment repeatedly comes to one’s mind; similarly, in aversion, the object of hatred keeps popping into the mind. So attachment and aversion to material objects both have the same effect on the mind—they dirty it and pull it into the three modes of material nature. When the mind is free from both attachment and aversion, and is absorbed in devotion to God, one receives the grace of God and experiences his unlimited divine bliss. On experiencing that higher taste, the mind no longer feels attracted to the sense objects, even while using them. Thus, even while tasting, touching, smelling, hearing, and seeing, like all of us, the sthita prajña is free from both attachment and aversion.

So, if one continues to pursue one's svadharma, and stay devoted to a higher ideal, one gets to a stage of equanimity. We have learned this in earlier shlokas. But then, what next? This set of shlokas tells us that performance of svadharma has a purifying effect - it is like a flame that burns away our vasanaas. As the vasanaas burn away, our minds remain situated in equanimity - and that's when our sorrows diminish.

We are always looking at quick fixes to be happy - new job, new friends, read a new book, move to a new place etc. But what comes across in these shlokas is that a long-term state of happiness cannot be found in a quick fix solution. All we can do is follow our svadharma, fix a higher goal, and keep at it.

The intellect was accepting this only on the basis of knowledge as stated in the scriptures, but now after by grace, God who is sat-chit-ānand bestows his divine knowledge, divine love, and divine bliss, it gets the experience of perfect peace and divine bliss. This convinces the intellect beyond any

shadow of doubt, and it becomes steadily situated in God. By God's grace, when we experience the higher taste of divine bliss, the agitation for sensual happiness is extinguished. Once that hankering for material objects ceases, one goes beyond all suffering and the mind becomes tranquil.

Regular meaning of prasāda we receive from the temple. That is the extended meaning of the word prasāda is prasanna chittam. Shanthiḥ. Samatvam. Poise, Balance, Equanimity is called prasādaḥ. Prasādaḥ will produce two fold benefit. The first benefit is destruction of all sorrows and samatvam bring in happiness or joy.

The eight shlokas including this one comprise the answer to the fourth of Arjuna's four questions, "how does a person of steady wisdom walk", in other words, how does such a person control his mind?

।। हिंदी समीक्षा ।।

यदि हम पिछले श्लोक का पुनः अवलोकन करे तो हम ज्ञात होगा कि अर्जुन की जिज्ञासा स्थितप्रज्ञ मनुष्य के बारे में थी। कृष्ण जी ने बताया कि 1. वो निष्काम एवम निरासक्त होता है, 2. वो बिना फल की आशा है कार्य करता है, 3. जो फल प्राप्त है उस से संतुष्ट है 4. अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है।

इन्द्रियों के नियंत्रण के विषय मे पुनः बताया कि इन को वश में करना अत्यंत कठिन है जब तक मन मे राग एवम द्वेष है, यह कभी भी और कंही भी पुनः मनुष्य पर हावी हो सकती है अतः इंद्रियां यानी राग द्वेष तभी समाप्त होगा जब बुद्धि पूर्ण रूप से भगवान को समर्पित हो। यदि राग द्वेष के साथ रहते है तो क्या होता है।

अब इस श्लोक में भगवान श्री कृष्ण कहते है कि स्थितप्रज्ञ राग द्वेष से दूर हो कर भगवान में रमा रहता है तो उस मे भगवद कृपा से चिर आनन्द समा जाता है। वास्तव में सत चित्त आनंद की स्थिति भगवान में रमे हुए मनुष्य को उन की कृपा रूपी प्रसाद से ही प्राप्त होती है। भगवद कृपा हमेशा जीव पर बरसती रहती है, आवश्यकता निष्ठा के साथ उस के प्रति समर्पण की है। एक बार निष्ठा हो जाए तो सद गुण और विषयों से विरक्ति स्वयमेव आ जाती है और मन वैरागी हो जाता है।

आसक्ति रहते हुए विषयों का चिन्तन करने मात्र से पतन हो जाता है और यहाँ कहते हैं कि आसक्ति न रहने पर विषयों का सेवन करने से उत्थान हो जाता है। वहाँ तो बुद्धि का नाश इन्द्रियों में लिप्त होने से बताया था और यहाँ बुद्धि का परमात्मा में स्थित होना बताया है।

इंद्रियों का दमन यदि संभव नही तो उन को भगवान के प्रति मोड़ देने से विषयों के प्रति आसक्ति का क्षय होने लगता है।

साधक का अन्तःकरण अपने वश में रहना चाहिये। अन्तःकरण को वशीभूत किये बिना कर्मयोग की सिद्धि नहीं होती प्रत्युत कर्म करते हुए विषयों में राग होने की और पतन होने की सम्भावना रहती है। वास्तव में देखा जाय तो अन्तःकरण को अपने वश में रखना हरेक साधक के लिये आवश्यक है। कर्मयोगी के लिये तो इस की विशेष आवश्यकता है।

रागद्वेषरहित होकर विषयों का सेवन करने से साधक अन्तःकरण की प्रसन्नता(स्वच्छता) को प्राप्त होता है। यह प्रसन्नता मानसिक तप है जो शारीरिक और वाचिक तप से ऊँचा है। अतः साधक को न तो रागपूर्वक विषयों का सेवन करना चाहिये और न द्वेषपूर्वक विषयों का त्याग करना चाहिये क्योंकि राग और द्वेष इन दोनों से ही संसार के साथ सम्बन्ध जुड़ता है।

मान लीजिये आप को आमरस बहुत पसंद है, यदि राग रखेंगे और न परोसा जाए तो मन मे खिन्नता आएगी यदि राग नही है तो सामने आने पर और न आने पर चित की प्रसनता समान रहेगी। बुद्धि यदि परमात्मा से युक्त है तो आप जो भी कार्य करते है उस के सेवक हो कर और कर्ता के भाव से दूर रहते है। आप को कार्य के कर्तव्य भाव का ज्ञान है किंतु जो प्राप्त है वो पर्याप्त है का भाव आप के मन के भाव को विचलित नही करता और आप उस स्थिति का आनंद के साथ उपभोग करते है।

खाने या घूमने या किसी भी कार्य मे मीन मेख निकालने वाला व्यक्ति न हो आप उस स्थिति का आनंद लेते है अन्यथा असंतुष्ट व्यक्ति के कारण परेशान होते है, यह राग द्वेष में लिप्त आप की बुद्धि ही असंतुष्ट व्यक्ति का कार्य करती है अन्यथा कोई भी आप को आनंद के लिए नही रोक सकता।

जितने भी दुःख हैं वे सब के सब प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीर संसार के सम्बन्ध से ही होते हैं और शरीर संसार से सम्बन्ध होता है सुख की लिप्सा से। सुख की लिप्सा होती है खिन्नता से। परन्तु जब प्रसन्नता होती है तब खिन्नता मिट जाती है। खिन्नता मिटने पर सुख की लिप्सा नहीं रहती। सुख की लिप्सा न रहने से शरीर संसार के साथ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहने से सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है। तात्पर्य है कि प्रसन्नता से दो बातें होती हैं संसार से सम्बन्धविच्छेद और परमात्मा में बुद्धि की स्थिरता।

पूजन विधि के अन्त में प्रसाद वितरण की क्रिया इस सिद्धान्त की ही द्योतक है। पूजन अथवा यज्ञ करते समय मनुष्य को संयमित रहकर ईश्वर का ध्यान करना चाहिये जिस के फलस्वरूप वह मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। वास्तव में इसको ही ईश्वर प्रसाद कहा जाता है। वेदान्ती चित्तशुद्धि को प्रसाद समझते हैं। रागद्वेष के अभाव में विक्षेपों का अभाव स्वाभाविक है और यही है चित्तशुद्धि का प्रसाद जिसे प्राप्त करने पर आनंद ही आनंद है।

प्रस्तुत इन दो श्लोक से यह स्पष्ट है कि कर्मयोगी का विषयो से राग - द्वेष मिटा कर निरासक्त भाव से कर्म करने को जोर दिया है, जब कि सन्यास मार्ग में विषयो के साथ कर्मो के भी त्याग की बात की जाती है। सन्यास मार्ग विषयो के त्याग का मार्ग है जबकि कर्मयोग विषयो पर आसक्ति के त्याग का मार्ग है। कर्मयोग सन्यास मार्ग के अनुरूप ही संयम एवम तप का मार्ग होते हुए भी संसार मे रहते हुए, नियत कर्म लोकसंग्रह हेतु करते रहने का योग अर्थात युक्ति बताता है। जो अर्जुन की उस दुविधा का उत्तर है जो अपने कर्तव्य धर्म का पालन न करते हुए, पलायन से सन्यास मार्ग धारण करने की बात करता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2. 64-65 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.66॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

"nāsti buddhir ayuktasya,
na cāyuktasya bhāvanā..।
na cābhāvayataḥ śāntir,
aśāntasya kutaḥ sukham"..॥

भावार्थ :

जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में नहीं होती है उस मनुष्य की न तो बुद्धि स्थिर होती है, न मन स्थिर होता है और न ही शान्ति प्राप्त होती है उस शान्ति-रहित मनुष्य को सुख किस प्रकार संभव है? ॥६६॥

Meaning:

The individual whose mind and senses are not controlled cannot have a focused intellect, without a focused intellect he cannot meditate, and without meditation there is no peace. How can there be happiness without peace?

Explanation:

Previously, Shree Krishna said “Know God; know peace.” In this verse, he says “No God; no peace.” Shri Krishna so far extolled the virtues of controlling the senses and the mind. In this shloka, he echoes the same point, but uses negative inference to drive it home.

Here, he says that if the mind and senses constantly wander, our psyche is agitated. An agitated psyche will never allow an intellect to focus. And we have already seen in earlier shlokas the disadvantages of not having focused intellect or "vyavasaayaatmika buddhi". One cannot hold on to a single thought, in other words - meditate, if the mind is turbulent. without peace of mind, where is the question of ātma ānanda; because ātma ānanda can reflect only in a calm mind. Or even if you get peace of mind through other methods, they will never be permanent peace of mind.

Shree Krishna says that those who refuse to discipline the senses and engage in devotion continue to be rocked by the three-fold miseries of Maya. Material desires are like an itching eczema, and the more we indulge in them, the worse they become. How can we be truly happy in this state of material indulgence?

We may feel that there is some repetition here - why is he asking us to control the mind and senses over and over again? But consider this: reading about it and putting it into practice are two different things. If we check the daily list of thoughts that we maintain in our diary, we realize that even if we read the Gita backwards and forwards, it takes lot of time and effort to change the quality and quantity of our thoughts.

you require śamaḥ and damaḥ; therefore Arjuna, build up these two values first and foremost. Without mind and sense control, spiritual progress is impossible. And a person who has the sensory and mind control, is called yukta puruṣa. Yuktaḥ means a person of śamaḥ and damaḥ. And ayuktaḥ means a person without śamaḥ and damaḥ.

And if a person does not practice śravaṇa, manana, nidhidhyāsanam, then what will be the consequence? For a person, who does not practice these three; peace of mind is never possible. So remember, Gītā study is not an academic pursuit, because here teaching is involved, concentration is involved,

This message needs to be seared into our brain for us to take it seriously, hence the refrain of this point. Very simply put: there is no happiness without control of mind and senses.

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता के श्लोक 2.41 को याद करे जिस में एकनिष्ठ बुद्धि की आवश्यकता कर्मयोगी के लिए कही गयी थी, जिस के द्वारा वो समय एवम स्थान के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन कर सके।

यहाँ भी यही बताया गया है कि जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती उस की मेरे को तो केवल अपने कर्तव्य का पालन करना है और फल की इच्छा कामना आसक्ति आदि का त्याग करना है ऐसी भावना नहीं होती। ऐसी भावना न होने में कारण है अपना ध्येय स्थिर न होना। जो अपने कर्तव्य के परायण नहीं रहता उस को शान्ति नहीं मिल सकती। जैसे साधु शिक्षक ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि यदि अपने अपने कर्तव्य में तत्पर नहीं रहते तो उन को शान्ति नहीं मिलती। कारण कि अपने कर्तव्य के पालन में दृढ़ता न रहने से ही अशान्ति पैदा होती है।

जो अशान्त है वह सुखी कैसे हो सकता है कारण कि उसके हृदय में हरदम हलचल होती रहती है। बाहर से उस को कितने ही अनुकूल भोग आदि मिल जायँ तो भी उसके हृदय की हलचल नहीं मिट सकती अर्थात् वह सुखी नहीं हो सकता।

शायद हमे लगे कि गीता बार बार एक ही बात को दोहरा रही है तो गलत है। गीता मन मे आने वाली किसी भी दुविधा या शंका का निवारण करती है अतः इस श्लोक में जो सुख एवम शांति की बात करते है एवम जो सुख एवम शांति प्राकृतिक एवम भोतिक वस्तु में खोजते है, उन का सुख क्षणिक एवम बार बार लालसा के साथ उतपन्न होने वाला होता है और ऐसे में वो शांत नही हो सकते।

दिन भर अपने व्यवसाय में कई बार झूठ बोलना, कभी असत्य को मजबूरी के साथ स्वीकार् करना, अच्छे खाने, पीने, घूमने का शौक पालना, फिर सुबह योगा करना, सुख एवम शांति का जीवन नही हो सकता जब तक आप निर्लिप्त एवम निष्काम भाव के साथ यह कार्य समय एवम स्थान के हिसाब से कर्तव्य समझ कर न करे। आप का मोह, स्वार्थ एवम लोभ इन कार्यो में जुड़ा है तो सुख एवम शांति की बात न करे।

शास्त्रों में मन की शान्ति पर बल देने का कारण यहाँ स्पष्ट किया गया है। मन शान्ति के अभाव के कारण बुद्धि में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक विचार करने की क्षमता नहीं होती। शान्ति के न होने पर जीवन की समस्याओं को समझने की बौद्धिक तत्परता का अभाव होता है और तब जीवन का सही मूल्यांकन कर आत्मज्ञान एवं ध्यान के लिए अवसर ही नहीं रहता। ध्रुव तारे के समान जीवन में महान लक्ष्य के न होने पर हमारा जीवन समुद्र में खोये जलपोत के समान भटकता हुआ अन्त में किसी विशाल चट्टान से टकराकर नष्ट हो जाता है।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है, मनुष्य एवम पशु में अंतर बुद्धि का ही है। पशु मन के हिसाब से विचरण करता है किंतु मनुष्य इन्द्रियों के निग्रह से मन का निग्रह कर के बुद्धि के हिसाब से कर्म करता है। जिस ने इन्द्रियों का निग्रह नही किया, वह मन को नियंत्रित नही कर सकता, उस की बुद्धि विकसित नही होती और सांसारिक सुखों में भटकता रहता है और अपने बहुमूल्य जीवन को नष्ट कर देता है।

लक्ष्यहीन दिशाहीन पुरुष को कभी शान्ति नहीं मिलती और ऐसे अशान्त पुरुष को सुख कहाँ जीवन सिन्धु की शान्त अथवा विक्षुब्ध तरंगों में सुख या दुख के समय संयम से रहने के लिये परमार्थ का लक्ष्य हमारी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होना चाहिये।

अतः यह स्पष्ट है कि मन का निग्रह तभी होगा जब इन्द्रियों का निग्रह होगा। जब तक मन का निग्रह नही होता तब तक आत्म ज्ञान की बुद्धि भी नही आ सकती। अतः शांति एवम सुख की आशा रखना ही व्यर्थ है। इन्द्रियों के निग्रह का अर्थ है निष्काम हो कर्म करना, न कि इन्द्रियों को दमन करना। विद्यार्थी हो या व्यापारी, जब तक पास या सफल होने के सपने देखता रहे किन्तु मन एवम इन्द्रियों को एकाग्र कर के पूर्ण रूप अपने कर्म को न करे, तो उस मे कार्य के सफल होने की बुद्धि भी नही उपजती। गीता निष्काम कर्मयोग करने पर बल देती है क्योंकि इस से इन्द्रियों का निग्रह होता है, फिर मन का, फिर उस से बुद्धि का प्रादुर्भाव बनता है और व्यक्ति उन्नति के मार्ग में बढ़ने लगता है। यदि आसक्ति न रहे तो निष्काम कर्मयोग से वह आत्मज्ञान को भी प्राप्त करता है, इसलिये जितने भी सफल व्यक्ति है, उन का जीवन चरित्र पढ़े तो हम इस श्लोक को समझ सकते है कि आत्म ज्ञान के लिये क्या आवश्यक है। यदि हम चिंतन नही करते तो हम कुए के मेंढक की तरफ छोटे से घेरे में उछल कूद करते रहते है।

अतः भगवान कृष्ण जो गीता का उपदेश दे रहे है, वह सुनने, पढ़ने या याद करने के लिए नही है। आप चाहे पूरी गीता कंठस्थ कर ले, गीता अध्ययन के विभिन्न कोर्स कर के पांडित्य हासिल कर ले, किंतु जब तक गीता आप की आत्मा, मन और बुद्धि में आत्मसात नही होती, आप का मन शांत नहीं होगा। आप को गीता अध्ययन से कोई लाभ भी नही होगा। याद रखे रामचरित मानस, श्रीमद्भगवद् पुराण और महाभारत जैसे ग्रंथो किस्से और कथाएं भी ज्ञान के साथ है किंतु गीता तो वेद और उपनिषदों का सार ग्रंथ है। इस को जितनी बार पढ़ो, हर बार आप को और अधिक गहन अर्थ से समझ में आती है।

जिन ग्रंथो, प्रवचनों, कथाओं में कथाएं, किस्से, मनोरंजन के जोक्स रहते है, वहां मन एवम इंद्रियां यदि रमा भी लेते है तो वापसी में मन और इन्द्रियां ज्ञान बुद्धि की बजाए कथाएं, किस्से और जोक्स ही साथ में ले आते है, उस में निहित ज्ञान को वही भुला या कठिन समझ कर छोड़ दिया जाता है, तो उस से भला कैसे इन्द्रियों और मन को नियंत्रित कोई कर सकता है। भगवान कृष्ण कहते है कि इन्द्रियों और मन का वेग अत्यंत प्रबल है, इसे नियंत्रित करना और आत्मसात करना ही परम आनंद की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है।

कुछ लोग यह कह कर अपने को छिटक देते है कि आज के युग में गीता का ज्ञान व्यवहारिक नही है, किंतु जब उन का अज्ञान का अध्यास होता है तो ही उन्हे पता चल सकता है कि आज के युग में भी गीता पूर्णतः व्यवहारिक ग्रंथ है क्योंकि यही ग्रंथ संसार की हर भाषा में अनुवादित भी हुआ है और लगभग प्रत्येक महापुरुष द्वारा अपनाया गया है।

एक मृदंग वादक के बिना नर्तकी के पैर लय और गति को नियन्त्रित नहीं रख सकते।

अयुक्त पुरुष की बुद्धि एक निश्चयवाली क्यों नहीं होती इस का कारण आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.66।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.67॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

"indriyāṇāṁ hi caratāṁ,
yan mano 'nuvidhīyate..I
tad asya harati prajñāṁ,
vāyur nāvam ivāmbhasi"..II

भावार्थ :

जिस प्रकार पानी पर तैरने वाली नाव को वायु हर लेती है, उसी प्रकार विचरण करती हुई इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय पर मन निरन्तर लगा रहता है, वह एक इन्द्रिय ही उस मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

Meaning:

For, even one of the wandering senses overpowers the mind and steals away wisdom, like wind affects a ship in water.

Explanation:

Continuing shlok 66, in this shlok shree krishna explain the lack of sense control by an example. A picture is worth a thousand words. So here, just like Shri Krishna painted a picture of the like tortoise earlier, he uses another picture to portay an important point - that just one sense organ has the ability to destroy us. He gives us the example of a rudderless ship at sea. It will go wherever the wind takes it, and in time, eventually be destroyed.

In the same way, just one sense organ - the eye seeing something tempting, the ear hearing some gossip, the tongue tasting alcohol - one sense organ can bring the mind under submission. In doing so, it can take away the intellect's capacity to function. And worse still, this whole chain of events can happen in a fraction of a second, and we won't even know it has happened unless we are eternally aware and alert.

Deer are attached to sweet sounds. The hunter attracts them by starting melodious music and then kills them. Bees are attached to fragrance. While they suck its nectar, the flower closes at night, and

they get trapped within it. Insects are drawn to light. They come too close to the fire and get burnt. All these creatures get drawn toward their death by one of their senses. What then will be the fate of a human being who enjoys the objects of all the five senses?" In this verse, Shree Krishna warns Arjun of the power of these senses in leading the mind astray.

In practical it is very difficult for human being to concentrate on one subject or goal. When we listen or read, after less than 10 minutes our mind starts wondering and we lost what is written or orator is speaking. Even in this geeta study, if the explanation is bigger than expectation, we lost our interest because of length of explanation. Some joins the various group, but could not get concentrate and left after some time. A common man either leave in past or travel in future, only few stay in present.

Our heart is regularly beating, we never give attention to it. Our mind is also wondering or you can say beating every movement, we never give attention, but wondering accordingly like wind carry rudderless ship at sea. We collect money, doing trades, meet several persons, going to temple and in last what for. Yog says unless you concentrate by श्रवण, मनन एवम निध्यासन (listen, analysis and doing yog) you can not know your अज्ञान incorrect knowledge of sansara and object of your birth in human being.

Than Who is a student for control over his senses? kāka dṛṣṭi, concentration like crow. Eye. bhaga dhyānam. Like a crane which is on the shore of the river, looking for fish; the fish comes and it just puts its beak and brings out. Bhaga dhyānam. śvāna nidrā; like a dog only he should sleep. short sleep only; alpaharam, very difficult, alpa āhāram, adhika āhāram means you will dose; jirṇa vastram; simple life, simple dress, not a flashy life; evam vidhyarthi lakṣaṇam.

We are nearing the end of the section on the signs of the individual of steady wisdom, and are a few shlokas away from concluding the second chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

श्लोक 66 को ही आगे इस श्लोक में उदाहरण द्वारा कहते है, जो बात उदाहरण या तर्क से समझाई जाती है वह जल्दी समझ आती है, इसलिये बीच बीच मे भगवान श्री कृष्ण उदाहरण को भी प्रस्तुत करते है जैसे पहले कछुवे का उदाहरण इन्द्रियों को बाह्य आकर्षण से दूर कर के अंदर समेटने का दिया था। अब वायु द्वारा नौका को बहा ले जाने का है।

काम, क्रोध, मद, लोभ आदि दुष्वृतिया है जो ज्ञान इन्द्रियों से जन्म लेती है और मन उसे कर्म इन्द्रियों से पूरा करने का प्रयत्न करता है। किसी भी एक कर्म इन्द्रिय में भी मन यदि रम जाए तो वह ही मन के द्वारा जीव की बुद्धि हवा के झोंके के समान हर लेती है।

जब साधक कार्यक्षेत्र में सब तरह का व्यवहार करता है तब इन्द्रियों के सामने अपने अपने विषय आ ही जाते हैं। उन में से जिस इन्द्रिय का अपने विषय मे राग हो जाता है वह इन्द्रिय मन को अपना अनुगामी बना लेती है मन को अपने साथ कर लेती है। जैसे कोई स्वाद, तो कोई धन संग्रह, तो कोई आमोद प्रोमोद आदि आदि ।अतः मन उस विषय का सुखभोग करने लग जाता है अर्थात् मन में सुख - बुद्धि, भोग - बुद्धि पैदा हो जाती है मन में उस विषय का रंग चढ़ जाता है उस का महत्त्व बैठ जाता है। जैसे भोजन करते समय किसी पदार्थ का स्वाद आता है तो रसनेन्द्रिय उस में आसक्त हो जाती है। आसक्त होने पर रसनेन्द्रिय मन को भी खींच लेती है तो मन उस स्वाद में प्रसन्न हो जाता है राजी हो जाता है।

जब मन में विषय का महत्त्व बैठ जाता है तब वह अकेला मन ही साधक की बुद्धि को हर लेता है अर्थात् साधक में कर्तव्य परायणता न रह कर भोगबुद्धि पैदा हो जाती है। वह भोगबुद्धि होने से साधक में मुझे परमात्मा की ही प्राप्ति करनी है यह व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं रहती।

इस तरह का विवेचन करने में तो देरी लगती है पर बुद्धि विचलित होने में देरी नहीं लगती अर्थात् जहाँ इन्द्रिय ने मन को अपना अनुगामी बनाया कि मन में भोगबुद्धि पैदा हो जाती है और उसी समय बुद्धि मारी जाती है।

बुद्धि किस तरह हर ली जाती है इस को दृष्टान्तरूप से समझाते हैं कि जल में चलती हुई नौका को वायु जैसे हर लेती है ऐसे ही मन बुद्धि को हर लेता है। जैसे कोई मनुष्य नौका के द्वारा नदी या समुद्र को पार करते हुए अपने गन्तव्य स्थान को जा रहा है। यदि उस समय नौका के विपरीत वायु चलती है तो वह वायु उस नौका को गन्तव्य स्थान से विपरीत ले जाती है। ऐसे ही साधक व्यवसायात्मिका बुद्धिरूप नौका पर आरूढ़ होकर संसार सागर को पार करता हुआ परमात्मा की तरफ चलता है तो एक इन्द्रिय जिस मन को अपना अनुगामी बनाती है वह अकेला मन ही बुद्धिरूप नौका को हर लेता है अर्थात् उसे संसार की तरफ ले जाता है। इस से साधक की विषयों में सुख बुद्धि और उन के उपयोगी पदार्थों में महत्त्वबुद्धि हो जाती है। वायु नौका को दो तरह से विचलित करती है नौका को पथभ्रष्ट कर देती है अथवा जल में डुबा देती है। परन्तु कोई चतुर नाविक होता है तो वह वायु की क्रिया को अपने अनुकूल बना लेता है जिस से वायु नौका को अपने मार्ग से अलग नहीं ले जा सकती प्रत्युत उस को गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने में सहायता करती है ऐसे ही इन्द्रियों के अनुगामी हुआ मन बुद्धि को दो तरह से विचलित करता है परमात्मा प्राप्ति के निश्चय को दबा कर भोगबुद्धि पैदा कर देता है अथवा निषिद्ध भोगों में लगा कर पतन करा देता है। परन्तु जिस का मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उस की बुद्धि को मन विचलित नहीं करता प्रत्युत परमात्मा के पास पहुँचाने में सहायता करता है।

एक अन्य उदाहरण से इसे समझते है कि पढ़ने वाले विद्यार्थी का मन यदि चलचित्र में रम जाए तो वह पढ़ाई नही कर सकता। व्यापारी सट्टेबाजी या पार्टियों में लग जाये तो व्यापार नही कर सकता।

प्रवचन या पूजा पाठ में अक्सर लोग प्रवचन या पूजा पाठ की बजाय अन्य बाते करते दिखते है। लोग अक्सर भूतकाल में जीते है या भविष्य काल में, वर्तमान में जीवन वही जी सकता है, जिस ने अपने मन और इंद्रियों को वश में कर लिया हो। विद्यार्थी के काक दृष्टि, बगुले जैसा ध्यान, अल्पाहार और कुत्ते जैसी नींद की बात उस की पढ़ाई के लिए बताई जाती है।

मन और इंद्रियों में व्यक्ति का ध्यान भटकाने का अत्यंत वेग होता है। इस के एक इंद्री ही काफी बल शाली है। प्रवचन सुनते सुनते व्यापार का ध्यान, सड़क पर चलते चलते कोई लडकी या वस्तु पर ध्यान आदि इस के उदाहरण है।

शरीर में जैसे दिल धड़कता रहता है वैसे ही मन भी चंचल हो कर भटकता रहता है। कभी व्यापार, कभी परिवार, कभी समाज, कभी देश और कभी अध्यात्म इसी में पूरी जिंदगी निकल जाता है। जीव नित्य, अकर्ता और ब्रह्म का अंश है, इस ज्ञान को प्रकृति के अज्ञान से जीव जोड़ कर चलता है। उसे पता ही नही चलता कि कब जिंदगी की सांझ हो गई और उस का मनुष्य के रूप में जन्म लेना निरथक हो गया।

अयुक्त पुरुष की निश्चयात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती इस का हेतु तो पूर्वश्लोक में बता दिया। अब जो युक्त होता है उस की स्थिति का वर्णन करने के लिये आगे का श्लोक कहते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.67 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.68॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"tasmād yasya mahā-bāho,
nigṛhītāni sarvaśaḥ..I
indriyāṇīndriyārthebhyas,
tasya prajñā pratiṣṭhitā"..II

भावार्थ :

हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सभी प्रकार से विरक्त होकर उसके वश में रहती हैं, उसी मनुष्य की बुद्धि स्थिर रहती है ॥६८॥

Meaning:

Therefore, O mighty armed warrior, one who always restrains his senses from objects, his wisdom his steady.

Explanation:

With this shloka, Shri Krishna concludes the topic of sense restraint. Let us summarize the main points of this topic.

The senses have the power to destabilize the mind, and consequently, destroy the intellect's capability to make proper judgements. The best way to control the senses is to practice one's svadharma with devotion to a higher ideal. If we don't, then even a stray thought about a material object will escalate into a chain of events that will bring about our downfall.

Enlightened souls control the intellect through transcendental knowledge. Then, with the purified intellect, they control the mind, and the mind is used to bridle the senses. However, in the materially conditioned state, the reverse takes place. The senses pull the mind in their direction; the mind overpowers the intellect; and the intellect gets derailed from the direction of true welfare. Thus, Shree Krishna says that if the intellect is purified by spiritual knowledge, by diverting to GOD, then the senses will be restrained; and when senses are held in check, the intellect will not be swayed from the path of divine wisdom.

Changing the quality and direction of thoughts towards a higher ideal will result in a tranquil psyche, enabling us to move in the world of material objects without attachment or revulsion. And ultimately, this will result in peace and happiness.

A pictorial description of this topic was provided in the form of a rudderless ship at sea, that is blown here and there by wind. The wind represents the senses, the ship our mind, and the direction, our wisdom.

And I would like to repeatedly remind you that Krishna is not prescribing suppression of sense organs. Always remember that is a very big misconception that suppression is prescribed in eastern culture. There is always the psychologists in the West are studying the eastern religion. Psychologists have come with an observation that suppression is extremely dangerous. And in our religion repeatedly we talk about indriya nigrahaḥ, sense control, mind control; and they mistake the control as suppression; and they are warning the people that the religion is prescribing suppression which is extremely dangerous for psychological help and therefore they are prescribing a new system: Do not suppress; Let go.

Now the Eastern system says: Letting go is equally dangerous. If suppression is dangerous, expression, violent and uncontrolled expression is also dangerous; what Gītā prescribes is neither suppression nor unintelligent expression; what Gītā prescribes is intelligent regulation i.e. Gītā prescribes channelization of sensory energy. Stopping the river is also dangerous; because if you

stop a river, there will be flood; and if you let the river flow in its own direction, then also it becomes waste of water; because it will go into the ocean. Therefore, neither stop the river, nor allow the river to flow into the ocean. What do you do; dam the river and channelize the water in the direction that you want.

In the next shloka, Shri Krishna begins to conclude the second chapter of the Gita.

।। हिंदी समीक्षा ।।

स्थितप्रज्ञ मनुष्य एवं मोह, लोभ, क्रोध, लालसा एवम कामना को नियंत्रित करने के लिए इन्द्रियों को वश में करने हेतु हम काफी समय से श्रीकृष्ण के मुख से सुन रहे है।श्री कृष्ण भगवान ने हमे कछुवे एवम पतवार विहीन नौका जो हवा से वेग से आगे बढ़ती है का उदाहरण भी दिया। हम ने सीखा-

1. इन्द्रियों के वश में मनुष्य सांसारिक सुख दुख में खोया रहता है एवम जन्म मरण से मुक्त नही होता।

शंकराचार्य जी कहते है कि आत्मा की उपाधिरूप जो अविद्या है , उसकी दो बड़ी भारी शक्तियाँ हैं -- आवरण और विक्षेप । इन दो शक्तियों से ही आत्मा के ऊपर संसार का आरोपण होता है ।

अविद्या के तीन गुण हैं -- सत्त्व , रज और तम । तमोगुण का धर्म आवरण है , जिससे यह ही आत्मस्वरूप के आवरण का कारण है । उसको मूल - अविद्या के नाम से कहा जाता है , जिसके द्वारा संसार महामोह को प्राप्त हो ।

अविद्या दो प्रकार की होती है -- मूल- अविद्या और तूल-अविद्या । समष्टि -अविद्या का नाम मूल- अविद्या है और प्रत्येक जीवगत्- व्यष्टि -अविद्या का नाम तूल- अविद्या है । जिसको तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है , उसकी वह तूल-अविद्या नष्ट हो जाती है । इसलिए एक की मुक्ति होने में , सबकी मुक्ति का प्रसंग नहीं आता ।

2. इन्द्रियों को वश में रखना सब से कठिन कार्य है क्योंकि केवल एक ही इंद्री से जनित लालसा हमे सांसारिक सुख दुख में बांध सकती है।

3. इन्द्रियों का दमन न करते हुए स्थित प्रज्ञ मनुष्य इन्द्रियों का उपभोग आनंद द्वारा कर्तव्य पालन में करता है। जिस के वश में उस की समस्त इंद्रियां है वो ही स्थित प्रज्ञ है।

4. समस्त इन्द्रियों को वश में करना और उस को पूर्ण ब्रह्म की ओर नियंत्रित करना, परमात्मा की विशेष कृपा समझना चाहिए। अन्यथा मन मे अहम स्थान ले लेता है वो भी इन्द्रियों द्वारा ही नियंत्रित हो कर पतन का रास्ता खोल सकता है।

5. यदि सांसारिक कार्य करते समय कर्तव्य भाव हो, एवम स्वयम को अकर्ता मान कर निष्काम भाव से कार्य किया जाए तथा उस के फल को स्वीकार करते हुए, बिना उस के हेतु बने कार्य करे तो ही इन्द्रियों का उपभोग बंधन नही बनता।

6. किसी भी कार्य का परिणाम निकलना सुनिश्चित है, वही कर्म फल भी है। जो उसे कर्ता मान कर करता है वह कर्म के बंधन को स्वीकार भी करता है और उसे भोगने के लिये जन्म-मरण के चक्कर मे फस जाता है। कर्म जीवन की अनिवार्य शर्त है किंतु उस के फल को स्वीकार करना या हेतु बनना नही। इसलिये निष्काम कर्मयोगी ही कर्म करते हुए लोकसंग्रह का कार्य भी करते है, अपने कर्तव्य धर्म का पालन भी करते है और कर्म के बंधन से मुक्त भी रहते है। प्रकृति का आकर्षण उन्हें पथ से नही डिगा पाता।

स्वामी विवेकानंद जी ने इन्द्रियों को इतना शक्तिशाली बताया है कि ध्यान लगाने वाले व्यक्ति को भी यह इस मतिभ्रम मे डाल देती की तुम्हारा ध्यान लगने लग गया और अब तुम श्रेष्ठ व्यक्ति बन गए, कभी कभी एक आध सिद्धि भी हासिल हो जाती है किंतु सांसारिक मोह बना रहता है। आज के युग मे अधिकांश साधु एवं संत इसी भ्रम के शिकार है और आम व्यक्ति उन से ज्यादा इन लोगो पर अंधविस्वास कर के इन को पूजता है।

संसार के साथ व्यवहार करते हुए अथवा एकान्त में चिन्तन करते हुए किसी भी अवस्था में उस की इन्द्रियाँ भोगों में विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं। व्यवहारकाल में कितने ही विषय उस के सम्पर्क में क्यों न आ जायँ पर वे विषय उस को विचलित नहीं कर सकते।

उस का मन भी इन्द्रिय के साथ मिल कर उस की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकता। जैसे पहाड़ को कोई डिगा नहीं सकता ऐसे ही उस की बुद्धि में इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उस को मन किसी भी अवस्था में डिगा नहीं सकता। कारण कि उसके मन में विषयों का महत्व नहीं रहा।

किसी सिद्धांत को समझाते समय पर्याप्त तर्क प्रस्तुत किये बिना हम अन्तिम निष्कर्ष को प्रकट नहीं करते चाहे वह निष्कर्ष कितना ही स्वीकार करने योग्य क्यों न हो। इसी को ध्यान में रखते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को आवश्यक तर्क देने के बाद इस श्लोक में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल अश्रु विलाप और शोक के अतिरिक्त किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा यदि हम जीवन में करते हैं तो संयमपूर्ण जीवन ही जीने योग्य है। इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णत वश में होती हैं वही पुरुष वास्तव में स्थितप्रज्ञ है।

इन्द्रियों को वश में रखने का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष की इन्द्रियाँ निरुपयोगी हो जाती हैं जिससे वह किसी प्रकार विषय ग्रहण ही न कर सके इन्द्रियों की दुर्बलता ज्ञान का लक्षण नहीं। इसका अर्थ केवल यह है कि विषयों के ग्रहण करने से उसके मन की शान्ति में कोई विघ्न नहीं आ सकता उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। अज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का दास होता है जबकि स्थितप्रज्ञ पुरुष उनका स्वामी।

नदी के बहाव को कोई रोक नहीं सकता किंतु बांध बना कर उसे बदल जरूर सकता है। मन और इंद्रियों के बहाव को श्रवण, मनन और निध्यासन से परमात्मा की ओर मोड़ा जा सकता है, जो मुक्ति का मार्ग है।

जिस की इन्द्रियाँ सर्वथा वश में हैं उस में और साधारण मनुष्यों में क्या अन्तर है इसे आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.68।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.69॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

"yā niśā sarva-bhūtānāṁ,
tasyāṁ jāgarti saṁyamī..I
yasyāṁ jāgrati bhūtāni,
sā niśā paśyato muneḥ"..II

भावार्थ :

जो सभी प्राणीयों के लिये रात्रि के समान है, वह बुद्धि-योग में स्थित मनुष्य के लिये जागने का समय होता है और जो समस्त प्राणीयों के लिये जागने का समय होता है, वह स्थिर-प्रज्ञ मुनि के लिए वह रात्रि के समान होता है ॥६९॥

Meaning:

That which is night for all beings, the balanced individual is awake in that. And that in which all beings are awake, the person of contemplation views as night.

Explanation:

Here we encounter one of the most poetic shlokas in the second chapter, again, having several layers of meaning. Let us try to understand it to the best of our ability.

The idea that Krishna wants to convey is this. That is both a jñāni and ajñāni face the same world. It is not that they are going to face a special world, which is going to be all fine; it is not so; the world is going to be the same. The world cannot be changed. because Vēdānta does not attempt to change the world; because it is impractical. Vēdānta's attempt is only to change the way that I look at the world; the way that I look at the people; the way that I respond to situations; and therefore, since a vēdāntin never accomplished any worldly changes, the world is going to be same, corrupt world and with lot of problems, cheating people, lying people, misbehaving people; insulting people, all the people would be the same for a jñāni also.

And more than that even a jñāni has got prārabdha; (luck) because jñāna will not destroy prārabdha. We saw in Tatva bōdha, jñāni destroys his past sañcita karmas, jñāni avoids fresh āgāmi karma, but jñāni also has to face prārabdham, which means ups and downs in life, which are going to continue for a jñāni also.

So therefore what are the two dṛṣṭis? advaita-dṛṣṭi, and dvaita-dṛṣṭi; jñāni has got advaita-dṛṣṭi, which is the essence of the creation. Behind all the varieties of ornaments, gold is one. Behind all the types of furniture, wood is one. Behind all the types of waves, water is one. That non-duality one who does not forget, he has got advaita-dṛṣṭi; he does not see birth and death. Whereas the one got dvaita-dṛṣṭi, he is going to cry of and on. Therefore, ajñāni has got dvaita-dṛṣṭi, jñāni has got Advaita-dṛṣṭi; where? Not in a different place, both of them live in the same world.

There was once a Khade Shree Baba (the standing ascetic), whose disciples claimed he was a very big sage. He had not slept in thirty-five years. He would stand in his room, resting on a hanging rope under his armpits. He used the rope to help him remain in the standing position. On being asked what his motivation was for this destructive kind of austerity, he would quote this verse of the Bhagavad Gita: “What all beings see as night, the enlightened sage sees as day.” So to practice it, he had given up sleeping at night. What a misunderstanding of the verse! From all that standing, his feet and lower legs were swollen, and so he could practically do nothing except stand.

When a lay person and a professional artist enter a museum, both of them find joy in appreciating the works of art. The lay person may get excited about seeing how accurately an artist has painted a portrait. But the professional artist may find joy in more subtler aspects of the very same painting, e.g. what brush strokes were used, which time period was the painting commissioned in, what were the influences and so on - aspects that the lay person is probably totally oblivious to.

So therefore, in this shloka, Shri Krishna is speaking about two groups of individuals: ones who maintain the state of equanimity and ones who don't. Both groups have to live in this world of material objects, and both of them have to face ups and downs in life. The key difference in both groups is their vision.

In this verse, an ignorant person is going to be compared to an owl or āntai, which is a type of bird which keeps awake during the night and which is awake to the night-life alone. Therefore ajñāni is compared to an owl by Krishna. And jñāni is compared to a human being. Very careful. Jñāni is compared to a human being; and ajñāni is compared to an owl. Two comparisons. And two more

comparisons we should remember. The day time Krishna is going to compare to advaitam. Day time is compared to advaitam, and the night time is compared to dvaitam. So jñāni is equal to human being; ajñāni is equal to owl; day is equal is to advaitam and night is equal to dvaitam. With these four comparisons, we have to understand the slōkā.

For most individuals, the world of material objects is their end goal, they are "awake" to it, and the eternal essence is like night to them. But for the individuals of equanimity, the world of material objects loses importance - that world is like night to them. They are awake to the timeless, changeless eternal essence.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिन की इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं हैं जो भोगों में आसक्त है वे सब परमात्मतत्त्व की तरफ से सोये हुए हैं। जैसे पशु पक्षी आदि दिन भर खाने पीने में लगे रहते हैं ऐसे ही जो मनुष्य रात दिन खाने पीने में सुख आराम में भोगों और संग्रह में धन कमाने में ही लगे हुए हैं उन मनुष्यों की गणना भी पशुपक्षी आदि में ही है। कारण कि परमात्मतत्त्व से विमुख रहने में पशुपक्षी आदि में और मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही परमात्मतत्त्व की तरफ से सोये हुए हैं। हाँ अगर कोई अन्तर है तो वह इतना ही है कि पशुपक्षी आदि में विवेकशक्ति जाग्रत् नहीं है इसलिये वे खानेपीने आदि में ही लगे रहते हैं और मनुष्यों में भगवान् की कृपा से वह विवेक शक्ति जाग्रत है जिससे वह अपना कल्याण कर सकता है प्राणिमात्र की सेवा कर सकता है परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। अज्ञानी मर्त्य जीव आत्मस्वरूप के प्रति सोया हुआ है जिसके प्रति ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से जागरूक है। जिन सांसारिक विषयों के प्रति अज्ञानी लोग सजग होकर व्यवहार करते हैं और दुख भोगते हैं स्थितप्रज्ञ पुरुष उसे रात्रि अर्थात् अज्ञान की अवस्था ही समझते हैं।

वास्तव में प्रकृति में जो कुछ हम जीवन व्यापन के लिए सीखते है, वह मोक्ष के लिए अज्ञान है। मनुष्य प्रकृति से अपना संबंध कर्ता एवम भोक्ता का जोड़ लेता है। फिर जन्म, पढ़ाई, रोजी रोटी कमाना, शादी करना और बच्चे पैदा करना, समाज और देश में कर्म करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना। यह अज्ञान ज्ञानी के लिए उस रात्रि के समान है जिसे अज्ञानी प्रकाश या दिन समझता है। ज्ञानी पुरुष मोक्ष को लक्ष्य बना कर संसार में निर्लिप्त और निर्योगी हो कर कर्म करता है, इसलिए पूर्व के परालब्ध के कर्मों को भोगते हुए, नए कर्मों के फलों को संचित नही करता। वह प्रकृति की माया एवम तीनो गुण से परे ब्रह्म में अपना ध्यान स्थापित करता है। इसलिए ज्ञानी के अज्ञानी का दिन रात्रि के समान है। और अज्ञानी ब्रह्म के प्रकाश से दूर प्रकृति की माया में रहता में रहता है, इसलिए मोक्ष की कल्पना उस के रात्रि है और ज्ञानी के लिए दिन अर्थात प्रकाश की ओर बढ़ने का मार्ग है।

काव्य की भाषा मे बताया यह श्लोक दिन और रात के माध्यम से एक कहावत को भी बताता है कि " जागे तब सवेरा" । एक रोचक कथा भी माया के विषय में है।

एक पौराणिक कथा के अनुसार एक बार नारद मुनि ने भगवान विष्णु से पूछा कि भगवन माया क्या है? जिस में अज्ञानी पुरुष फस कर अपना अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ व्यतीत कर देता है।जगत पालक विष्णुजी यह प्रश्न सुनकर मुस्कराए और बोले-किसी दिन दिखा देंगे।

बहुत दिन व्यतीत होने के बाद एक दिन भगवान विष्णु नारद मुनि को साथ लेकर चल दिए। रास्ते में एक जगह एक वृक्ष के नीचे विष्णु ने रुककर कहा, नारदजी थोड़ा पानी लेकर लाओ, प्यास लगी है।

नारद कमंडल लेकर चल दिए। थोड़ा आगे चलने पर उन्हें नींद सताने लगी तो वे खजूर के झुरमुट के पास झपकी लेने के इरादे से लेट गए। लेकिन उन को गहरी नींद आ गई और इतनी गहरी कि वे सपना देखने लगे। सपने में देखा कि वह किसी वनवासी के दरवाजे पर कमंडल लेकर पहुंचे हैं। द्वार खटखटाया, तो एक सुंदर युवती को द्वार पर देखकर ठगे से रह गए।

वह युवती इतनी सुंदर थी कि नारद सब कुछ भूलकर उससे बातें करने लगे। दोनों के भीतर अनुराग की कोंपलें फूटने लगी। इसी बीच नारद ने अपना परिचय देकर लगे हाथ विवाह का प्रस्ताव रख दिया। युवती और उसका परिवार भी राजी

हो गया और तुरंत विवाह हो गया। नारद सुंदर पत्नी के साथ बड़े आनंदपूर्वक दिन बिताने लगे। यथा समय उनके तीन पुत्र भी हो गए।

तभी एक दिन भयंकर बारिश हुई। घर के पास बहने वाली नदी में बाढ़ आ गई। नारद अपनी पत्नी और तीन पुत्रों के साथ बाढ़ से बचने के लिए भागे लेकिन पीठ और कंधे पर लदे हुए तीनों बच्चे उस बाढ़ में बह गए। देखते ही देखते पत्नी भी बाढ़ में बह गई। नारद किसी तरह खुद को बचाते हुए किनारे पर निकल तो आए लेकिन किनारे बैठकर परिवार को खोने के दुख के चलते फूट-फूट कर रोने लगे।

दुख में रोना इतना गहरा रहा कि सपने से वे हकीकत में भी रोने लगे। वह रोना इतना गहन था कि सोते-सोते उनके मुंह से रोने की आवाज निकल रही थी। इसी दौरान विष्णु भगवान नारद को ढूंढते हुए खजूर के झुरमुट के पास पहुंचे। उन्होंने नारद को सोते से जगाया, आंसू पोंछे और रुदन रुकवाया। नारद हड़बड़ाकर बैठ गए। कुछ देर तक तो उन्हें समझ नहीं पड़ी की ये सपना है या हकीकत।

तब भगवान ने पूछा- तुम हमारे लिए पानी लाने गए थे, क्या हुआ? कुछ देर में नारद को भी समझ में आ गया कि यह सपना था। तब उन्होंने सपने में परिवार बसने और बाढ़ में बहने के दृश्य में समय चले जाने के लिए भगवान से क्षमा मांगी। उन्होंने देखा कि उनकी वह दशा देख विष्णु मुस्करा रहे हैं। तब धीरे से विष्णुजी ने कहा कि अब तो तुम्हें तुम्हारे सवालों का जवाब मिल गया होगा कि जगत में फैली माया क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान की जो सीमा होती है, वह अज्ञान की परिधि में बंधी रहती है। यही अज्ञान उसे बता भी नही सकता कि उस का ज्ञान कितना परिपूर्ण है, इसलिये जिसे वह अपूर्ण ज्ञान के कारण प्रकाश समझता है, वह सम्पूर्ण ज्ञानी की भाषा मे उस का अज्ञान ही है अर्थात रात्रि ही है। व्हाट्सएप्प में बीमारियों के इलाज के सैंकड़ो इलाज आते है जो व्यक्ति बीमारी नही समझता, वह भी इलाज जानता है, इसे डॉक्टर लोग अज्ञान अर्थात रात्रि ही कहते है।

ज्ञानी व्यक्ति जब अज्ञानी लोग अपने अज्ञान के ज्ञान से संतुष्ट रहते है, वह अभ्यास द्वारा, योग द्वारा ज्ञान के लिये जुटा रहता है, इसलिये उन की रात इस का दिन और उन का दिन इसकी रात होती है।

अतः जो व्यक्ति ने अपने नित्य को पहचान लिया है वो उस को प्राप्त करने के लिए जाग्रत है और जो व्यक्ति अनित्य यानी संसार मे ही सुख दुख खोजता है वो अभी भी रात्रि में सोया हुआ है। उस के लिए दिन और रात यह संसार है। ऐसा व्यक्ति कभी समझ ही नही पाता कि बिना कर्मफल की आशा के कर्म कैसे किया जा सकता है।

यह प्रकृति ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष के एक समान है। संसार सभी के साथ एक जैसा है। अंतर दृष्टिकोण एवम ज्ञान का है। जिस ने मोक्ष का मार्ग अपना लिया, उस के प्रकृति मात्र कर्तव्य कर्म भूमि है, वह उस के बंधन से परे है। किंतु अज्ञानी प्रकृति को सब कुछ मान कर जीता है, उस के लिए देवता भी सुख प्रदान के लिए माध्यम है। मृत्युलोक से ब्रह्मलोक तक उस ब्रह्म के संकल्प के विकल्प से बना है अतः जो स्वयं में नित्य नही है, उस में की गई, कोई भी क्रिया या प्राप्ति स्थायी कैसे हो सकती है। इस लिए जो अज्ञानी के रात्रि है, ज्ञानी के लिए दिन है।

कर्मयोगी इस रात्रि में कर्तव्य का पालन करता है, सांसारिक जीवन जीता है किंतु निष्काम भाव से। वो अपने को कर्ता नहीं मानता एवम संसार मे कार्य कारण के सिद्धांत के अनुसार अपने कर्मो को भोग कर मोक्ष को प्राप्त होता है, उस के लिए जो रात्रि है वो सांसारिक लोगो के लिए दिन है क्योंकि उन का अपनी इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नही।

आत्मा एक, अखंड और निरवयव है।इसी तरह मन और चित्त एक, अखंड है। हम जो अपने को अलग अलग महसूस करते हैं, वह स्थानीय अनुभव है। जैसे रसोईघर में किसी एक उंगली पर चाकू लग जाना, या तो सिर्फ सर में दर्द होना।समस्त संसार एक था, है और रहेगा।

इसे हिंदु धर्म में अद्वैत कहते हैं; और बौद्ध धर्म में शुन्यता कहते हैं ।एक ब्रह्मन् पुरे संसार में अनंत अनुभव करता है। अनुभव करते ब्रह्मन् को सगुण ब्रह्मन् कहते हैं और निर्लेप ब्रह्मन् को निर्गुण ब्रह्मन् कहते हैं ।

अद्वैत के बारे में सनातन धर्म में भी अलग-अलग विचार है जो एक दूसरे से विरोधाभासी है। कुछ योगी कहते हैं- यह संसार मिथ्या है, आभास है या तो स्वप्नवत है।

दूसरा मत - संत लोग कहते हैं-यह संसार ही ईश्वर का व्यक्त रूप है। योगी लोग संसार छोड़कर मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं । योगी ज्ञानयोग करते हैं ।

संत लोग संसार को प्रेम करते हैं। मोक्ष तो मिलना ही है। मोक्ष के लिए कोई प्रयत्न की जरूरत नहीं है । सिर्फ चित्त शुद्धि चाहिए । चित्त शुद्धि के लिए संत भक्ति योग करते हैं और समाज सेवक कर्म योग करते हैं । गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं- तीन में से कोई भी योग करो, या तीनों साथ में करो।

हिंदु (खास कर वेदांती) जैन और बौद्ध - तीनों धर्म के कुछ साधु कहते हैं: आप अभी ईसी वक्त ब्रह्मन् का ही व्यक्त रूप हैं। आप को कुछ भी करने की जरूरत नहीं है । जो दिल ने चाहा, वही कर लो।

विरोधाभासी* शब्द का अर्थ है:यह विरोध भी एक आभास है, भ्रमणा है।तत्वतः सत्य एक ही है। जहाँ भी विरोध है, अनेकांत का अस्तित्व है; वहाँ संसार है। जिन्होंने ब्रह्म को पा लिया उन्हें किसीसे कोई विरोध नहीं है । वो चर्चा भी नहीं करते। शांत हो जातें हैं । अष्टावक्र और जनक राजा की तरह। वे सिर्फ सत्संग करते हैं, चर्चा नहीं ।

जिसने समस्त कामनाओं का त्याग किया वही ज्ञानी भक्त मोक्ष प्राप्त करता है और कामी पुरुष कभी नहीं। इसे एक दृष्टान्त द्वारा भगवान् समझाते हुए स्थितप्रज्ञ मनुष्य की संसारी व्यक्ति से विचार, आचरण, विवेक, कर्म और बुद्धि के अंतर को स्पष्ट करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.69 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.70॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

"āpūryamāṇam acala-pratiṣṭhaṁ,
samudram āpaḥ praviśanti yadvat..I
tadvat kāmā yaṁ praviśanti sarve,
sa śāntim āpnoti na kāma-kāmī"..II

भावार्थ :

जिस प्रकार अनेकों नदियाँ सभी ओर से परिपूर्ण, दृढ़-प्रतिष्ठा वाले समुद्र में समुद्र को विचलित किए बिना ही समा जाती हैं, उसी प्रकार सभी इच्छायें स्थित-प्रज्ञ मनुष्य में बिना विकार उत्पन्न किए ही समा जाती हैं, वही मनुष्य परम-शान्ति को प्राप्त होता है, न कि इन्द्रिय सुख चाहने वाला ॥७०॥

Meaning:

Just like the ocean remains unmoved though water enters it from all sides, so does that (tranquil) individual attain peace in whom all desires enter, but not the "desirer of desires".

Explanation:

The ocean is unique in its ability to maintain its undisturbed state, despite being inundated by the incessant flow of rivers into it. All the rivers of the world constantly empty themselves into the oceans, which neither overflow nor get depleted. Similarly, the realized sage remains quiescent and unmoved in both conditions—while utilizing sense objects for bodily necessities, or being bereft of them. Only such a sage can attain śhānti, or true peace.

Here Shri Krishna provides another pictorial description of the individual of steady wisdom : a deep, large ocean that has many streams of water entering it. No matter how many streams enter the ocean, regardless of how gently or how forcefully they enter it, the ocean always remains calm and undisturbed.

In the same way, an individual of steady wisdom does not get impacted by any number of material objects or desires that he experiences. They fail to disturb his state of equanimity.

Furthermore, even if the individual has to get angry in order to perform his svadharma in the material world, he is rooted in tranquility. And that is just like the ocean surface could experience stormy weather, but remain tranquil underneath the surface.

On the other hand, the person who is steeped in ignorance and does not possess wisdom will never attain peace. Here he is called the "desirer of desires". In other words, this person still thinks that harbouring and fulfilling desires will lead to peace and happiness. The fundamental shift from selfish desire oriented work to svadharma prompted work has not happened for him.

Note the change in meter to emphasize the point made in this shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यह सुविदित तथ्य है कि यद्यपि करोड़ों गैलन पानी अनेक सरिताओं द्वारा विभिन्न दिशाओं से आकर निरन्तर समुद्र में समाता रहता है तथापि समुद्र की मर्यादा किसी प्रकार भंग नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से असंख्य विषय संवेदनाएँ ज्ञानी पुरुष के मन में पहुँचती रहती हैं फिर भी वे उसके अन्तकरण में किसी प्रकार का भी विकार अथवा क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकतीं। विषयों के बीच रहता हुआ इन्द्रियों के द्वारा समस्त व्यवहार करता हुआ भी जो पुरुष स्वस्वरूप की स्थिति से विचलित नहीं होता वही ज्ञानी है सन्त है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि ऐसा पुरुष ही वास्तविक शान्ति और आनन्द प्राप्त करता है। इतना कहने मात्र से मानो उन्हें सन्तोष नहीं होता और आगे वे कहते हैं भोगों की कामना करने वाले पुरुषों को कभी शान्ति नहीं मिलती।

रूपक के रूप में दिया यह श्लोक स्थित प्रज्ञ व्यक्ति को समुन्द्र के समान बता रहा है किंतु इतना भी जान लेना आवश्यक है कि स्थितप्रज्ञ की बुद्धि परमात्मा में स्थित होती है अतः सांसारिक भोग विलास में उस की रुचि नही रहती। अतः यह संदेश कर्मयोगी यानि अर्जुन की दिया है। ईश्वर स्वयं कर्मयोगी के रूप में भगवान राम एवम कृष्ण बन कर आये। एक नए मर्यादित जीवन एवम एक नए 64 कला युक्त जीवन जिया किन्तु किसी भी रूप में वो सांसारिक भोग विलास के मोह, लोभ या लालसा में नही जिये। यही जीवन समुद्र के समान है। अकर्ता भाव से बिना अहम, मोह, लोभ एवम लालसा के सभी कार्य कर्तव्य के पालन के लिए करना, क्योंकि जब तक शरीर है आप प्रकृति के नियम से बंधे है आप प्रकृति के नियम के विरुद्ध इस शरीर से कुछ नही कर सकते।

समुन्द्र, झील और तालाब में अंतर होता है। झील की तुलना समुन्द्र से नही हो सकती। समुन्द्र से जीवन जीने वाले कर्मयोगी शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, डॉ अब्दुल कलाम, डॉ राधाकृष्ण मेनन आदि कितने लोग हुए जो आज भी निष्काम भाव का आदर्श हम लोगो के लिए छोड़ गए। किन्तु किसी ने भी संग्रह नही किया, कोई मोह, लोभ या लालसा नही रखी। हम

अनेक महापुरुषों से मिलते है किंतु उन में स्थितप्रज्ञ कुछ ही लोग होते है, जो सामाजिक जीवन मे उद्योगपति, व्यापारी, नेता या समाज सेवक के रूप में कर्मयोगी का जीवन बिना कोई संग्रह, मोह, लोभ एवम लालसा के लिए जीते है। जिन का जीवन जन हित के लिए कर्तव्य पालन रहता है। उन की कोई आकांक्षा या लालसा नही रहती, वो जैसे आये वैसे ही चले जाते है। यह लोग कोई मठ, आश्रम, संस्था या संगठन अपने नाम से नही बनाते और न ही उस का कोई पद बिना जिम्मेदारी के सुविधा के लिए स्वीकार करते है। यह जो भी कार्य करते है, वह निष्काम जनसंग्रह के हेतु का कार्य होता है।

आज का श्लोक स्थितप्रज्ञ के महान संत कबीर दास जी के इस दोहे से समाप्त करते है।

झीनी झीनी बीनी चदरिया ॥

काहे कै ताना काहे कै भरनी,

कौन तार से बीनी चदरिया ॥ १॥

इडा पिङ्गला ताना भरनी,

सुखमन तार से बीनी चदरिया ॥ २॥

आठ कँवल दल चरखा डोलै,

पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया ॥ ३॥

साँ को सियत मास दस लागे,

ठोंक ठोंक कै बीनी चदरिया ॥ ४॥

सो चादर सुर नर मुनि ओढी,

ओढि कै मैली कीनी चदरिया ॥ ५॥

दास कबीर जतन करि ओढी,

ज्यों कीं त्यों धर दीनी चदरिया ॥ ६॥

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.70 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.71॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

"vihāya kāmān yaḥ sarvān,
pumāṁś carati niḥspṛhaḥ..I
nirmamo nirahaṅkāraḥ,
sa śāntim adhigacchati"..II

भावार्थ :

जो मनुष्य समस्त भौतिक कामनाओं का परित्याग कर इच्छा-रहित, ममता-रहित और अहंकार-रहित रहता है, वही परम-शांति को प्राप्त कर सकता है ॥७१॥

Meaning:

That individual who walks having abandoned all desires, cravings, mine-ness and ego, he attains peace.

Explanation:

Earlier in the chapter, Arjuna asked Shri Krishna to point out the signs of a person of steady wisdom. To that end, he asked Shri Krishna to answer the following questions: how does he sit, speak and walk. In this shloka, hence the use of the word "charati" meaning "walks" is used to denote the conclusion of the answer to the question, "how does a person of steady intellect walk?".

Shri Krishna summarizes the entire topic of the signs of a wise person in four points. He first asks us to give up selfish desires using the technique of karma yoga. Next, he asks us to give up cravings for things we already possess, which is the second point here. And to eliminate even the slightest trace of selfishness, he finally asks us to give up the sense of "I-ness" and "mine-ness" which we had seen in the first chapter, also known as "ahankaara"' and "mamataa". The goal attained by giving up these four things is also repeated here for emphasis: it is everlasting peace.

The moment we harbor a desire, we walk into the trap of greed and anger. Either way, we get trapped. So the path to inner peace does not lie in fulfilling desires, but instead in eliminating them.Firstly, greed for material advancement is a great waste of time. Secondly, it is an endless chase. Most of the quarrels that erupt between people stem from the ego.The feeling of proprietorship is based upon ignorance because the whole world belongs to God. We came empty-handed in the world, and we will go back empty-handed. How then can we think of worldly things as ours?

Krishna continues with the topic of the jñāni's state of mind. From this it is very clear that any mystic experience is not mokṣaḥ but enjoying a poise mind alone is called mokṣaḥ. And this poised mind is not unknown to you; we do have a poised mind with regard to neighbours' problem. When we read news paper, we are peaceful and calm while reading all news of accidents, theift etc. But it is for particular time only.

Who Am I? This basic question can not be answered by other person as there is always gap between person who wants to know himself and person who tells for him. When you want to know yourself, it is search inside not outside. Therefore, jeevan mukti means knowing oneself i.e. Braham.

Therefore, what is jīvan muktiḥ? Everyone knows. With regard to neighbors problem, how you are jīvan muktaḥ, extend it to your problem; you are able to have the same state of mind. You are able to look at the neighbours' problem. Or your problem also on par with that.

As a point of clarification, let us remember that for most of us, abandoning these four things will not happen overnight. We have to follow a disciplined technique to do so, and only after having applied

this technique for a period of time will be begin to see the desires, cravings, ego and mine-ness slowly lose their grip.

With this shloka, Shri Krishna concludes the final topic of the second chapter, that of the signs of a wise person. The next shloka will be the last shloka in the second chapter, a wonderful milestone in our journey. This shloka is the seed of the fifth and sixth chapters of the Gita that cover the topic of renunciation of actions.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अर्जुन ने 54वे श्लोक में प्रश्न पूछा था कि स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है। भावार्थ में अर्जुन स्थित प्रज्ञ के विषय उस के सोचने, किसी बात की प्रतिक्रिया देने एवम व्यवहार के बारे में जानना चाहता था। अतः अब चलना यानी कैसे व्यवहार करता है को हम समझने की चेष्ठा करेगे।

परम शान्ति को प्राप्त पुरुष के मन की स्थिति को प्रथम पंक्ति में बताया गया है कि वह पुरुष सब कामनाओं का तथा विषयों के प्रति स्पृहा लालसा आसक्ति का सर्वथा त्याग कर देता है। दूसरी पंक्ति में ऐसे पुरुष की बुद्धि के भावों को बताते हुए कहते हैं कि उस पुरुष में अहंकार और ममत्व का पूर्ण अभाव होता है। जहाँ अहंकार नहीं होता जैसे निद्रावस्था में वहाँ इच्छा आसक्ति आदि का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार प्रथम पंक्ति में अज्ञान के कार्यरूप लक्षणों का निषेध किया गया है और दूसरी पंक्ति में उस कारण का ही निषेध किया गया है जिससे इच्छायें उत्पन्न होती हैं।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सर्वप्रथम इन्द्रियों को वश में करता है, द्वितीय वो अपनी समस्त इन्द्रियों को परमात्मा में स्थापित कर के निष्काम एवम निर्लिप्त हो जाता है और तृतीय स्थितप्रज्ञ निःस्पृह एवम अहंकार एवम ममता को त्याग कर अद्वेत हो जाता है।

तृतीय अवस्था अत्यंत उच्च कोटि की अवस्था है जिसे सन्यास भी कहा जाता है।

निःस्पृह में स्थितप्रज्ञ का ध्यान शरीर से हट जाता है, शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को निर्वाह तो वो करता है किंतु उस पर कोई ध्यान नही देता। उस का अहम यानि मैं भी परम तत्व में विलीन हो जाता है जिस से वो पूर्ण ब्रह्म की स्थित में होता है और उस मे मोह भी नष्ट हो जाता है।

चित्त शुद्धि है तीन स्वरूप में प्रथम बाह्य शुद्धि है जिसे हम भोजन, संगति, अध्ययन एवम योग द्वारा स्वच्छ रह कर पूजा पाठ और यज्ञ से प्राप्त करते है।, द्वितीय आंतरिक शुद्धि है जिस में इन्द्रियों का शमन, मन की एकाग्रता एवम बुद्धि के विकास एवम मन पर बुद्धि के नियंत्रण करते हुए सत गुणों को प्राप्त करते हुए करते है।

तृतीय शुद्धि परम् अंतर्मन शुद्धि है जिसे गुणातीत हो कर योगी हो कर प्राप्त किया जा सकता है। इसे हम आगे भी पढ़ेंगे।

यह अवस्था को प्राप्त व्यक्ति को यदि जानना हो तो रामकृष्ण परमहंस या चैतन्य महाप्रभु को पढ़े। उन के जीवन मे स्थित प्रज्ञ कैसे चलता है जान जायेगे। जब व्यक्ति अद्वेत में प्रवेश कर लेता है कर्म कारण के सिंद्धांत से निर्लिप्त होता है। कुछ का मत है कर्म का फल तो मिलता ही है और उस के अनुसार कर्म का निर्धाहरन भी होता है, किन्तु मनुष्य जन्म में बुद्धि द्वारा पूर्व कर्मो के फल के अनुसार कर्म करते हुए स्वयं को निर्लिप्त एवम निष्काम रखता है तो आगे के लिए निर्लिप्त एवम निष्काम भाव के कर्म से मुक्त भी होता है।

व्यवहारिक जीवन मे सन्यास की अवस्था को प्राप्त करना अत्यंत कठिन प्रतीत होता है क्योंकि मोह एवम अहम को तोड़ पाना संभव नही लगता। किन्तु जीव का उद्देश्य पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करना ही है, और बार बार जन्म मृत्यु के चक्कर द्वारा वो शनैः शनैः पूर्ण ब्रह्म की ओर मुक्त होने के गति शील है। मनुष्य जन्म में यदि विवेक जाग्रत होता है तो यह गति बढ़ जाती है। यहां सब यात्री है सब की मंजिल एक ही है, कोई पैदल, कोई रेंगकर, कोई साइकल पर चल रहा है। स्थित प्रज्ञ अपने मंजिल की और मोटर या हवाई यात्रा से बढ़ कर पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त होता है।

शंकराचार्य जी कहते कि अविद्या की दूसरी शक्ति -- विक्षेप , रजोगुण के कारण है । यह शक्ति पुरुष की निरन्तर प्रवृत्ति का कारण होती है । विक्षेप शक्ति, आत्मा में स्थूल से बुद्धि पर्यन्त समस्त असत् (मिथ्या) वस्तुओं को आरोपित करती है

।जैसे निद्रा अत्यंत सावधान व्यक्ति को भी अपने वश में कर लेती है ; वैसे ही आवरण - शक्ति अन्तःकरण में विक्षेप-शक्ति को बढ़ाती हुई आत्मा को ढक लेती है ।

आवरण नामवाली बड़ी भारी शक्ति के द्वारा स्वच्छरूप आत्मा के आवरणयुक्त हो जानेपर , पुरुष अज्ञान से अनात्मा देह आदि में ' यह मैं ही हूँ ', ऐसा मानकर आत्मपन का ज्ञान स्थापित कर बैठता है। जैसे सुषुप्तिकाल में भासनेवाले देह में ' यही मैं हूँ , यही मेरी आत्मा है ' , ऐसी बुद्धि होती है ; वैसे ही यह पुरुष उस अनात्मा के जन्म-मरण, भूख-प्यास , भय, थकावट आदि धर्मों को आत्मा में आरोपित करते है ।।

अर्जुन एक कर्मयोगी है और हम गीता अध्ययन भी अर्जुन की भांति कर्मयोगी की भांति कर रहे है। अतः सन्यास की अवस्था तो गीता में कम स्थान देते हुए अर्जुन को कृष्ण ने कर्मयोगी का उपदेश दिया जिस के अनुसार समय एवम स्थान के अनुसार निष्काम भाव एवम निर्लिप्त हो कर कार्य करने को कहा गया है।

महाभारत के युद्ध मे कौरव की तरफ खड़े योद्धाओं में भीष्म, द्रोण एवम कर्ण स्थितप्रज्ञ लोग ही है जिन का युद्ध मे खड़ा होना निष्काम एवम निर्लिप्त भाव से था एवम वो सभी समय एवम स्थान के हिसाब से युद्ध करने को तैयार थे उन के मन मे कोई द्वेष या लालसा नही थी।

समाचार पत्र पढ़ते वक्त हम निर्लिप्त भाव में संसार के समाचार पढ़ते है क्योंकि यह सब हमे व्यक्तिगत रूप से प्रभावित नही करते किंतु यही भाव यदि हमारे अंदर अपनो के समाचार पढ़ते वक्त नहीं रहते। जबकि स्थितप्रज्ञ दोनो स्थिति में समान होता है।

मैं कौन हूं? इस का उत्तर जब तक बाहर किसी व्यक्ति, शास्त्र या स्थान में खोजेंगे तो वह और आप दो रहेंगे। आप ही ब्रह्म का अंश है तो आप के अतिरिक्त किसी की खोज बाहर नहीं अंदर ही होगी। यही जीव मुक्ति है। जब जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को जान लेता है तो फिर प्रकृति की किसी भी वस्तु से उसे कोई फर्क नहीं रहता।

कल का अंतिम श्लोक भी सन्यास के बारे में ही है जिस के साथ यह द्वितीय अध्याय समाप्त होगा।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.71 ।।

।। स्थितप्रज्ञ और आदर्श गुरु।। विशेष 2.71 ॥

स्वामी विवेकानंद के अनुसार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के कई लोग अनुयायी बन जाते है किंतु स्थितप्रज्ञ का अनुयायी कोई हो ही नही सकता। अधिकांश लोग सांसारिक लालसा, सुख एवम भोग में फसे होने से अपने दुखों का निवारण चाहते है किंतु उन की लालसा, मोह एवम लोभ बना रहता है। यह लोग सुख भी इन्द्रियों के भोग में खोजते है। स्थितप्रज्ञ कभी अनुयायी नही बनाता वो जीवन जीता है जिस को देख कर कोई भी स्थित प्रज्ञ का जीवन जीने की चेष्टा करता है किंतु स्थितप्रज्ञ होने के बाद उस को किसी की आवश्यकता नही, उस की बुद्धि ने इन्द्रियों को वश में कर है परमात्मा में स्थापित कर दिया। अतः उस का कोई अनुयायी हो ही नही सकता। प्रत्येक व्यक्ति या जीव जब तक प्रकृति के आधीन है तब तक ही विभिन्न है अन्यथा नित्य तो अविभाजित, अजन्मा और अकर्ता है। उस का कोई कैसे अनुसरण कर सकता है, जीव तो जब भी मोह, लालसा, लोभ एवम कर्म कारण में कर्ता भाव से किये कार्यो ने मुक्त होता है तो मोक्ष को प्राप्त हो नित्य हो जाता है।

किंतु जैसे ही स्वार्थ, लोभ, राग - द्वेष में डूबे लोगो को किसी भी संत महात्मा का पता चलता है, तो उस से उन के सांसारिक क्लेश मिट जाए, लोग उन्हे पूजने लगते है। उन्हे उन से किसी अलौकिक चमत्कार की आशा रहती है। प्रकृति की माया यही है कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति व्यक्तिगत प्रयासों से प्राप्त होती है, कोई सामूहिक तकनीक नही होती। न ही यह अनुवांशिक होती है।

अतः स्थितप्रज्ञ का अनुसरण किया जाता है उस का अनुयायी होना तो सांसारिक ही मोह, लोभ एवम लालसा का ही मायाजाल है। देवी, देवताओं, संत और महात्माओं को पूरा संसार ही किसी न किसी रूप में पूजता है किंतु उन में स्थितप्रज्ञ

कितने है? अनुसरण करने का अर्थ है, उस के गुणों को अपनाना और अपने दुर्गुणों को त्यागना, यही कठिन है, यही योग और तप है, इसलिए लोग अनुयायी बनते है, अनुसरण नही करते।

जो साधु- संत आश्रम चलाते है या प्रवचन देते है, उत्तम वचन बोलते है, उन का आचरण भी वैसा हो - आवश्यक नही। कर्मयोगी लोकसंग्रह के लिये काम करता है, लोक कर्म योगी का अनुशरण करते है और अपेक्षाएं रखते है किंतु कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ हो कर न तो कोई अपेक्षा रखता है न ही अनुशरण करता है और समुंदर की भांति उस मे समाहित अपेक्षाएं अपने आप ही शांत हो जाती है।

गीता के दूसरे अध्याय के समापन से पूर्व दो ही श्लोक बाकी है जिन में सन्यास को महत्व मोक्ष प्राप्ति के लिए दिया है और इसे हम आगे पढ़ेंगे।

अभी तक गीता को पढ़ने के बाद आगे के अध्याय अभी तक अध्याय दो में दिए समस्त ज्ञान को विस्तार से समझने के लिए है। यह कुछ ऐसा ही है कि विषय एवम उस के अध्याय बता देने के बाद प्रत्येक विषय पर गंभीर अध्ययन करना। कक्षा में नर्सरी के बाद अब कविताएं, निबन्ध कहानियों एवम गूढ़ विषय समझना। इसलिये अपना शब्द कोश एवम एकाग्रता को अब केंद्रित करें और जुड़े रहे।

गीता मानवीय मूल्यों का सही अर्थों में मूल्यांकन है जो किसी धर्म, जाति विचारधारा या साम्प्रदाय से ऊपर मानवीय जीवन को कैसा होना चाहिये, पर बेवाक अपनी बात कहता है। अंधविश्वास, अंध अनुकरण, मिथ्या विस्वास एवम कर्मकांड छोड़ कर विवेक पूर्वक कर्मयोगी की भांति संसार मे जीना सिखाता है। गीता के अनुगामी चाहे हो न हो, किन्तु संसार के समस्त महान व्यक्तियों में गीता में बताए गुण अवश्य होते है। अनेक विदेशी लेखक जब व्यक्तित्व के उच्चतम विकास की बात करते है तो हिन्दू संस्कृति में वेद-उपनिषद या गीता में बताए गुणों को ही बताते है।

।।हरि ॐ तत सत ।। विशेष 2.71 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 2.72॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

"eṣā brāhmī sthitiḥ pārtha,
naināṁ prāpya vimuhyati..I
sthitvāsyām anta-kāle 'pi,
brahma-nirvāṇam ṛcchati"..II

भावार्थ :

हे पार्थ! यह आध्यात्मिक जीवन (ब्रह्म की प्राप्ति) का पथ है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य कभी मोहित नही होता है, यदि कोई जीवन के अन्तिम समय में भी इस पथ पर स्थिति हो जाता है तब भी वह भगवद्प्राप्ति करता है ॥७२॥

Meaning:

Having attained this state of brahman, O Paartha, one never gets deluded. If one gets established in this state even at the time of death, he attains oneness with brahman.

Explanation:

We encounter the word "brahman" in this shloka, which is the concluding shloka in the second chapter of the Gita. As a side note, this word is pronounced as "bruh-mun" and not "brah-mun".

Brahman means God, and Brahmi sthiti means the state of God-realization. When the soul purifies the heart (the mind and intellect are sometimes jointly referred to as the heart), God bestows his divine grace, as mentioned in verse 2.64. By his grace, he grants divine knowledge, divine bliss, and divine love to the soul. All these are divine energies that are given by God to the soul at the time of God-realization.

At the same time, he liberates the soul from the bondage of Maya. The sanchit karmas (account of karmas of endless lifetimes) are destroyed. The avidya, ignorance within, from endless lifetimes in the material world, is dispelled. The influence of tri-guṇas, three modes of material nature, ceases. The tri-doṣhas, three defects of the materially conditioned state come to an end. The panch-kleshas, five defects of the material intellect, are destroyed. The panch-koshas, five sheaths of the material energy, are burnt. And from that point onward, the soul becomes free from the bondage of Maya for the rest of eternity.

So what exactly is this brahman? It is nothing but the eternal essence that Shri Krishna described in the earlier shlokas of this chapter. It is eternal, timeless, changeless, and pervades the entire universe And when this abstract notion of the eternal essence takes a name and a form, it is known as Ishvara or God.

Therefore, if one follows the technique of karma yoga and attains the state of a person of steady wisdom or "stithaprajnya", that person attains oneness with brahman, or in other words, attains God. Also, even if we only attain this state at the time of death, we will still achieve oneness with brahman.

One can attain Krishna consciousness or divine life at once, within a second - or one may not attain such a state of life even after millions of births. It is only a matter of understanding and accepting the fact. Nirvana means ending the process of materialistic life.

According to Buddhist philosophy, there is only void after the completion of this material life, but Bhagavad-gita teaches differently. Actual life begins after the completion of this material life. For the gross materialist it is sufficient to know that one has to end this materialistic way of life, but for persons who are spiritually advanced, there is another life after this materialistic life. Before ending this life, if one fortunately becomes Krishna conscious, he at once attains the stage of brahma-nirvana. There is no difference between the kingdom of God and the devotional service of the Lord. Since both of them are on the absolute plane, to be engaged in the transcendental loving service of the Lord is to have attained the spiritual kingdom. In the material world there are activities of sense gratification, whereas in the spiritual world there are activities of Krishna consciousness.

Attainment of Krishna consciousness even during this life is immediate attainment of Brahman, and one who is situated in Krishna consciousness has certainly already entered into the kingdom of God. Brahman is just the opposite of matter.

Therefore brahmi sthiti means "not on the platform of material activities." Devotional service of the Lord is accepted in the Bhagavad-gita as the liberated stage. Therefore, brahmi sthiti is liberation from material bondage.

At the time of death, what will happen to him. He will attain videha muktiḥ or merger into param brahma. Which means he will not have punarapi jananam, punarapi maranam cycle,
the sthula sariram; the sukṣma sariram, the kāraṇa sariram, all the three bodies merge into totality. In the case of ignorant people, physical body alone merges or is
destroyed. The other two bodies travel, whereas in the case a jnani, the other two bodies also merge; that is technical explanation.

Shri Krishna concludes the second chapter of the Gita with this shloka. As we saw before, the second chapter contains the essence of the entire Gita. So, why should we read the next 16 chapters? Let us take up this question.

Shri Krishna has packed several lifetimes worth of instruction into the second chapter. Most of us will never get it just by reading the second chapter. So Shri Krishna has taken up each point in the second chapter and elaborated it further in the remainder of the Gita. He clarifies key points in the teaching, resolves seemingly conflicting statements, and makes everything practical and accessible to all kinds of readers.

Now, some of us would have approached the Gita to further our spiritual quest, and some of us with a very practical bent. We should not assume that the remainder of the Gita will only go deeper into the spiritual aspects. There are tons of practical lessons that will improve our daily lives and make us better human beings, even if we choose to disregard the spiritual aspects of the Gita.

Having concluded the second chapter in our journey, we will summarize the main points of the second chapter and get a sense of what's coming ahead next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान् के मुख से तेरी बुद्धि जब मोहकलिल और श्रुतिविप्रतिपत्ति से तर जायगी तब तू योग को प्राप्त हो जायगा ऐसा सुनकर अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई कि वह स्थिति क्या होगी इस पर अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के विषय में चार प्रश्न किये। उन चारों प्रश्नों का उत्तर देकर भगवान् ने यहाँ वह स्थिति बतायी कि वह ब्राह्मी स्थिति है। तात्पर्य है कि वह व्यक्तिगत स्थिति नहीं है अर्थात् उस में व्यक्तित्व नहीं रहता। वह नित्य योग की प्राप्ति है। उस में एक ही तत्त्व रहता है। इस विषय की तरफ लक्ष्य कराने के लिये ही यहाँ पार्थ सम्बोधन दिया गया है।

जब तक शरीर में अहंकार रहता है तभी तक मोहित होने की सम्भावना रहती है। परन्तु जब अहंकार का सर्वथा अभाव होकर ब्रह्म में अपनी स्थिति का अनुभव हो जाता है तब व्यक्तित्व टूटने के कारण फिर कभी मोहित होने की सम्भावना नहीं रहती।

शंकराचार्य जी ने इस स्थिति का वर्णन विवेक चूड़ामणि में इस प्रकार किया है।

देहाभिमान से रहित जीवनमुक्त ब्रह्मज्ञ पुरुष, प्रारब्धकर्मो से कल्पित कामनाओं द्वारा संसारी पुरुष के समान ही आचरण करता है। परन्तु वह सिद्ध पुरुष तो स्वयं सभी संकल्पों - विकल्पों से मुक्त होकर कुम्हार के चक्र की धुरी के समान शरीर में साक्षीभाव से मौन होकर रहता है ।

साक्षीभाव में रहनेवाला वह ब्रह्मज्ञ पुरुष, न तो इन्द्रियों को भोग्य विषयों में लगाता है और न ही दूर करता है। आत्मानन्दरस में सदा आल्हादित रहनेवाला, वह कर्मफलों की अल्पमात्र भी अपेक्षा नहीं रखता ।

जो निदिध्यासन और विषय-चिन्तन- इन दोनों का त्याग कर के केवल शुद्धात्मा के रूप में स्थित रहते हैं, वे ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ और स्वयं साक्षात् शिव के समान वन्दनीय हैं ।

अहो! ब्रह्म और आत्मा की एकता की अनुभूति से मेरी व्यावहारिक बुद्धि एकदम नष्ट हो गयी, विषयों में मेरी सारी प्रवृत्तियाँ गल गयीं, अब मैं इदम् (प्रत्यक्ष वस्तु) और अनइदम् (यह नहीं, अप्रत्यक्ष) भी नहीं जानता और न मैं यही जानता हूँ कि वह अपार आनन्द कैसा और कितना है। (क्योंकि समाधि के बाद अपार आनन्दरस का वर्णन असम्भव है ।।

सब इच्छाओं के त्याग का अर्थ है अहंकार का त्याग। अहंकार रहित अवस्था निष्क्रिय अर्थहीन शून्य नहीं है। जहाँ भ्रान्तिजनित अहंकार समाप्त हुआ वहीं पर पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशित होता है। अपने हृदय में स्थित आत्मा को पहचानने का ही अर्थ है उसी समय सर्वत्र व्याप्त नित्य ब्रह्म को पहचानना। अहंकार के नष्ट होने पर नित्य चैतन्य आत्मा का अनुभव उससे भिन्न रहकर नहीं होता वरन् उसके साथ एकत्व का अनुभव ही होता है। अत इस साक्षात्कार को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है।

सत् और असत् को ठीक तरह से न जानना ही मोह है।तात्पर्य है कि स्वयं सत् होते हुए भी असत् के साथ अपनी एकता मानते रहना ही मोह है। जब साधक असत् को ठीक तरह से जान लेता है तब असत् से उस का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और सत्य में अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव हो जाता है। इस स्थिति का अनुभव होने पर फिर कभी मोह नहीं होता।श्लोक में कहा कि अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ कोई प्राण छोड़ता है वह भी मेरे को ही प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं है।

सेवा के लिए पानी पिलाना, यदि सोचे तो निम्न भाव पैदा कर सकती है

1 सेवा भाव या

2 पानी पीने वाले के प्रति दया भाव या

3 सेवा से अहम भाव या

4 सेवा एक सेवक के रूप में या

5 अपने कर्तव्य भाव से सेवा

मिथ्या का निषेध और सत्य का प्रतिपादन यही वह मार्ग है जिस का उपनिषदों में आत्म प्राप्ति के लिए उपदेश है। कर्मयोग उस ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप है जिसका निरूपण व्यासजी ने गीता में अपनी मौलिक शैली में किया है। अनासक्त भाव से सिद्धि और असिद्धि में समान रहते हुए कर्म करने का अर्थ है अहंकार के अधिकार को ही समाप्त करना और इस प्रकार अनजाने ही वहाँ उच्चतर सत्य की स्थापना करना। अस्तु वेदान्त के निदिध्यासन से गीता में वर्णित कर्मयोग की साधना भिन्न नहीं है। परन्तु अर्जुन भगवान् के केवल वाच्यार्थ को ही ग्रहण करता है और उसके मन में एक सन्देह उत्पन्न होता है जिसे वह तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में व्यक्त करता है। अत अगले अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं।

द्वितीय अध्याय गीता का सर्वश्रेष्ठ अध्याय है क्योंकि इस में सांख्य योग और कर्म योग का गुढ़ अर्थ के साथ विवेचन है। अर्जुन के मोह और शास्त्र ज्ञान के माध्यम से जीव के अज्ञान को भी चित्रित किया गया है, इसलिए जब अज्ञान मिटता है तो ब्रहमस्थिति की प्राप्ति होती है और जीव अपना शेष जीवन ब्रह्म स्थिति में व्यतीत करता हुआ, मुक्ति को प्राप्त होता है।

यहां द्वितीय अध्याय को समाप्त करते हुए तृतीय अध्याय को प्रारम्भ करने से पूर्व कल हम द्वितीय अध्याय के सारांश अपने संकल्प एवम अचेतन मन की अवधारणाओं को छू कर जाने वाली जानकारी के लिए पढ़ेगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 2.72 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ अध्याय: २ सारांश॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गीतासार-योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

||oṃ tatsaditi śrimadbhagavadgitasupaniṣatsu brahmavidyaysṃ yogaśastre

śrikṛṣṇarjunasaṃvade saṅkhyayogo nama dvitiyodhyoyaḥ||

भावार्थ :

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवदगीता के श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में गीतासार-योग नाम का दूसरा अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥

Explanation:

Thus in the Upaniṣads of the glorious Bhagavad Gītā, the science of the Eternal, the scripture of Yōga, the dialogue between Sri Krishna and Arjuna, ends the second discourse entitled: Saṅkya Yoga.

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

Summary of Bhagvad Gita Chapter 2:

Since the second chapter is said to contain the essence of the entire Gita, let's try to recap the main points before we move to the third chapter:

1. Shri Krishna points out the error in Arjuna's thinking, in that Arjuna's personality was shaken by grief and delusion towards his kinsmen

2. He advises Arjuna to correct the error by learning the knowledge of the eternal essence

3. He describes the means to attain the eternal essence

4. He also describes the characteristics of the individual who has realized the eternal essence.

We can summarize the technique to attain the eternal essence into 3 stages:

1. Attain steadfastness in selfless action by pursuing one's svadharma

2. Attain steadfastness in devotion to a higher ideal

3. Attain steadfastness in the knowledge of the eternal essence or tattva-jnyana

We also saw that many shlokas in this chapter form the seeds of all other chapters of the Gita:

* "yogasthaha kuru karmaani" (2.48) -> chapters 3,4 on purification of mind through karma yoga

* "vihaaya kaamanyah sarvaan" (2.71) -> chapters 5,6 on renunciation of actions and meditation

* "taani sarvaani samyamya" (2.61) -> chapters 7,8,9,10,11,12 on devotion

* "vedaavinaashinam nityam" (2.21) -> chapter 13 on knowledge

* "traigunyavishayaa vedaa" (2.45) -> chapters 14,17 on the three gunaas and faith

* "yada te mohakalilam" (2.52) -> chapter 15 on dispassion

* "duhkeshvanudvignamanaah" (2.56) -> chapter 16 on divine wealth

* "yaaimaam pushpitaam" (2.42) -> chapter 16 on demonic wealth

Footnotes

1. Most commentators agree that the chapters of the Gita map to the Upanishadic statement "Tat tvam asi" or "You are that". The first 6 chapters cover the "tvam" or the "you" aspect, the next 6 cover the "tat" or the "That" aspect", and the final 6 chapters cover the "asi" or the "are" aspect.

सारांश – द्वितीय अध्याय

गीता का द्वितीय अध्याय के समापन के साथ यह सारांश सिर्फ इस उद्देश्य से लिखा जा रहा है कि जब हम पढ़ते है तो हमारी चेतना जाग्रत होती है और हम उस से प्रभावित होते है। लिखे हुए शब्द सर्वप्रथम हमारे अवचेतन मन को छूते है और वो हमारे संस्कारो के आधार पर उसे स्वीकार् या अस्वीकार कर के हमे आनंद या निराशा देते है। कभी हम उसे स्वीकार् तो करते है किंतु कंही मन मे बैठी अवधारणा उन को अपनाने के लिये अस्वीकार भी करती है क्योंकि हमारी जीवन शैली के लिए हमारी अपनी चेतना उसे व्यवहारिक नही मानती।

अतः ज्ञान पढ़ने की सतह पर बिखर जाता है जो हमे ज्ञानी और वाचाल तो बनाता है किंतु अहम उसे आत्मसात करने से रोकता है।

प्रथम अध्याय में अर्जुन के मोह को जब कृष्ण ने ललकारा तो ज्ञान का सहारा ले कर अर्जुन नकारात्मक हो कृष्ण के शरण मे गया कि आप को जो समझाना है बताए किन्तु मै युद्ध नही करूगा । अर्जुन का मोह एवम अहम का यह वाक्य हम सब के लिए नया नही है क्योंकि हो सकता है कि हम गीता अध्ययन भी अर्जुन की भांति इसी अवधारणा से शुरू कर रहे कि गीता का नित्य एक श्लोक पढ़ूंगा जरूर किन्तु अपना पाऊ यह जरूरी नही। यह भी जरूरी नही एक श्लोक को भी नियमित पढ़ पाए क्योंकि इच्छाओ पर प्रथम अधिग्रहण सांसारिक आवश्यकताओ का अधिक होता है।

यह हमारी रोज़ की दिन चर्या है कि हम जैसा विचार करते है वैसा कार्य नही करते। हमारे विचारों एवम कार्यो का ताल मेल इन्द्रियों को वश में करने की प्रथम सीढ़ी है।

जैसा मैंने प्रथम पद में हम सब के लिए लिखा है कि इस प्रकार की नकारात्मक दृष्टिकोण ले कर सुनने वाले शिष्य को एक कृष्ण के समान वक्ता ही समझा सकता है। कृष्ण द्वारा भी गीता का ज्ञान अर्जुन को मोह, भय एवम अज्ञान से निराशा की चरम सीमा पर दिया गया तांकि वो अपनी कर्तव्य विहीन स्थिति से बाहर आ सके। अतः गीता पढ़ने के लिए भी उस को पढ़ने की आवश्यकता एवम जीवन मे सुधार लाने की इच्छा होना जरूरी है।

एक कुशल वक्ता की भांति कृष्ण ने उस के ज्ञान के अंधकार को सांख्य योग द्वारा नित्य एवम अनित्य के भेद से बताया कि नित्य अजर, अमर, अकर्ता एवम अजन्मा है और यह सामने जो है वो जीव है जिस का जन्म मरण निश्चित है। यह बार बार जन्म ले कर अपने कर्मो को भोगता है एवम एक योद्धा की भांति उसे समय एवम स्थान के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इस के बाद एक कुशल वक्ता की भांति व्यवहारिक ज्ञान भी दिया कि यदि वो ऐसा नही करता तो भी उस की कीर्ति का अपयश ही होगा। जिस से अर्जुन को यह तो ज्ञात हो गया कि जिन शास्त्रों की दुहाई दे कर वो युद्ध नही करने की बात कर रहा है वो गलत है।

इस के बाद हम लोगो ने कृष्ण से कर्मयोग के बारे में सुना। कर्मयोगी अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर के उसे परमात्मा में स्थापित करता है और स्वयं निष्काम एवम निर्लिप्त भाव से बिना फल की आशा के, बिना कर्ता भाव के और बिना किसी भी कार्य का हेतु बने कर्तव्य का पालन करता है। इन्द्रियों को वश में करना सब से दुश्कर कार्य है, एक भी इन्द्रीयजनित लालसा समस्त जीवन को प्रकृति के अधीन कर दुख सुख भोगने को मजबूर कर सकती है।

गीता कभी भी एवम कंही भी इन्द्रियों के दमन का समर्थन नही करती। इन्द्रीयो का दमन शारीरिक असमर्थता के समय घातक हो सकता है क्योंकि वृद्ध अवस्था मे कभी कभी दमन की हुई इंद्रियां विकृत रूप ले कर आप के ऊपर हावी हो जाती है और आप वो हरकते करने लग जाते है जिसे नही करना चाहिए। इन्द्रियों का बुद्धि द्वारा वश में करना एवम उस को परमात्मा में लगाना ही कर्मयोगी का कार्य है।

यहां कर्मयोगी के लिये स्थितप्रज्ञ का होना बताया गया जिस में कैसे इन्द्रियों को वश में करना एवम कैसे वश में की गई इन्द्रियों से कर्मयोग करते हुए संसार मे आनंद को प्राप्त करना बताया गया। इन्द्रियों को वश में करने वाला स्थितप्रज्ञ योगी कर्म करता हुआ भी कार्य कारण के सिंद्धांत से मुक्त हो उस के कर्म फलों मुक्त रहता है और मोक्ष को प्राप्त होता है।

ज्ञान योग एवम कर्मयोग के अतिरिक्त हम ने भक्ति योग को भी स्पर्श किया।

स्थितप्रज्ञ की चरम सीमा में अहम, मोह एवम निस्पर्ह भाव को प्राप्त हो जाना जो जीव की उच्चतम दशा है जहां जीव नित्य में एकत्व भाव मे मोक्ष को प्राप्त होता है। सन्यास के विषय मे दो ही श्लोक है जिस का विस्तार से वर्णन आगे पढ़ेगे । हरिवंश राय की कविता का यह अंश की "इस पार, प्रिये मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा! " को याद करे कि हम आनंद इसी संसार मे खोजना चाहते है क्योंकि हम से अहम और मोह छूटना असंभव सा लगता है और मोह से इस कदर बंधे है कि इस के छूटने से भय की अनुभूति होने लगती है।

जीवन के इस कठिन विषय को कुशल वक्ता की भांति कृष्ण जी ने उदाहरण के तौर पर कछुवे, समुद्र, बिना पतवार के हवा के सहारे तैरती नाव एवम रूपक के तौर पर दिन एवम रात, दलदल जैसे शब्दों का प्रयोग किया। जब भी महाज्ञानी किसी अल्पज्ञानी को कुछ भी समझाए तो उसे उस वस्तु से तुलना करके बताना जरूरी है जिसे सुनने वाला जानता हो।

गीता के इस ज्ञान को विस्तार से जानने से पूर्व द्वितीय अध्याय हमे बता देता है आगे गीता में कृष्ण क्या बताएंगे। कुशल वक्त रुचि पैदा करने के लिए अपने विषय का संक्षिप्त पहले रख देते है जिस से सुननेवाला पूर्ण रूप से तैयार हो जाये। (see detail in english)

बाल गंगाधर तिलक के कर्म रहस्य में गीता के बारे में लिखा है कि जब राम ने लंका पार जाने के लिए सेतु बनाया तो सैंकड़ो बानर पुल से समुन्द्र पार उतर गए किन्तु समुन्द्र की गहराई को किसी ने भी नही नापा। और यदि किसी ने नापा है तो वो पत्थर है जो वानरों ने समुन्द्र में छोड़ा और जो समुन्द्र के अंदर डूब गया। अतः गीता का पठन पूरा करना या इस की गहराई को प्राप्त करना, दो विभिन्न पठन की प्रक्रिया है।

गीता संसार मे जीने की वो कला सिखाती है जिस से कोई भी व्यक्ति आनंदपूर्वक संसार की हर वस्तु का आनंद ले सके। यहां शोक या दुख को कोई स्थान नही, यहां कर्मविहीन भी जीवन नहीं, यहां कर्मकांड को भी कोई महत्व नही। आप को जीवन निष्काम कर्मयोगी की भांति जीना है जिस में जैसे प्रभु रखे उस मे आनंद ले और कर्तव्य भाव से अपने कर्म को समय और स्थान के हिसाब से करे। कृष्ण की भांति आप का हर कार्य निर्लिप्त भाव का होना एवम निस्वार्थ होना चाहिए। आप को संसार को भोगना है उस का त्याग नही करना।

गीता का द्वितीय अध्याय अर्जुन के मन मे उत्कंठा जाग्रत करता है कि भगवान कर्म को करने को कह रहे है किंतु कर्म क्या है। कर्म में भी निष्काम हो कर कर्म करना या ज्ञान योग में कर्म का त्याग करना दोनो में उचित यही होगा कि कर्म करने से कर्म का त्याग ही कर दे। क्योंकि दोनों दृष्टि में आसक्ति को त्यागना ही पड़ता है। अतः तत्वदर्शी होने के लिये शंकाओ का निर्मूलन होना भी आवश्यक है। अर्जुन श्रेष्ठ शिष्य एवम श्रोता है, इसलिये अपनी शंकाओ का निवारण भी चाहता है, यही तृतीय अध्याय के प्रारंभ का सूत्र भी है।

आशा है अब हम तृतीय अध्याय को और आनंद के साथ पढ़ेगे। आप का उत्साह कभी कभी प्रत्युत्तर के तौर पर मुझे मिलता है जिस के लिए मैं आभारी भी हूँ। आप की उठाई शंकाओं को जानने के बात मै मेरी बुद्धि अनुसार से उत्तर देने की चेष्ठा भी करता हूँ और मुझे सोचने का नया दृष्टिकोण भी मिलता है।

।। हरि ॐ तत सत।। सारांश 2 ।।

अंतिम सत्य!

ऐसी उपनिषद में प्यारी कथा है। याज्ञवल्क्य मुकाबला नहीं था पंडितों में। तर्क में उसकी प्रतिष्ठा थी। ऐसी उसकी प्रतिष्ठा थी कि कहानी है कि जनक ने एक बार एक बहुत बड़ा सम्मेलन किया और एक हजार गौएं, उनके सींग सोने से मढ़वा कर और उनके ऊपर बहुमूल्य वस्त्र डाल कर महल के द्वार पर खड़ी कर दीं और कहा: जो पंडित विवाद जीतेगा, वह इन हजार गौओं को अपने साथ ले जाने का हकदार होगा। यह पुरस्कार है।

बड़े पंडित इकट्ठे हुए। दोपहर हो गई। बड़ा विवाद चला। कुछ तय भी नहीं हो पा रहा था कि कौन जीता, कौन हारा। और तब दोपहर को याज्ञवल्क्य आया अपने शिष्यों के साथ। दरवाजे पर उसने देखा–गौएं खड़ी-खड़ी सुबह से थक गई हैं, धूप में उनका पसीना बह रहा है। उसने अपने शिष्यों को कहा, ऐसा करो, तुम गौओं को खदेड़ कर घर ले जाओ, मैं विवाद निपटा कर आता हूं।

जनक की भी हिम्मत नहीं पड़ी यह कहने की कि यह क्या हिसाब हुआ, पहले विवाद तो जीतो! किसी एकाध पंडित ने कहा कि यह तो नियम के विपरीत है–पुरस्कार पहले ही!

लेकिन याज्ञवल्क्य ने कहा, मुझे भरोसा है। तुम फिक्र न करो। विवाद तो मैं जीत ही लूंगा, विवादों में क्या रखा है! लेकिन गौएं थक गई हैं, इन पर भी कुछ ध्यान करना जरूरी है।

शिष्यों से कहा, तुम फिक्र ही मत करो, बाकी मैं निपटा लूंगा।

शिष्य गौएं खदेड़ कर घर ले गए। याज्ञवल्क्य ने विवाद बाद में जीता। पुरस्कार पहले ले लिया। बड़ी प्रतिष्ठा का व्यक्ति था। बहुत धन उसके पास था। बड़े सम्राट उसके शिष्य थे। और जब वह जाने लगा, उसकी दो पत्नियां थीं, उसने उन दोनों पत्नियों को बुला कर कहा कि आधा-आधा धन तुम्हें बांट देता हूं। बहुत है, सात पीढ़ियों तक भी चुकेगा नहीं। इसलिए तुम निश्चिंत रहो, तुम्हें कोई अड़चन न आएगी। और मैं अब जंगल जा रहा हूं। अब मेरे अंतिम दिन आ गए। अब ये अंतिम दिन मैं परमात्मा के साथ समग्रता से लीन हो जाना चाहता हूं। अब मैं कोई और दूसरा प्रपंच नहीं चाहता। एक क्षण भी मैं किसी और बात में नहीं लगाना चाहता।

एक पत्नी तो बड़ी प्रसन्न हुई, क्योंकि इतना धन था याज्ञवल्क्य के पास, उसमें से आधा मुझे मिल रहा है, अब तो मजे ही मजे करूंगी। लेकिन दूसरी पत्नी ने कहा कि इसके पहले कि आप जाएं, एक प्रश्न का उत्तर दे दें। इस धन से आपको शांति मिली? इस धन से आपको आनंद मिला? इस धन से आपको परमात्मा मिला? अगर मिल गया तो फिर कहां जाते हो? और अगर नहीं मिला तो यह कचरा मुझे क्यों पकड़ाते हो? फिर मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूं।

और याज्ञवल्क्य जीवन में पहली बार निरुत्तर खड़ा रहा। अब इस स्त्री को क्या कहे! कहे कि नहीं मिला, तो फिर बांटने की इतनी अकड़ क्या! बड़े गौरव से बांट रहा था कि देखो इतने हीरे-जवाहरात, इतना सोना, इतने रुपये, इतनी जमीन, इतना विस्तार! बड़े गौरव से बांट रहा था। उसमें थोड़ा अहंकार तो रहा ही होगा उस क्षण में कि देखो कितना दे जा रहा हूं! किस पति ने कभी अपनी पत्नियों को इतना दिया है! लेकिन दूसरी पत्नी ने उसके सारे अहंकार पर पानी फेर दिया। उसने कहा, अगर तुम्हें इससे कुछ भी नहीं मिला तो यह कचरा हमें क्यों पकड़ाते हो? यह उलझन हमारे ऊपर क्यों डाले जाते हो? अगर तुम इससे परेशान होकर जंगल जा रहे हो तो आज नहीं कल हमें भी जाना पड़ेगा। तो कल क्यों, आज ही क्यों नहीं? मैं चलती हूं तुम्हारे साथ।

तो जो धन बांट रहा है वह क्या खाक बांट रहा है! उसके पास कुछ और मूल्यवान नहीं है। और जो ज्ञान बांट रहा है, पाठशालाएं खोल रहा है, धर्मशास्त्र समझा रहा है, अगर उसने स्वयं ध्यान और समाधि में डुबकी नहीं मारी है, तो कचरा बांट रहा है। उसका कोई मूल्य नहीं है।

बांटने योग्य तो बात एक ही है : परमात्मा।

मगर उसे तुम तभी बांट सकते हो..

जब पाओ,

जब जानो,

जब जीओ।

(कहे होत अधीर)

।। हरि ॐ तत् सत् ।।